Year-69, Volume-1 Jan-March.2016
RNI No. 10591/62 ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
मो. 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

संस्थापक

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for for Jainology & Prakrit Languages)

Founder

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

प्रा. पं. निहालचंद जैन-बीना
(निदेशक वीर सेवा मंदिर-नई दिल्ली)
प्रो. डॉ. राजाराम जैन-नोएडा
प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ
प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन,जयपुर
प्रो. डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत
श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली
प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Editorial Board

Pt. Nihal Chand Jain- Bina
Director-Vir Sewa Mandir-New Delhi
Prof. Dr. Raja Ram Jain- Noida
Prof. Dr.Vrashabh Prasad Jain,Lucknow
Pracharya Shital Chand Jain, Jaipur
Prof. Dr. Shreyans Kr. Jain, Baraut
Sh. Roop Chand Kataria, New Delhi
Prof. M.L. Jain, New Delhi

पत्रिका शुल्क/ Journal Subscription

एक अंक-रुपये 25/- वार्षिक - रु. 100/-

Each issue - Rs. 25/- Yearly - Rs. 100/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड़, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

All correspondence for the journal & Editorial
Vir Sewa Mandir
(A Research Institution for Jainology)
21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

Our Banker : Bank of India A/c No. 603210100007664, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi (IFSC- BKID0006032)

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

आध्यात्मिक - भजन

श्रीजिनवर पद ध्यावैं !

श्रीजिनवर पद ध्यावैं जो नर, श्री जिनवर पद ध्यावैं।।
तिनकी कर्मकालिमा विन्शौ, पर न ब्रह्म हो जावै।
उपल अग्नि संजोग पाय जिमि, कुंचन विमल कहावैं।।
श्रीजिनवर पद ध्यावै जो नर ।
चन्द्रोजल जस तिनको जग में, पण्डित जन नित गावैं।
जैसे कमल सुगन्ध दशोंदिश, पवन सहज फैलावैं।।
श्रीजिनवर पद ध्यावै जो नर ।
तिनहिं मिलन को मुक्ति सुन्दरी, चित अभिलाषा ल्यावैं।
कृषि में तृण जिम सहज उपजै, त्यों स्वर्गादिक पावै।।
श्रीजिनवर पद ध्यावै जो नर ।
जनमजरामृत दावानल ये, भाव सलिलतैं बुझावैं।
'भागचन्द' कहाँ ताई वरनै, तिनहिं इन्द्र शिर नावैं।।
श्रीजिनवर पद ध्यावै जो नर ।

कविवर 'भागचन्द'

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1. स्थायी स्तम्भ- युगवीर-गुणाख्यान	प्रा. निहालचंद जैन	5-10
2. संपादकीय	डॉ. जयकुमार जैन,	11-16
3. आहार शुद्धि एवं पथ्यापथ्य....	आ. महेशानंद जी	17-28
4. समयसार में जीवन दृष्टि	श्री दिलीप धींग	29-40
5. प्राकृत एवं अपभ्रंश-अध्ययन	डॉ.वंदना मेहता	41-57
6. तीर्थङ्कर दिव्यध्वनि का वैशिष्ट्य	प्रो. अशोककुमार जैन	58-65
7. गोम्मटसार में कषाय मुक्ति प्रक्रिया का विवेचन	प्रो. वीरचन्द जैन	66-74
8. आचार्य योगीन्द्रसागरकृत कालजयी कृति 'विभज्यवाद'	डॉ. आनंदकुमार जैन	75-83
9. Scientific approach to Human Body...	Dr. Pulak Goel	84-90
10. बोधकथा ''अहंकार की भूख'	श्रीमती महिमा जैन	91-92
11. ग्रंथ समीक्षा	पं. निहालचंद जैन	93-94
12. श्रद्धांजलि	श्रीमती हेमबाला जैन	95
13. ग्रंथ सूची	वीर सेवा मंदिर प्रकाशन	96

स्थायी स्तम्भ- 'युगवीर-गुणाख्यान'-३

भगवान महावीर का सर्वोदयतीर्थ

दूसरी शताब्दी के महान् आचार्य स्वामी समन्तभद्र ने अपने 'युक्त्यनुशासन' ग्रन्थ में समस्त तीर्थ प्रवर्तकों (आप्त) की परीक्षा करके भगवान महावीर को सत्यार्थ आप्त के रूप में निश्चित करके उनकी स्तुति में महावीर के अनेकान्तात्मक शासन को **'सर्वोदय तीर्थ'** बतलाया। कारिका निम्नांकित है :-

सर्वान्तवत्तद्गुण-मुख्य कल्पं सर्वान्त-शून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापामन्तकरं निरन्तं, सर्वोदय तीर्थमिदं तवैव॥६१॥

इस प्रकार आ. समन्तभद्र ने 'सर्वोदय' शब्द की सर्वप्रथम उद्घोषणा कर भ.महावीर के शासन को प्राणियों के अभ्युदय का कारण तथा आत्मा के पूर्ण अभ्युदय (विकास) का साधक कहा है।

अनेकान्त के नये वर्ष के प्रथमांक 69/1 में 'महावीर के सर्वोदयतीर्थ के सम्बन्ध मं पण्डित आचार्य जुगलकिशोर 'मुख्तार' का सारगर्भित चिन्तन, संक्षिप्तीकरण के साथ संपादित करके **'युगवीरगुणाख्यान'** की इस तीसरी किस्त में दे रहे हैं। अगले माह अप्रैल 2016 में महावीर जयंती है अस्तु अपने युग के क्रान्ति-दृष्टा पं. मुख्तार साहब के परम्परा की लीक से हटके ये विचार-प्रासंगिक एवं भ. महावीर की सार्वभौमिकता के पक्षधर हैं। ''जैनधर्म विश्वधर्म है'' का नारा तभी सार्थकता के पायदान पर खड़ा हो सकता है।

प्रस्तुतकर्ता- पं. निहालचंद जैन, निदेशक वीरसेवामंदिर

'सर्वोदयतीर्थ' यह पद सर्व, उदय और तीर्थ इन तीन शब्दों से मिलकर बना है। 'सर्व' शब्द सब तथा पूर्ण का वाचक है; 'उदय' ऊँचे-ऊपर उठने, उत्कर्ष प्राप्त करने, प्रकट होने अथवा विकास को कहते हैं; और 'तीर्थ' उसका नाम है जिसके निमित्त से संसार महासागर को तिरा जाय। वह तीर्थ वास्तव में धर्मतीर्थ है जिसका सम्बन्ध जीवात्मा से है,

उसकी प्रवृत्ति में निमित्तभूत जो आगम अथवा आप्तवाक्य है वही यहाँ 'तीर्थ' शब्द के द्वारा परिग्रहीत हैं और इसलिये इन तीनों शब्दों के सामायिक योग से बने हुए 'सर्वोदयतीर्थ' पद का फलितार्थ यह है कि- **जो आगमवाक्य जीवात्मा के पूर्ण उदय-उत्कर्ष अथवा विकास में तथा सब जीवों के उदयउत्कर्ष अथवा विकास में सहायक है वह 'सर्वोदयतीर्थ' है।** आत्मा का उदय-उत्कर्ष अथवा उसके ज्ञान-दर्शन-सुखादिक स्वाभाविक गुणों का ही उदय उत्कर्ष अथवा विकास है और गुणों का वह उदय उत्कर्ष अथवा विकास, दोषों के अस्त-अपकर्ष अथवा विनाश के बिना नहीं होता। अतः सर्वोदयतीर्थ जहाँ ज्ञानादि गुणों के विकास में सहायक है वहाँ अज्ञानादि दोषों तथा उनके कारण ज्ञानावरणादिक कर्मों के विनाश में भी सहायक है- वह उन सब रुकावटों को दूर करने की व्यवस्था करता है जो किसी के विकास में बाधा डालती है। तीर्थ को सर्वोदय का निमित्त कारण बतलाया गया है। तब उसका उपादान कारण कौन है? उपादान कारण वे सम्यग्दर्शनादि आत्म गुण ही है जो तीर्थ का निमित्त पाकर मिथ्यादर्शनादि के दूर होने पर स्वयं विकास को प्राप्त होते हैं। इस दृष्टि से **'सर्वोदयतीर्थ'** का एक दूसरा अर्थ भी किया जाता है और वह यह कि **'समस्त अभ्युदय कारणों का- सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्चारित्र रूप त्रिरत्न-धर्मों का- जो हेतु है- उनकी उत्पत्ति अभिवृद्धि आदि में (सहायक) निमित्त कारण है- वह 'सर्वोदयतीर्थ' है।** इस दृष्टि से ही, कारण में कार्य का उपचार करके इस तीर्थ को धर्मतीर्थ कहा जाता है और इसी दृष्टि से वीरजिनेन्द्र को धर्मतीर्थ का कर्ता (प्रवर्तक) लिखा है; जैसा कि 9वीं शताब्दी की बनी हुई 'जयधवला' नाम की सिद्धान्त टीका में उदधृत निम्न प्राचीन गाथा से प्रकट है-

निस्संसयकरो वीरो महावीरो जिणुत्तमो।
राग-दोस-भयादीदो धम्मतित्थस्स कारओ।।

इस गाथा में वीर-जिन को जो 'निःसंशयकर' - संसारी प्राणियों के सन्देहों को दूर कर उन्हें सन्देह रहित करने वाला- 'महावीर'-ज्ञान-वचनादि की सातिशय-शक्ति से संपन्न- 'जिनोत्तम'-जितेन्द्रियों तथा कर्मजेताओं में श्रेष्ठ-और 'रागद्वेष-भय से-रहित' बतलाया है वह उनके धर्मतीर्थ-प्रवर्तक

होने के उपयुक्त ही है। बिना ऐसे गुणों की सम्पत्ति से युक्त हुए कोई सच्चे धर्मतीर्थ का प्रवर्तक हो ही नहीं सकता। यही वजह है कि जो ज्ञानादि शक्तियों से हीन होकर राग-द्वेषादि से अभिभूत एवं आकुलित रहे हैं उनके द्वारा सर्वथा एकान्तशासनों-मिथ्यादर्शनों का ही प्रणयन हुआ है, जो जगत में अनेक भूल-भ्रांतियों एवं दृष्टिविकारों को जन्म देकर दु:खों के जाल को विस्तृत करने में प्रधान कारण बने हैं।

जो सब गुण-धर्मों को पहचानता है- वह वस्तु को पूर्ण तथा यथार्थ रूप में देखता है, उसकी दृष्टि अनेकान्तदृष्टि है और वह अनेकान्तदृष्टि ही सती अथवा सम्यग्दृष्टि कहलाती है और यही संसार में वैर-विरोध- को मिटाकर सुख-शांति की स्थापना करने में समर्थ है। इसी से श्रीअमृतचन्द्रचार्य ने पुरुषार्थसिद्धयुपाय में अनेकान्त को विरोध का मंथन करने वाला कहकर उसे नमस्कार किया है और श्रीसिद्धसेनाचार्य ने 'सम्मइसुत्तं' में यह बतलाते हुए कि 'अनेकान्त के बिना लोक का कोई भी व्यवहार सर्वथा बन नहीं सकता, उसे लोक का अद्वितीय गुरु कहकर नमस्कार किया है।

महावीर की ओर से इस धर्मतीर्थ का द्वार सबके लिये खुला हुआ है, जिसकी सूचक अगणित कथाएँ जैनशास्त्रों में पाई जाती है और जिनसे यह स्पष्ट जाना जाता है कि पतित से पतित प्राणियों ने भी इस धर्म का आश्रय लेकर अपना उद्धार और कल्याण किया है। कुछ जैन-ग्रन्थों के प्रमाण स्वरूप-कथन वाक्य निम्नांकित है:-

1. मन, वचन तथा काय से किये जाने वाले धर्म का अनुष्ठान करने के लिये सभी जीव अधिकारी हैं। (यशस्तितिलक)

2. 'जिनेन्द्र का यह धर्म प्राय: ऊँच और नीच दोनों ही प्रकार के मनुष्यों के आश्रित है। एक स्तम्भ के आधार पर जैसे मंदिर-मकान नहीं ठहरता उसी प्रकार ऊँच-नीच में किसी एक ही प्रकार के मनुष्य समूह के आधार पर धर्म ठहरा हुआ नहीं है- वास्तव में धर्म धार्मिकों के आश्रित होता है, भले ही उनमें ज्ञान, धन, मान-प्रतिष्ठा, कुल-जाति, आज्ञा-ऐश्वर्य शरीर, बल, उत्पत्ति स्थान और आचार-विचारादि की दृष्टि से कोई ऊँचा और कोई नीचा हो।' (यशस्तिलक)

3. मद्य-मांसादि के त्यागरूप आचार की निर्दोषता, गृहपात्रादिकी पवित्रता

और नित्यस्नानादि के द्वारा शरीर की शुद्धि, ये तीनों प्रवृत्तियाँ (विधियाँ) शूद्रों को भी देव, द्विजाति और तपस्वियों (मुनियों) के परिकर्मों के योग्य बनाती है।' (नीतिवाक्यामृत)

(4) 'आसन और बर्तन आदि उपकरण जिसके शुद्ध हों, मद्य-मांसादि के त्याग से जिसका आचरण पवित्र हो और नित्यस्नानादि के द्वारा जिसका शरीर शुद्ध रहता हो, ऐसा शूद्र भी ब्राह्मणादि वर्णों के समान धर्म का पालन करने योग्य है; क्योंकि जाति से हीन आत्मा भी कालादिक लब्धि को पाकर धर्म का अधिकारी होता है।' (सागारधर्मामृत)

(5) 'इस (श्रावक) धर्म का जो कोई भी आचरण-पालन करता है, चाहे वह ब्राह्मण हो या शूद्र, वह श्रावक है। श्रावक के सिर पर क्या कोई मणि होता है? जिससे उसकी पहचान की जा सके।' (सावयधम्मदोहा)

नीच-से-नीच कहा जाने वाला मनुष्य भी जो इस धर्मप्रवर्तक की शरण में आकर नतमस्तक हो जाता है-प्रसन्नतापूर्वक उसके द्वारा प्रवर्तित धर्म को धारण करता है-वही इसी लोक में अति उच्च बन जाता है। इस धर्म की दृष्टि में कोई जाति गर्हित नहीं-तिरस्कार किये जाने के योग्य नहीं-सर्वत्र गुणों की पूज्यता है, वे ही कल्याणकारी हैं, और इसी से इस धर्म में एक चाण्डाल को भी व्रत से युक्त होने पर 'ब्राह्मण' तथा सम्यग्दर्शन से युक्त होने पर 'देव' (आराध्य) माना गया है।

परन्तु यह समाज का और देश का दुर्भाग्य है जो हमने जिनके हाथों दैवयोग से यह तीर्थ पड़ा है- इस महान् तीर्थ की महिमा तथा उपयोगिता को भुला दिया है, इसे अपना घरेलू, क्षुद्र या असर्वोदयतीर्थ-सा रूप देकर इसके चारों तरफ ऊँची-ऊँची दीवारें खड़ी कर दी हैं और इसके फाटक में ताला डाल दिया है।

अब खास जरूरत है कि इस तीर्थ का उद्धार किया जाय, इसकी सब रुकावटों को दूर किया जाए, इस पर खुले प्रकाश तथा खुली हवा की व्यवस्था की जाय, इसका फाटक सबों के लिये हर वक्त खुला रहे, सभी के लिये इस तीर्थ तक पहुंचने का मार्ग सुगम किया जाय, इसके तटों तथा घाटों की मरम्मत कराई जाय, बन्द रहने तथा अर्से तक यथेष्ट व्यवहार में न आने के कारण तीर्थजल पर जो कुछ काई जम गई है अथवा उसमें कहीं-कहीं शैवाल उत्पन्न हो गया है उसे निकालकर दूर किया जाय और

सर्वसाधारण को इस तीर्थ के माहात्म्य का पूरा-पूरा परिचय कराया जाय।

स्वामी समन्तभद्र ने अपने समय में, जिसे आज 1800 वर्ष के लगभग हो गये हैं, ऐसा ही किया है; और इसी से कन्नड़ी भाषा के एक प्राचीन शिलालेख में यह उल्लेख मिलता है कि 'स्वामी समन्तभद्र भगवान् महावीर के तीर्थ की हजारगुनी वृद्धि करते हुए उदय को प्राप्त हुए'- अर्थात् उन्होंने उसके प्रभाव को देश-देशांतरों में व्याप्त कर दिया था। आज भी वैसा ही होना चाहिये। यही भगवान् महावीर की सच्ची उपासना, सच्ची भक्ति और उनकी सच्ची जयन्ती मनाना होगा।

भगवान महावीर के तीर्थ-शासन में सर्वोदय के जिन मूल-सूत्रों का प्रतिपादन हुआ है कुछ मूल-सूत्र इस प्रकार हैं :-

1. प्रत्येक जीव स्वभाव से अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि अनन्त शक्तियों का आधार अथवा पिंड है।

2. कर्ममल के कारण जीवों का असली स्वभाव आच्छादित है, उनकी वे शक्तियाँ अविकसित हैं और वे परतंत्र हुए नाना प्रकार की पर्यायें धारण करते हुए नजर आते हैं।

3. जीव की इस कर्ममल से मलिनावस्था को 'विभाव-परिणति' कहते हैं।

4. जब तक किसी जीव की यह विभावपरिणति बनी रहती है तब तक वह 'संसारी' कहलाता है और तभी तक उसे संसार में कर्मानुसार नाना प्रकार के रूप धारण करके परिभ्रमण करना तथा दुःख उठाना होता है।

5. जो जीव अधिकाधिक विकसित हैं वे स्वरूप से ही उनके पूज्य एवं आराध्य हैं जो अविकसित या अल्पविकसित हैं; क्योंकि आत्म-गुणों का विकास सबके लिये इष्ट है।

6. संसारी जीवों का हित इसी में है कि अपनी राग-द्वेष-काम-क्रोधादि रूप विभावपरिणति को छोड़कर स्वभाव में स्थिर होने-रूप 'सिद्धि' को प्राप्त करने का यत्न करें।

7. सिद्धि 'स्वात्मोपलब्धि' को कहते है। उसकी प्राप्ति के लिये आत्मगुणों का परिचय, गुणों में वर्द्धमान अनुराग और विकास-मार्ग की दृढ़ श्रद्धा चाहिये।

8. बिना भाव के पूजा-दान-जपादिक उसी प्रकार व्यर्थ है जिस प्रकार कि बकरी के गले में लटकते हुए स्तन।

9. जीवात्मा के विकास में सबसे बड़ा बाधक कारण मोह कर्म है जो अनन्तदोषों का घर है। मोह के मुख्य दो भेद हैं- एक दर्शनमोह, जिसे मिथ्यात्व भी कहते हैं;दूसरा चारित्रमोह, जो सदाचार में प्रवृत्ति नहीं होने देता।
10. प्रत्येक वस्तु में अनेकानेक धर्म होते हैं, जो पारस्परिक अपेक्षा को लिये हुए अविरोध-रूप से रहते हैं और इसी से वस्तु का वस्तुत्व बना रहता है।
11. बाह्य और आभ्यन्तर अथवा उपादान और निमित्त दोनों कारणों के मिलने से ही कार्य की निष्पत्ति होती है।
12. मन-वचन-काय-संबंधी जिस क्रिया की प्रवृत्ति या निवृत्ति से आत्म-विकास सधता है उसके लिये तदनुरूप जो भी पुरुषार्थ किया जाता है उसे 'कर्मयोग' कहते हैं।
13. सद्बोध-पूर्वक जो आचरण है वह सच्चारित्र है अथवा ज्ञानयोगी के कर्माऽऽदान की निमित्तभूत जो क्रियाएँ उनका त्याग 'सम्यक्चारित्र' है और उसका लक्ष्य राग-द्वेष की निवृत्ति है।
14. अपने राग-द्वेष-काम-क्रोधादि-दोषों को शान्त करने से ही आत्मा में शान्ति की व्यवस्था और प्रतिष्ठा होती है।
15. विचार दोष को मिटाने वाला 'अनेकान्त' और आचारदोष को दूर करने वाली 'अहिंसा' है।
16. अनेकान्त और अहिंसा का आश्रय लेने से ही विश्व में शान्ति हो सकती है। अनेकान्त-शासन ही अशेष धर्मों का आश्रयभूत होने में 'सर्वोदयतीर्थ' है।
17. आत्मपरिणाम के घातक होने से झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह ये सब हिंसा के ही रूप हैं।
18. धन-धान्यादि सम्पत्ति के रूप में जो भी सांसारिक विभूति है वह सब 'बाह्य-परिग्रह' है।
19. 'आभ्यन्तर-परिग्रह' दर्शनमोह, राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, शोक, भय और जुगुप्सा के रूप में है।
20. समाधि की सिद्धि के लिये बाह्य और आभ्यन्तर दोनों प्रकार के परिग्रहों का त्याग आवश्यक है।

******

संपादकीय

जैनदर्शन में अनेकान्तवाद

-डॉ. जयकुमार जैन, संपादक

भारतीय दर्शन केवल प्रेयोमार्ग की ही नहीं, श्रेयोमार्ग की संसिद्धि के भी साधन हैं। इनका उदय आध्यात्मिक जिज्ञासा को शान्त करने के लिए हुआ है, फलतः वे सन्देह एवं अविश्वास को दूर करके आध्यात्मिक सत्य की सिद्धि करते हैं। यद्यपि भारतीय दर्शनों को एकान्त रूप से ग्रहण कर लेने के कारण आपाततः उनमें मतभिन्नता दृष्टिगोचर होती है, तथापि अनेकान्त दृष्टि से विचार करें तो साध्य के विषय में उनमें मतैक्य दृष्टिगत होता है। श्री त्रैविद्य सोमदेवाचार्यकृत समाधिसार में कहा गया है-

'गवामनेकवर्णानामेकरूपं यथा पयः।
षण्णां वै दर्शनानाञ्च मोक्षमार्गस्तथा पुनः॥' पद्य ८३

अर्थात् जिस प्रकार अनेक रंगों वाली गायों का दूध एक ही रंग का होता है, उसी प्रकार छहों दर्शनों का मोक्षमार्ग एक ही प्रकार का होता है।

जैन परम्परा में स्तुतिविद्या के आद्य प्रणेता सुप्रसिद्ध तार्किक समन्तभद्राचार्य ने युक्त्यनुशासन में भगवान् महावीर के तीर्थ को इसी कारण सर्वोदय तीर्थ की संज्ञा दी है, क्योंकि मुख्यता एवं गौणता रूप कथन से वस्तु का अनेक धर्मात्मक स्वरूप सिद्ध हो जाता है। वे कहते हैं-

'सर्वान्तवत्तद्गुणमुख्यकल्पं सर्वान्तशून्यं च मिथोऽनपेक्षम्।
सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिदं तवैव॥' पद्य ६१

अर्थात् आपका यह तीर्थ सर्व अन्त (धर्म) वाला, गौणता एवं मुख्यता का कथन करने वाला है। यदि यह परस्पर निरपेक्ष हो तो सर्वधर्मों से शून्य हो जायेगा। अतः यह समस्त आपदाओं का नाश करने वाला और स्वयं अन्तरहित (शाश्वत) सर्वोदय सबका अभ्युदय करने वाला तीर्थ है।

स्याद्वादमञ्जरी के अनुसार वस्तु में अनेक धर्मों की स्वीकृति का नाम अनेकान्तवाद तथा इस सिद्धान्त को कथन करने की पद्धति का नाम स्याद्वाद है। स्याद्वाद अनेकान्त दर्शन को प्रकट करने वाली भाषा का नाम है।

किसी भी वस्तु को यथार्थ रूप में समझने के लिए अनेकान्त को समझना नितान्त आवश्यक है। पक्ष के हठाग्रह के कारण कलह बढ़ जाता है, जबकि अनेकान्त का आश्रय लेने के कारण कलह से बचाव होता है। सूत्रकृतांगासूत्र में स्पष्टतया कहा गया है-

'सयं सयं पसंसंता गरहंता परं वयं।
जे उ तत्थ विउस्संति सांगरे ते विउज्जिया।।'
सूयगडंगो १/५०

अर्थात् अपने-अपने मत की प्रशंसा और पर मत की निन्दा करते हुए जो उस विषय में गर्व करते हैं, वे संसार में परिभ्रमण करते रहते हैं। महाभारत के वन पर्व में यक्ष-युधिष्ठिर संवाद में कहा गया है-

'तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः।।'

अर्थात् तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है, शास्त्र भी तरह-तरह के हैं। मुनि एक ही नहीं है, जिसका वचन प्रमाण हो। धर्म का रहस्य गुहा में (हृदयस्थल में) छुपा हुआ है। अत: महापुरुष जिस रास्ते से चला है, वही मार्ग है।

अनेकान्त में इसी भाव को जैनाचार्यों द्वारा प्रतिष्ठित किया गया है। इसके आश्रय से दर्शन के क्षेत्र में विविध विरोधों को दूर किया जा सकता है तथा पारस्परिक समन्वय स्थापित किया जा सकता है।

आचार्य सिद्धसेन ने सन्मतिसूत्र में स्पष्टतया उदघोषित किया है-

'जेण विणा लोगस्स वि ववहारो सव्वहा ण णिव्वडइ।
तस्स भुवणेक्कगुरुणो णमो अणेगंतवायस्स।।' ३/६९

अर्थात् जिसके बिना लोक का व्यवहार भी सर्वथा नहीं चल

सकता है, उस भुवन के एकमात्र गुरु अनेकान्तवाद को नमस्कार हो।

तत्त्वार्थवार्तिक में आचार्य अकलंकदेव का कहना है कि यदि द्रव्यार्थिक नय का एकान्ततः आग्रह किया जाता है तो अतत् को तत् कहने से वह उन्मत्तवाक्यवत् अग्राह्य है तथा यदि पर्यायार्थिक नय का एकान्ततः आश्रय लिया जाता है तो तत् को अतत् कहने से वह भी उन्मत्तवाक्यवत् अनादरणीय होगा। अतः स्याद्वाद की अपेक्षा से वस्तु के यथार्थ स्वरूप का निर्णय कराने वाला सद्वाद ही विद्वान् के वाक्य के समान आदरणीय होता है। वस्तु को सर्वथा अवक्तव्य कहना भी असद्वाद है। क्योंकि अवक्तव्य दशा में अवक्तव्य भी कहना संभव नहीं है। मौनी यह कैसे कह सकता है कि मैं मौनी हूँ। अतः स्यात् (एक दृष्टि से) अवक्तव्य कहना ही वास्तविक सद् वाद है।

(तत्त्वार्थवार्तिक प्रथम अध्याय, पृ. 95 का सार अंश)

एकान्तवादियों के मत में तो वस्तु को सर्वथा नित्य या अनित्य एवं सर्वथा शुद्ध या अशुद्ध मानने से तो न तो कर्मबंध बन सकता है और न मोक्ष बन सकता है। श्री समन्तभद्राचार्य स्वयंभू स्तोत्र में लिखते हैं-

'बन्धश्च मोक्षश्च तयोश्च हेतू
बद्धश्च मुक्तश्च फलं च मुक्तेः।
स्याद्वादिनो नाथ तवैव युक्तं
नैकान्तदृष्टेस्त्वमतोस्ति शास्ता।।' पद्य १४

अर्थात् हे नाथ ! बन्ध और मोक्ष तथा उन दोनों के कारणभूत बद्ध और मुक्त आत्मा का तथा मुक्ति का फल- यह सब आप स्याद्वादी के ही बन सकता है। एकान्तवादियों के मत में इसकी व्यवस्था ही संभव नहीं है। अतः आप ही यथार्थ उपदेष्टा (शास्ता) हैं।

उपाध्याय यशोविजय ने लिखा है-

'वस्तुधर्मो ह्येनेकान्तः प्रमाणनयस्नधितः।
अज्ञात्वा इषणं तस्य निजबुद्धेर्विडम्बनम्।।' १/३

अर्थात् यस्तु-धर्म अनेकान्तात्मक है, जो प्रमाण और नय से सिद्ध है। जो उसको नहीं जानकर दूषण देते हैं, वह उनकी अपनी बुद्धि की विडम्बना है।

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में आचार्य विद्यानन्द अनेकान्त को दो प्रकार का मानते हैं। वे कहते हैं-

'गुणवद्द्रव्यमित्युक्तं सहानेकान्तसिद्धये।
तथा पर्यायवद्द्रव्यं क्रमानेकान्तसिद्धये।।' 5.39.2

अर्थात् सहानेकान्त की सिद्धि के लिए द्रव्य को गुणवत् और क्रमानेकान्त की सिद्धि के लिए द्रव्य को पर्यायवत् कहा गया है। अभिप्राय यह है कि एक साथ रहने वाले गुणों के समुदाय का नाम सहानेकान्त है और क्रम से होने वाली पर्यायों के समुदाय का नाम क्रमानेकान्त है। ये दो भेद सर्वप्रथम आचार्य विद्यानंद ने ही किये हैं। पहले दो भेदों के रूप में सम्यक् अनेकान्त और मिथ्या अनेकांत का कथन मिलता है। सापेक्ष एकान्तों का समुच्चय सम्यक् अनेकान्त है और निरपेक्ष विविध धर्मों का समुच्चय मिथ्या अनेकान्त है। अनेकान्त के समान एकान्त भी दो प्रकार का कहा गया है- सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त। सापेक्ष एकान्त सम्यक् एकान्त है तथा निरपेक्ष एकान्त मिथ्या एकान्त है। सम्यक् एकान्त नय है और मिथ्या एकान्त नयाभास है।

प्रत्येक द्रव्य सदसदात्मक, एकानेकात्मक एवं नित्यानियात्मक है। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल एवं स्वभाव की अपेक्षा द्रव्य सत् रूप ही है किन्तु परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल एवं परभाव की अपेक्षा से द्रव्य असत् रूप ही है। आचार्य समन्तभद्र आप्तमीमांसा में कहते हैं-

'सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्।
असदेव विपर्यासान्न चेन्न व्यवतिष्ठते।।' कारिका १५

पञ्चास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द ने कहा है-

सत्ता सवपयत्था सविस्सरूवा अणंतपज्जाया।
'भंगुप्पाद धुवत्ता सप्पडिवक्खा हवदि एक्का।।' गाथा 8

अर्थात् सत्ता सर्व पदार्थों में स्थित है, अखिल विश्वरूप है एवं अनन्तपर्याय रूप है। स्थिति, भंग एवं उत्पाद स्वरूप है तथा अपने प्रतिपक्ष असत्ता से सरहित एक है।

एकानेकता को स्पष्ट करते हए स्याद्वादमंजरी में कहा गया है-

'अनेकमेकात्मकमेव वाच्यं

द्वयात्मकं वाचकमप्यवश्यम्।
अतोऽन्यथा वाचकवाच्यक्लृ-
प्तावकानां प्रतिभाप्रमादः॥' पद्य १४

अर्थात् समस्त पदार्थ अनेक होकर भी एक हैं और एक होकर भी अनेक हैं। इसी प्रकार उन पदार्थों को कहने वाले शब्द भी एक होकर भी अनेक हैं और अनेक होकर भी एक हैं। इस तथ्य को हरिभद्रसूरि ने शास्त्रवार्तासमुच्चय में बाल्यावस्था, युवावस्था एवं वृद्धावस्था के दृष्टान्त द्वारा समझाया है-

'लज्जते बालचरितैर्बाल एव न एव चापि तत्।
युवा न लज्जते चान्यः तैरायत्यैव चेष्टते॥
युवैव न च वृद्धोऽपि नान्यार्थचेष्टनं च तत्।
अन्वयादिमयं वस्तु तदभावोऽन्यथा भवेत्॥' पद्य ५०५,५०६

वस्तु की नित्यानित्यात्मकता की विवेचना करते हुए समन्तभद्राचार्य ने लिखा है-

'भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः।
न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्षः समन्तदोषं मतमन्यदीयम्॥'

- युक्त्यनुशासन पद्य 8

सत्तात्मक पदार्थों को नित्य मानने पर विकार की हानि होती है, तब कर्ता, कर्म आदि कारकों का व्यापार नहीं बन सकेगा। कारक के अभाव में युक्ति घटित नहीं होती है। युक्ति के अभाव में बन्ध और भोग दोनों नहीं बन सकते हैं और न उनका मोक्ष हो सकता है।

वस्तु की उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकता को आप्तमीमांसा में आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने इस प्रकार स्पष्ट किया है-

'घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोकप्रमोदमाध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्॥' पद्य ६९
'पयोव्रतो न दध्यत्ति न पयोऽत्ति दधिव्रतः।
अगोरसव्रतो नोभे तस्मात्तत्त्वं त्रयात्मकम्॥' पद्य ६९

अनेकान्त के प्रयोग का सबसे बड़ा क्षेत्र मानव का व्यावहारिक जीवन है। आचार्य अमृतचन्द्र ने एक ग्वालिन के द्वारा दधिमथन की

प्रक्रिया से मुख्य-गौण वाद का दृष्टानत देते हुए लिखा है -

'एकेनाकर्षयन्ती श्लथयन्ती वस्तुतत्त्वमितरेण।
अन्तेन जयति जैनी नीतिर्मन्थाननेत्रमिव गोपी।।'

- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, 225

उपनिषदों की विरोधाभासी भाषा में तात्त्विक विरोध नहीं, अपितु अनेकान्तवाद की स्थिति का रूप ही दृष्टिगोचर होता है। अन्य दार्शनिक मतों में भी कही-कहीं अनेकान्तवाद की स्वीकृति सी तो प्रतीत होती है, किन्तु स्पष्टतया उन्होंने इस सिद्धान्त की विवेचना नहीं की है। वस्तुतः अनेकान्तवाद में एक ऐसा बहु-आयामी दृष्टिकोण निहित है, जो परमार्थ एवं व्यवहार की यथार्थ संगति एवं भिन्नता का प्ररूपण करता है। इसमें किसी व्यक्ति विशेष को नहीं, अपितु युक्तिपूर्ण सत्य को आदृत किया गया है। हरिभद्रसूरि तो लोकतत्त्वनिर्णय में स्पष्ट घोषणा करते हैं-

'पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्तिमद् वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः।।' श्लोक ३८

अर्थात् मैं न महावीर के दर्शन का पक्षधर हूँ और न कपिल आदि में विद्वेषी हूँ जिसके युक्ति पूर्ण वचन हैं वही मेरे लिए ग्राह्य है। इस प्रकार संक्षेप में अनेकान्त की दार्शनिक पृष्ठभूमि है।

******

जैनधर्म एवं आयुर्वेद विशेषांक का पूरक शोधालेख -

आहार शुद्धि एवं पथ्यापथ्य वानस्पतिक द्रव्यों का आयुर्वेदानुसार महत्त्व

- आचार्य महेशानन्द विद्यालंकार,[1] रमिता महर्जन[2]
एवं आचार्य बालकृष्ण[3]

साधना की सिद्धि अर्थात् जीवन लक्ष्य की प्राप्ति के लिए मनशुद्धि अत्यन्त आवश्यक है। मन के शोधन का एक उपाय है- आहार-शुद्धि। आहार-शुद्धि से तात्पर्य है- राजसिक व तामसिक आहार को छोड़कर सात्त्विक आहार अर्थात् हिताहारा, मिताहार व ऋताहार को अपनाना। गुण, प्रकृति, संस्कार, संयोग, देश, काल, पात्र, भावना, उद्देश्य आदि हिताहार के विविध पहलू हैं। योग से सम्बद्ध शास्त्रों में विविध वानस्पतिक द्रव्यों में से आयुर्वेदिक गुणों की दृष्टि से पथ्यापथ्य विभिन्न द्रव्यों का नामोल्लेख है। उन शास्त्रों में निर्दिष्ट पथ्य व अपथ्य उन द्रव्यों की सही पहचान एवं तद्विषयक सम्यक् जानकारी व समझ योगाभ्यासी को होनी चाहिए। इसके अभाव में योगाभ्यासी के मन का शोधन (शुद्धि) नहीं हो पाता। इसी को दृष्टिगत रखते हुए हम विविध योग-परम्पराओं से सम्बद्ध संस्कृत, पालि व प्राकृत आदि भाषाओं में लिपिबद्ध ग्रन्थों के आधार पर कुछ शास्त्रोक्त पथ्यापथ्य आहारीय वानस्पतिक द्रव्यों को ढूँढकरउनका स-सन्दर्भ आयुर्वेदोक्त परिचय लोककल्याणार्थ इस शोधपत्र के द्वारा प्रस्तुत कर रहे हैं।

प्राणिमात्र की उत्पत्ति एवं वृद्धि आहार से होती है।[4] अर्थात् व्यक्ति का समग्र विकास उसके आहार पर निर्भर करता है। आहार से तात्पर्य सामान्य अर्थ में भोजन[5] (भक्ष्य, चूष्य, लेह्य और पेय) से तथा व्यापक अर्थ में इन्द्रियों के विषय से है। आहार से रस, रक्तादि सप्त ध ातुओं का पोषण ही नहीं होता, बल्कि व्यक्ति का विचार भी बनता है। योग से सम्बद्ध शास्त्र में बताया गया है कि आरोग्य व रोग दोनों के लिए

आहार भी जिम्मेवार रहता है।[6] अशुद्ध आहार से शारीरिक व मानसिक रोगों की उत्पत्ति होती है।[7]

आहार शुद्ध तो स्वास्थ्य, अशुद्ध तो रोग! यह बात स्पष्ट है कि धर्म-साधना का मूल साधन शरीर की पूर्ण आरोग्यता से ही पुरुषार्थ-चतुष्टय (धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष) की सिद्धि हो पाती है, अतः जीवन-लक्ष्य की सिद्धि के लिए सर्वप्रथम आहार-शुद्धि नितान्त आवश्यक है।

हमारा मन हमारे द्वारा खाए गए अन्न का सार है।[8] जगप्रसिद्ध कहावत भी है- **'जैसा खाए अन्न, वैसा होए मन'** अर्थात् हमारा मन हमारे द्वारा ग्रहण किए जाने वाले आहार का परिणाम है। यह मन ही आधि, व्याधि व उपाधि रूप बन्धन का कारण है और परम पुरुषार्थ रूप मोक्ष (कैवल्य/मुक्ति) का भी। विषयासक्त मन बन्धन का और विषयों से रहित मन मुक्ति का कारण है।[9]

विषयों की आसक्तियों में से सबसे प्रबल आसक्ति रस की होती है।[10] रसासक्ति से छूटने का तरीका है- शुद्ध-आहारा का ग्रहण करना। जिसका सामान्य अर्थ है-हमेशा युक्त/सात्त्विक/प्राकृतिक/यौगिक आहार (हित, मित व ऋत आहार) का सेवना करना[11] तथा रहस्यात्मक अर्थ है- इन्द्रियों के रस से भी ऊँचे रस परमात्मा रूप महारस[12] के पान में इन्द्रियों को सदा-सर्वदा लगा देना। इस प्रकार शुद्ध-आहार के माध्यम से निरामय जीवन जीते हुए हम साधना से सिद्धि व मुक्ति तक का सफर आसानी से पूरा कर सकते हैं। शुद्ध-आहार को अपनाकर हम पूरी मुस्तैदी के साथ जीवन को जी भरकर जीते हुए अभ्युदय (भौतिक उन्नति) व निःश्रेयस (आध्यात्मिक समृद्धि) दोनों को सिद्ध कर सकते हैं। यही कारण है कि हमारे पूर्वज ऋषियों ने योग-साधक को अपने जीवन में शुद्ध आहार अपनाने हेतु विशेष बल देने के लिए आह्वान किया है।

समस्त आर्ष-वाङ्मय में ही नहीं, अपितु अर्वाचीन साधनापरक साहित्य में भी यत्र-तत्र आहार और साधना का घनिष्ठ सम्बन्ध निरूपित है। वस्तुतः योग-साधना प्राण-साधना है। प्राण को साधने के लिए प्राणायाम सर्वश्रेष्ठ तकनीक है क्योंकि इससे सहज ही तन-मन के विकार नष्ट हो जाते हैं, रजोगुण और तमोगुण की प्रवृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं।

सात्त्विकता की वृद्धि होती है। मन एकाग्र होने लगता है तथा क्रमशः धारणा, ध्यान तथा समाधि की योग्यता आ जाती है, लेकिन प्राण-साधना हम तभी कर सकेंगे, जब हमारा आहार शुद्ध होगा।[13]

उपनिषद्, दर्शनादि आर्ष-ग्रन्थों में कुछ अलग ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है। आहार-शुद्धि के अन्तर्गत अभक्ष्य-भक्षणादि का परित्याग कर देने पर चित्त (मन) स्वतः शुद्ध हो जाता है। जब चित्त पूरी तरह से शुद्ध हो जाता है, तब क्रमशः शुद्ध-ज्ञान प्रवर्द्धित होता चला जाता है तथा अज्ञान (मिथ्याज्ञान) की समस्त ग्रन्थियाँ विनष्ट हो जाती हैं। मिथ्याज्ञान नष्ट होते ही जीवात्मा को अपवर्ग (मुक्ति) की प्राप्ति होती है।[14] इस बात को महर्षि गौतम ने एक अद्‌भुत समीकरण के रूप में प्रतिपादन किया है, जैसे-दुःख का कारण जन्म है, जन्म का कारण प्रवृत्ति (निवृत्ति-मार्ग का विपरीत मार्ग) है, प्रवृत्ति का कारण दोष (राग, द्वेष और मोह) है और दोष का कारण मिथ्याज्ञान (अज्ञान/अविद्या) है। मिथ्याज्ञान के नष्ट हो जाने से दोष का नाश हो जाता है, दोष के न रहने से प्रवृत्ति भी नहीं रहती, जहाँ प्रवृत्ति का अभाव हो जाता है, वहाँ जन्म होने का प्रश्न ही नहीं उठता, जन्म न हो, तो दुःख कहाँ![15] और सम्पूर्ण दुःखों (आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक) से छूटना ही मुक्ति है, यह ही परम पुरुषार्थ है।[16] इस प्रकार ऋषियों ने स्पष्ट कहा है कि आहार-शुद्धि से प्रथमतः मन का शोधन और अन्ततोगत्वा साधना की सिद्धि (मुक्ति की प्राप्ति) होती है।

चूँकि आहारशुद्धि से योगसाधक के मन की शुद्धि होती है और शुद्ध मन की सहायता से ही वह मोक्ष तक की यात्रा तय कर सकता है, इसीलिए मोक्ष (चेतना की सर्वोच्च व परम शुद्ध अवस्था) की प्राप्ति को ही अपने जीवन का एकमात्र अभीष्ट मानकर योग का आलम्बन लेकर अन्तर्जगत् की यात्रा के लिए निकले हुए योग-साधकों को सभी योग से सम्बद्ध आर्ष व अनार्ष ग्रन्थों ने आहार के प्रति सजग रहने का निर्देश दिया है। ऋषियों की राजसिक[17] व तामसिक[18] से भिन्न सात्त्विक-आहार[19] (हिताहार, मिताहार व ऋताहार) की सम्पूर्ण तथा सार्वभौमिक, सार्वकालिक व सर्वजनीन अवधारणा को पूर्णरूपेण पालन करने पर ही अर्थात् क्रमशः

अहिताहार (हिताहार के प्रतिकूल आहार अत्याहार या न्यूनाहार (मिताहार के प्रतिकूल आहार) व झूठ, बेइमानी आदि अमानवीय तरीके से अर्जित आहार (ऋताहार के प्रतिकूल आहार) का सेवन न करने पर ही आहार-शुद्धि की संकल्पना पूर्ण होती है।

पातञ्जलयोग, हठयोग, जैनयोग, बौद्धयोग, सिद्धयोग, नाथयोग व सन्तयोग आदि विविध योग-परम्पराओं द्वारा लिखित प्रायः सभी प्रकार के ग्रन्थों के अन्दर पथ्य-अपथ्य द्रव्य के रूप में विविध वानस्पतिक द्रव्यों का उल्लेख मिलता है। चूँकि वे ग्रन्थ मूल रूप में संस्कृत या प्राकृत या पालि आदि भाषाओं में लिखे गये हैं, अतः उनमें नामोल्लिखित उन वानस्पतिक द्रव्यों की पहचान करना काफी मुश्किल होता है। इतना ही नहीं, उन द्रव्यों का हिन्दी-अंग्रेजी भाषा में नामकरण, आधुनिक वानस्पतिक नाम, उनके गुण-धर्म, प्रयोज्यांग आदि का उल्लेख उन ग्रन्थों में नहीं मिलता है। उन जानकारियों के अभाव में साधक की साधना भी प्रभावित हो जाती है। परिणामतः साधक को साधना में अपेक्षित सफलता नहीं मिल पाती। अतः यहाँ पर विशेषतः योगमार्ग के पथिकों के सहायतार्थ गुणों की दृष्टि से पथ्यापथ्य योगशास्त्रोक्त द्रव्यों में से कुछ द्रव्यों की आयुर्वेदीय ग्रन्थों से उपर्युक्त जानकारियाँ लेकर उन्हें प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत करने के साथ-साथ जिन द्रव्यों का योगशास्त्रों में मुख्यतः पथ्य या अपथ्य आहार द्रव्य के रूप में उल्लेख मिलता है, उनका भी स-सन्दर्भ समावेश किया जा रहा है।[20]

(१) इक्षु = गन्ना[२१] (Sugar-cane)

इस द्रव्य को साधक के लिए पथ्य कहा गया है।[22]

गुण-कर्म - मधुर रस, मधुर विपाक, शीत वीर्य, गुरु, स्निग्ध गुण, वातपित्तशामक। आयुष्य, धातुवर्धक, शुक्रजनन, सारक, कृमिकर, मूत्रल, कण्ठय, स्तन्यजनन, शुक्रशोधक, श्रमहर, कफवर्धक, संतपर्ण, बल्य, प्रसादजनन, ओजोवर्धक, रक्तपित्तशामक।

प्रयोज्यांग- मूल तथा काण्ड।

(२) एला[२३] **= इलायची** (Lesser Cardamom)

योग से सम्बद्ध ग्रन्थ में इस द्रव्य को साधक के लिए पथ्य कहा

गया है।[24]

गुण-कर्म - तिक्त, कटु, मधुर रस, मधुर विपाक, शीतवीर्य, लघु रुक्ष गुण, पित्तवातकफशाम।

सुगन्धित, हृद्य, रोचन, दीपन, वर्णप्रसादक, शिरोविरेचक, अंग-मर्दप्रशमनकारक, वामक, मुखशोधक, मस्तकशोधक, गर्भपातकारक। श्वास, कास, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, अर्ति, हृदोग, मलविकार, वस्तिशूल, आध्मान, क्षय, विषप्रभाव, शूल, कण्ठशूल, मूत्राश्मरी, व्रण, प्रतिश्याय, अरुचि, गुल्म, विषविराटु, कण्डु, पिडिका, कोठ, शूल तथा कण्डूनाशक।
प्रयोज्यांग-बीज, फल, तेल

(३) कण्टकण्टक = चौलाई/कटैली चवलाई (Prickly Amaranth)

इस द्रव्य को साधक के लिए पथ्य कहा गया है।[25]

(४) कर्कटी = ककड़ी (Snake Cucumber)[26]

इस द्रव्य को साधक के लिए पथ्य कहा गया है।[27] **सुश्रुत संहिता** के चिकित्सा स्थान में मूत्र रोगों के निवारणार्थ ककड़ी का प्रयोग किया गया है।

गुण-कर्म - मधुर, तिक्त रस, विपाक, शीत वीर्य, गुरु, रुक्ष गुण, कफपित्तशामक। ग्राही, रुच्च, मुत्रल, विष्टम्भि, अभिष्यन्दि, दीपन, मुखप्रिय, अतिसार में हितकर, पाचक, तृप्तिकारक, अत्यन्त सेवन करने से वातकोपक। मूत्रकृच्छ्र, मूत्रावरोध, अश्मरी, दाह, क्लम, सन्ताप, मूर्च्छा, रक्तपित्त तथा श्रमनाशक।

प्रयोज्यांग- फल एवं बीज।

(५) कोशातकी[२८] = तोरई (Ribbed gourd)

योग से सम्बद्ध ग्रन्थ में इस द्रव्य को साधक के लिए पथ्य कहा गया है। समस्त भारत में इसके फलों का प्रयोग शाक बनाने के लिये किया जाता है।

गुण-कर्म - कफपित्तशामक, प्रभाव-उभयभागहर। वृष्य, व्रणरोपक, कुष्ठ, पाण्डु, प्लीहारोग, शोथ, गुल्म, कृमि, प्रमेह, शिरोरोग, व्रण, उदयरोग,अर्श, कृत्रिम विष, श्वास, कास, ज्वर,कामला तथा विष नाशक।

प्रयोज्यांग- पत्र, फल तथा बीज

(६) खर्जूर[२९] = खजूर (Date palm)

योग से सम्बद्ध ग्रन्थों में इस द्रव्य को साधक के लिए पथ्य कहा गया है।[30]

गुण-कर्म - मधुर रस, मधुर विपाक, शीत वीर्य, गुरु, स्निग्ध गुण, वातपित्त शामक। रुच्य, हृद्य, तर्पण, विष्टम्भी, शुक्रल, बल्य, दीपन, बृंहण, वृष्य, पुष्टिकारक, श्रमहर। ज्वर, अतिसार, क्षत, तृष्णा, कास, श्वास, मद, मूर्च्छा, कोष्ठगतवात, छर्दि, क्षय, रक्तपित्त, मदात्यय, तथा दाहनाशक। **प्रयोज्यांग**- पत्र, पुष्प, फल, बीज एवं मूल।

(७) जम्बु[३१] = बड़ी जामुन (Jambul Tree)

योग से सम्बद्ध ग्रन्थ में इस द्रव्य को साधक के लिए पथ्य कहा गया है।

गुण-कर्म - कण्ठरोग, शोष, कृमिदोष, श्वास, कास, अतिसार, दाह, श्रम, हृदरोग, मेदोरोग, यानिदोष, तृष्णा, रक्तपित्त, मधुमेह, रक्तदोष, व्रण, शोष, मुखजाड्य तथा अतिसार नाशक। रुचिकारक पाचक, वीर्य पुष्टिकर, मूत्रसंग्रहीणीय, मल स्तम्भक।

प्रयोज्यांग- काण्डत्वक्, फल, बीज, पत्र।

(८) तुलसी[३२] = तुलसी (Holy basil)

योग से सम्बद्ध ग्रन्थ में इस द्रव्य को साधक के लिए पथ्य कहा गया है।

गुण-कर्म - कफवातशामक, पित्तवर्धक, रुचिकारक, दाहकारक, व्रणशोधक। कुष्ठ, पार्श्वशूल, हिक्का, कास, श्वास, विष दोष, प्रतिश्याय, दौर्गन्ध्य, कृमिरोग, शोफ, अतिसार, दाह, मेदोविकार, कुष्ठ, दद्रु, त्वग्रोग, ज्वर, तथा भूतबाधा नाशक। प्रयोज्यांग- पञ्चांग, मूल, पत्र एवं बीज

(९) दाडिम[३३] = अनार (Pomegranate)

इस द्रव्य को साधक के लिए पथ्य कहा गया है।

गुण-कर्म - यह त्रिदोषहर, तृप्तिकारक, पाचक, लघु, किञ्चित् कसैला, मलावरोधक, स्निग्ध, मेध्य, बलकारक, ग्राही, दीपन तथा तृष्णा, दाह, ज्वर, हृदय रोग, मुख दुर्गन्ध, कण्ठरोग और मुख रोगनाशक होता है।

प्रयोज्यांग- पुष्प, फल, बीज, पत्र, मूलत्वक्, फल त्वक् (छिलका)

तथा काण्डत्वक्।

(१०) पटोल[३४] **= परवल** (Wild snake gourd)

इस द्रव्य को साधक के लिए पथ्य कहा गया है।

गुण-कर्म - व्रणरोधक, तृप्तिघ्न, तृष्णानिग्रहण, ग्राही, रक्तदोष, कास, ज्वर, कृमि, कण्डू, कुष्ठ, दाह, शीतला, मूत्रकृच्छ्र, तृष्णा, कोठ, विष, अरोचक, तथा मेहनाशक। पाचन, रेचक, रोचक, दीपन, त्रिदोषशासक।

प्रयोज्यांग- पञ्चांग, मूल, पत्र एवं फल।

(११) रम्भा[३५] **= केला** (Banana Tree)

योग से सम्बद्ध ग्रन्थों में इस द्रव्य को साधक के लिये पथ्य कहा गया है।

गुण-कर्म - मधुर रस, मधुर विपाक, शीतवीर्य, कफवर्धक, वातशामक, स्निग्ध, तृप्तिदायक। तृष्णा, दाह, क्षत, क्षय, नेत्ररोग, मेह, शोष, कर्णरोग, अतिसार, रक्तपित्त, बलास, योनिदोष, कुष्ठ, क्षुधा, विष, व्रण, अस्थिस्राव, सोमरोग तथा शूलनाशक।

(१२) वास्तूक[३६] **= बथुआ** (Lambs Quarters)

योग से सम्बद्ध ग्रन्थों में इस द्रव्य को साधक के लिये पथ्य कहा गया है।

गुण-कर्म - मल-मूत्रशोधक, स्वर्य, रेचक। प्लीहा रोग, कृमिरोग, ज्वर, शूल, रक्तपित्त तथा रक्तदोषशामक

प्रयोज्यांग- पञ्चांग, पत्र, पुष्प, कलिका, बीज एवं तैल।

(१३) शुण्ठी[३७] **= सोंठ** (Dry ginger)

इस द्रव्य को साधक के लिए पथ्य कहा गया है।[38] जिह्वा तथा कण्ठ का शोधन होता है एवं क्षुधा की वृद्धि होती है। कहा जाता है कि **'भोजनाभे सदा पथ्य लवणार्दक भक्षणम्।'**

गुण-कर्म - आमवात, वमन, श्वास, शूल, कास, हृदय रोग, श्लीपद, विबन्धशूल, शोथ, अर्श, आनाह, उदररोग, वातविकार, बद्धोदर, आध्मान, हिक्का, पाण्डु, सङ्ग्रहणी तथा अग्निमान्द्य नाशक। कफ वातशामक।

(१४) कारवेल्ल[३९] **= करेला** (Carilla Fruit)

योग से सम्बद्ध ग्रन्थ में इस द्रव्य को साधक के लिए अपथ्य कहा गया है।[40]

गुण-कर्म - तिक्त, कटु रस; कटु विपाक, शीत वीर्य, लघु रुक्ष गुण, कफपित्तनाशक, वातकारक। दीपन, भेदन, अवृष्य, हृद्य, स्वादिष्ट, क्षार, सारक, कृमिघ्न, रुव्य, ग्राही, रक्तदोष कारक (हारीत-संहितानुसार), ज्वर, कास, पमेह, पाण्डु, कृमि, अरुचि, रक्तदोष, कुष्ठ, व्रण, श्वास, कोठ, भगभ्रंश तथा कामला नाशक। प्रयोज्यांग- पञ्चांग, मूल, पत्र, फल।

(१५) तिल[४१] **= तिल** (Gingelli sesame)

योग से सम्बद्ध ग्रन्थों में इस द्रव्य को साधक के लिए अपथ्य[42] कहा गया है। तिल और तिलों के तेल से सब परिचित हैं। जाड़े की ऋतु में तिल के मोदक बड़े चाव से खाये जाते हैं। रंग भेद से तिल तीन प्रकार का होता है-श्वेत, लाल एवं काला। औषधि कर्म में काले तिलों से प्राप्त तिल अधिक उत्तम समझा जाता है।

गुण-कर्म - मधुर, कटु, तिक्त, रस, कषाय, कटु, कषाय अनुरस, मधुर विपाक,उष्ण वीर्य,स्निग्ध,सूक्ष्म,व्यवायि,गुरु गुण, कफपित्तकारक-वातशामक।

पियाल[४३] **= चिरौंजी** (Calumpang nut tree)

योग से सम्बद्ध ग्रन्थ में इस द्रव्य को साधक के लिए अपथ्य कहा गया है।[44]

गुण-कर्म - मधुर अम्ल, कषाय रस, मधुर विपाक, शीत वीर्य, गुरु, स्निग्ध गुण, कफपित्तशामक। धातुवर्धक, तृष्णा, दाह, ज्वर, क्षत, क्षय, रक्तपित्त, योनिदोष तथा मेदोरोग नाशक।

प्रयोज्यांग - पञ्चांग, फल, पत्र, काण्ड त्वक्, गोंद, बीजमज्जा तैल, मूल।

(१७) मरिच[४५] **= काली मिर्च** (Black pepper)

योग से सम्बद्ध ग्रन्थ में इस द्रव्य को साधक के लिए अपथ्य कहा गया है।[46]

गुण-कर्म - कटु रस, कटु विपाक, उष्ण वीर्य, रुक्ष, तीक्ष्ण, लघु गुण, वातकफशामक। श्वास, शूल, कृमिरोग, छर्दि, शोष, हृद्रोग, प्रतिश्याय,

अरुचि, कुष्ठ, त्वक्विकार, मेदरोग, ज्वर, अर्श, प्रमेह, अर्श शामक।

संदर्भ :

1. विभागाध्यक्ष- पतंजलि योग साहित्यानुसन्धान विभाग, पतञ्जलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार।
2. आयुर्वेदिक डॉक्टर, पतञ्जलि योगपीठ, नेपाल
3. आयुर्वेद विशेषज्ञ
4. अन्नाद् भवन्ति भूतानि (श्री.भ.गी.-3.14)
5. आह्वयते अन्ननलिकया यत्तदाहारः (आहार शब्द की व्युत्पत्ति)
6. आहारसम्भवं वस्तु रोगाश्चाहारसम्भवाः
7. चित्तविप्लवशारीरकम्पनादीनि सर्वदा। आहारनियमादेव प्रभवत्युग्ररूपतः (यो.र. श्रीना.-6.5)
8. अन्नमयं हि सोम्य! मनः (छा.उ.-6.5.4)
9. (अ) मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः (ब्र. बि. (पाण्डु.)-2; शाटया.उ.-1, मैत्रा.उ.-6.34; अमन.उ.-1.77, भवसं.उ.-3. 14; त्रि.ता.उ. (पाण्डु)-5.3

   (ब) ध्यानं (असम्प्रज्ञातसमाधौ निरुद्धं मनः) निर्विषयं मनः (सां.सू.-6.25)

   (स) तत्र ध्यानजमनाशयम् (यो.सू.-4.6)
10. (अ) विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः। रसवर्ज रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते (श्री.भ.गी.-2.59)

    (ब) न होकविषयेऽन्यत्र सज्जन्ते प्राणिनस्तथा। अविज्ञाते यथाहारे बोद्धव्यं तत्रकारणम् (सौन्द.14.10)
11. (अ) हितं मितं सदाश्नीयद्यत्सुखेनैव जीर्यति। धातुः प्रकुप्यते येन तदन्नं वर्जयेद्यतिः (ह.त.कौ.4.4)
12. रसौ वै सः। रसं ह्योवायं लब्ध्वानन्दी भवति- तै.उ.-2.7
13. अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति। सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः (श्री.भ. गी.4.30)
14. अभक्ष्यस्य निवृत्ता तु विशुद्धं हृदयं भवेत। आहारशुद्धौ चित्तस्य विशुद्धिर्भवति स्वतः। चित्तशुद्धौ क्रमाज्ज्ञानं त्रुटयन्ति ग्रन्थयः स्फुटम्। अभक्ष्यं ब्रह्मविज्ञानविहीनस्यैव देहिनः (पा. ब्रा.उ.-37)
15. दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः (न्या.सू.-1.1.2)
16. त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः (सां.सू.-1.1)
17. कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः (श्री. भ.गी.-17.1) अर्थात् कटु (चरपरे) खट्टे, लवणयुक्त यानी नमकीन, अति उष्ण, रूक्ष और जलन पैदा करने वाले, दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाले आहार रजोगुणी अर्थात् राजसी व्यक्ति को प्रिय होते हैं।

18. यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् (श्री. भ.गी.-17.10) अर्थात् कुछ काल तक रखा हुआ (बासी), नीरस, दुर्गन्धित, ठण्डा, झूठा एवं अपवित्र भोजन तमोगुणी व्यक्ति को प्रिय होता है।

19. आयु:सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना:। रस्या: स्निग्धा: स्थिरा हृद्या आहारा: सात्विकप्रिया: (श्री.भ.गी.-17.8) अर्थात् आयु, सात्त्विक वृत्ति, बल, आरोग्य, सुख और उल्लास की वृत्ति करने वाले रसीले, स्निग्ध शरीर में समाविष्ट होकर लम्बे समय तक स्थिर रहने वाले, मन को प्रसन्नता प्रदान करने वाले सात्त्विक प्रकृति वाले पुरुष को प्रिय होते हैं।

20. नानौषधि भूतं जगति किञ्चित् (स.सं.सू.-26.12)

21. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ.-2.2.7; स.सं.-202; (शर्करा); शि.त.र.-2.6.19.60; ज्ञाना.-21.16

22. घे.सं.-5.27 (पथ्य); ह.त.कौ.-4.42 (पथ्य); यो.शा.हे.च.-3.38 (पथ्य)

23. द्र.प्र.स्थ.-शि.त.र.-1.6.10.33

24. घे.सं.-5.28 (पथ्य)

25. घे.सं.-5.18 (पथ्य)

26. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ.-2.2.-7

27. घे.सं.-5.18 (पथ्य)

28. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ.-2.2-7; शि.त.र.-2.6.27.39

29. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ.-2.2-7; शि.त.र.-1.6.10.23

30. घे.स.-5.28 (पथ्य); यो.क.-5.33 (पथ्य); यो.क.-5.33 (पथ्य) यो.शा.हे.च.3.28 (पथ्य)

31. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ.-2.2.-7;मत्स्यं.सं.8.7 (जम्बू); शि.त.र.-1.6.10.23

32. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ.2.2-7; शि.त.र.-2.6.14.38; 2.6.14.79; 2.6.24.11

33. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ.2.2-7

34. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ.2.2-7

35. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ.-2.2.-7; शि.त.र.1.6.10.48

36. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ. 2.2.-7

37. द्र.प्र.स्थ.-मत्सयें. सं.-4.71;संसं.-91 उ.; शि.सं.-5.12 (शुण्ठि)

38. ह.प्र.-1.62 (पथ्य); ह.प्र.ज्यो.टी.-1.62 (पथ्य); ह.प्र.द.अ.-1.50 (पथ्य); यो.क.-15.32 (पथ्य); ह.र.-1.71 (पथ्य); ह.त.कौ.-7.32 (पथ्य); शि.त.र.-2.7.15.7 (पथ्य)

39. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ.-2.2-7; शि.त.र.-2.6.21.161

40. ह.प्र.ह.प्र.ज्यो.टी.-1.59 (अपथ्य)

41. द्र.प्र.स्थ.-यो.क.-2.49 (तील); यो.बि.-67.98

42. ह.प्र.1.59 (अपथ्य); ह.प्र.ज्यो.टी. 1.59 (अपथ्य); ह.र.-1.72 (अपथ्य); ह.त.कौ.-4.28 (अपथ्य)

43. द्र.प्र.स्थ.-यु.भ.-2.2.-7

44. घे.सं.5.25 (अपथ्य)

45. द्र.प्र.स्थ.- स.सं.-92-94; 125उ.-129; शि.त.र.-2.6.15.40

46. ह.प्र.ह.प्र.ज्यो.टी.1.59 (अपथ्य)

संकेताक्षर :

अन्न.उ.	अन्नमूर्णोपनिषद्
अमन.उ.	अमनस्कोपनिषद्
क.उ.	कठोपनिषद्
घे.सं.	घेरण्ड-संहिता (महर्षि घेरण्डकृत)
च.सं.सूं.	चरक-संहिता सूत्रस्थान (महर्षि चरककृत)
छा.उ.	छान्दोग्योपनिषद्
ज्ञाना	ज्ञानार्णव (आचार्य शुभचन्द्रकृत)
तै.उ.	तैत्तिरीयोपनिषद्
त्रि.ता.उ.(पाण्डु)	त्रिपुरातापिन्योपनिषद् (पाण्डुलिपि)
द्र.प्र.स्थ.	दृष्टव्य प्रयोग स्थल
न्या.सू.	न्यायसूत्र (महर्षि गौतमकृत)
पा.	पालि
पा.ब्रा.उ.	पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्
ब्र.बि.उ.(पाण्डु)	ब्रह्मबिन्दूपनिषद् (पाण्डुलिपि)
भवसं.उ.	भवसन्तरणोपनिषद्
मत्स्यें.सं. (प्र.खं)	मत्स्येन्द्र-संहिता (प्रथम खण्ड) (आ. मत्स्येन्द्रनाथकृत)
महो.	महोपनिषद्
मुण्ड.उ.	मुण्डकोपनिषद्
मैत्रा. उ.	मैत्रायण्युपनिषद् (सामवेदीय)
यु.भ.	युक्तभवदेव (भवदेवमिश्रकृत)
यो.क.	योग-कर्णिका (नाथअघोरानन्दकृत)
यो.चि.शि.(पाण्डु)	योगिचिन्तामणि (शिवानन्दसरस्वतीकृत पाण्डुलिपि)
यो.प्र.व्या.	हठप्रदीपिका (दश अध्यायसुक्त) पर बालकृष्णकृत योग प्रकाशिका व्याख्या
यो.बि.	योगबिन्दु (आचार्य हरिभद्रसूरिकृत)
यो.र.श्रीना.	योगरहस्य (श्रीनाथमुनिकृत)
यो.शा.हे.च.	योगशास्त्र (आचार्य हेमचन्द्रकृत)
यो.सू.	योगसूत्र (महर्षि पतञ्जलिकृत)
शाट्या.उ.	शाट्यायनीयोपनिषद्
शि.त.र.	शिवतत्त्वरत्नाकर (केळदि-बसवभूपालकृत)
शि.सं.	शिव-संहिता
श्री.भ.गी.	श्रीमद्भगवदगीता

स.सं.	सत्कर्मसंग्रह (चिदघनानन्दनाथकृत)
सरस्व.र.उ.	सरस्वतीरहस्योपनिषद्
सां.सू.	सांख्यसूत्र (महर्षि कपिलकृत)
सौन्द.	सौन्दरनन्द (महाकवि अश्वघोषकृत)
ह.त.कौ.	हठतत्त्वकौमुदी (सुन्दरदेवकृत)
ह.प्र.	हठप्रदीपिका (पांच अध्यायुक्त)
ह.प्र.ज्यो.टी.	हप्रदीपिका ज्योत्सना टीका (स्वामी ब्रह्मानन्दकृत)
ह.प्र.द.अ.	हठप्रदीपिका (दश अध्याययुक्त)
ह.प्र.(द.अ.)	
यो.प्र.व्या.	हठप्रदीपिका (दश अध्याययुक्त) पर बालकृष्णकृत योग प्रकाशिका व्याख्या
ह.र.	हठरत्नावली (श्रीनिवासयोगीकृत)
ह.सं.च. (पाण्डु)	हठसंङ्केतचन्द्रिका (पाण्डुलिपि)

समयसार में जीवन दृष्टि

- डॉ. दिलीप धींग

समयसार में जीव और अजीव, दर्शन और अध्यात्म, स्वद्रव्य और परद्रव्य, स्व-कर्तृत्व और पर-कर्तृत्व, स्व-भोक्तृत्व और पर-भोक्तृत्व आदि विषयों की गंभीर दार्शनिक चर्चा की गई है। इस गंभीर दार्शनिक चर्चा में भी सामान्य जन और जीवन के लिए बहुत सारी उपयोगी शिक्षाएँ मिलती हैं। कोई भी दर्शन या सिद्धांत तब ही अधिक उपयोगी होता है, जब वह जीवन और व्यवहार से भी जुड़े। समयसार में आई हुई दार्शनिक और तत्त्वज्ञान की चर्चाएँ जीवन व्यवहार और लोकाचार के लिए भी बहुत उपयोगी है। उदाहरण के लिए जब व्यक्ति यह जान लेता और मान लेता है तो वह किसी भी पर वस्तु का कर्ता नहीं है तो उसका अहंकार और ममकार खत्म हो जाता है। इसी प्रकार जब जीव जान लेता है कि वह पर का भोक्ता नहीं हो सकता है तो उसकी भोगासक्ति कम हो जाती है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि समस्त भौतिक और मानसिक दु:खों का मूल व्यक्ति की भोगासक्ति ही है। स्व-कर्तृत्व और स्व-भोक्तृत्व का भाव व्यक्ति को परभावों से दूर करता है और स्वभाव में स्थित होने में सहायक बनता है। यह स्वभाव ही व्यक्ति में प्रभाव पैदा करता है।

अनासक्ति का बोध :

अकर्ता, अकर्म और अभोक्ता के भाव से व्यक्ति अनासक्त होकर जीने का अभ्यासी बन जाता है। समयसार में कहा गया है कि राग से कर्म बंधन होता है तथा वैराग्य कर्मों से छुटकारे का कारण है। अत: रागमुक्त और अनासक्त जीवन जीना चाहिये।[1] आचार्य कुन्दकुन्द की यह शिक्षा साधु के साधुत्व की रक्षा करती है और गृहस्थ को अनासक्त जीवन जीने की प्रेरणा देती है। कुन्दकुन्द स्वामी कहते हैं कि वैद्य जहर खा लेने पर भी नहीं मरता है, क्योंकि वह जहर को प्रभावरहित करने की प्रक्रिया जानता है।[2] अनासक्ति से कर्म और कर्मफल चेतना को प्रभावहीन बना

दिया जाता है। अनासक्त व्यक्ति कर्मफलों को समभाव से भोगता है। वह कर्मफल भोगने की कला को जान लेता है। वह कष्टों और कठिनाईयों में भी अविचलित तथा सकारात्मक बना रहता है। अनासक्ति से व्यक्ति निष्पक्ष, समदर्शी और सुखी बनता है। निष्पक्षता और समदर्शिता से सर्वत्र विश्वास और प्रतिष्ठा मिलती है। अनासक्त व्यक्ति जीवन में किसी भी सेवा-कार्य के प्रति घृणा नहीं करता है।[3] वह दूसरों की भलाई के कार्यों को गुप्त रखता है। उन्हें उजागर करके वह दूसरों को लघुता का अनुभव नहीं कराता है।[4] इस प्रकार अनासक्ति से जीवन में विवेक का जागरण और शान्ति की प्राप्ति होती है।

अनासक्ति व्यक्ति वस्तुओं का उपयोग करते हुए भी उपयोग नहीं करता है और आसक्त व्यक्ति वस्तुओं का उपयोग नहीं करते हुए भी उपयोग करता है और आत्मशान्ति प्राप्त नहीं कर पाता है। समयसार में कहा गया है -

सेवंतो वि ण सेवदि असेवमाणो वि सेवगो को वि।
पगरणचेट्ठा कस्स वि ण य पायरणो त्ति सो होदि।[5]

सुखों के लिए वस्तुओं को उपयोग में लाते हुए भी अनासक्ति के कारण कोई व्यक्ति तो उन पर आश्रित नहीं होता है और परम शान्ति प्राप्त कर लेता है। किन्तु उनको उपयोग में न लाते हुए भी कोई व्यक्ति आसक्ति के कारण उन पर आश्रित रहता है और परम शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता है। यह स्थिति ठीक ही है। किसी के लिए किये गये श्रेष्ठ कार्य के प्रयास के कारण भी आसक्ति के कारण वह व्यक्ति उस श्रेष्ठ कार्य से दृढ़ रूप से संबन्धित नहीं होता है। अतः कहा जा सकता है कि आसक्ति के कारण ही वस्तुओं से सम्बन्ध जुड़ता है, जीव के कर्मबंधन होता है और उसमें अशांति पैदा होती है।[6] आचार्य कुन्दकुन्द फिर कहते हैं- **ण हि वत्थुदो दु बंधो अज्झवसाणेण बंधोत्ति**[7] - वास्तव में बंध वस्तुओं से नहीं, अपितु आसक्तिपूर्ण विचार से होता है। भले ही वस्तुओं के कारण से ऐसा आसक्तिपूर्ण विचार होता हो, लेकिन बंध का कारण वस्तु नहीं, आसक्तिपूर्व विचार है। यहाँ यह भी विचारणीय है कि जिस कारण या निमित्त से आसक्तिपूर्ण विचार पैदा होता है, सुख-शान्ति के लिए उन कारणों को दूर करना या उन कारणों से दूर रहना भी हितकर है।

आत्मदृष्टि का बोध :

समयसार में सर्वत्र आत्मदृष्टि की बात कही गई है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं, स्वयं को देखो, स्वयं को जानो और स्वयं को पहचानो। स्वयं की आराधना ही सच्ची आराधना है। ऐसी आराधना से संसार और पुद्गलों के चिरकालीन रागबंध टूटेंगे। समयसार में सम्यक्त्व और सम्यक्दृष्टि का महत्व बताया गया है। सम्यग्दृष्टि को विषयों में राग नहीं हाता है। समयसार में कहा गया है -

जीवस्स जे गुणा केई णत्थि ते खलु परेसु दव्वेसु।
तम्हा सम्मादिट्ठिस्स णत्थि रागो दु विसएसु।[८]

जीव के जो कोई गुण और विशेषताएँ हैं, वे परद्रव्यों में निश्चित ही नहीं होती है। इसलिए सम्यग्दृष्टि का इन्द्रिय-विषयों में राग बिल्कुल नहीं होता है। इन्द्रियजन्य विषय और इन्द्रियजन्य सुख स्व नहीं; पर हैं, परद्रव्य हैं। जो पर है, वह स्थायी सुख नहीं दे सकता है। आत्मदृष्टि ही स्थायी सुख और कल्याण की कारण है। आत्मदृष्टि वाला व्यक्ति संसार और व्यवहार के सारे कामकाज करता है, लेकिन वह रागरहित और निर्लिप्त जीवन जीता है, इसलिए मानसिक तनावों से मुक्त रहता है।[९] देह-दृष्टि से मुक्त हो जाने पर सामान्य आदमी यश-अपयश, लाभ-हानि, सम्मान-तिरस्कार, सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि घटनाओं को एक अलग ही नजरिये से देखने लग जाता है। वह समझ जाता है कि ये जो सांसारिक घटनाएँ हैं, वे सब नित्य नहीं है और मेरी अपनी भी नहीं है। अतः घटनाओं में नहीं उलझना चाहिये।

प्रज्ञा से समीक्षा :

मानव जीवन की सबसे बड़ी विशेषता धर्म और आत्मतत्व का ज्ञान है। साधारण बुद्धि से धर्म और तत्त्व की बात पूरी तरह समझ में नहीं आती है। धर्म और तत्त्व को समझने के लिए बुद्धि की तीक्ष्णता और प्रज्ञा का जागरूक आवश्यक है। प्रज्ञा के जागरण का आशय है देखादेखी नहीं करना। सही और गलत को समझकर सही को अपनाना और सही का आचरण करना। समयसार में आत्मा और आत्म-स्वरूप को जानने के लिए प्रज्ञा का सहारा लेने का निर्देश किया गया है। प्रश्न आया कि आत्मा को

कैसे जाना और ग्रहण किया जाए तो समयसार में कहा गया है-

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो।।[१०]

आत्मा को प्रज्ञा से ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि प्रज्ञा से ही देह और आत्मा के भेद को जाना जाता है और प्रज्ञा से ही आत्मा को ग्रहण किया जाता है। कही-सुनी बात की बजाय अपनी प्रज्ञा से धर्म की समीक्षा करनी चाहिये। इस सम्बन्ध में उत्तराध्ययन सूत्र[11] में कहा गया है- **पण्णा समिक्खए धम्मं तत्तं तत्तविणिच्छयं**- धर्म, तत्त्व तथा तत्त्व का निश्चय प्रज्ञा से होता है, इसलिए प्रज्ञा से इनकी समीक्षा करनी चाहिये तथा प्रज्ञा से ही इन्हें जानकर ग्रहण करना चाहिये। बुद्धि से सीमित ज्ञान होता है और प्रज्ञा से असीमित ज्ञान होता है। बुद्धि की पहुँच शरीर और पुद्‌गलों तक ही हो पाती है। प्रज्ञा की पहुँच आत्मा और आत्मानुभव तक होती है। इसलिए प्रज्ञा से धर्म और धर्म-तत्त्व को जानने का उपदेश दिया गया है।

अहंकारशून्य जीवन :

जैन दर्शन कहता है कि हर आत्मा अपने निजी सामर्थ्य (उपादान) तथा पुरुषार्थ से अपना विकास करता है, दूसरा तो निमित्त मात्र बनता है, अतः किसी की प्रगति में अहंकार का कोई मूल्य नहीं है। कर्तृत्व का भाव व्यक्ति में अहंकार पैदा करता है। 'मैंने यह अद्‌भुत कार्य किया। ऐसा कार्य किया कि दूसरा कोई नहीं कर सकता। मैं ऐसा करूँगा, वैसा करुँगा।' समयसार नाटक[12] में कहा गया है कि अहंकारी के ऐसे भाव विपरीत भाव हैं। किसी भी प्रकार के तीव्र अहंकारमय या कषायभाव सम्यक्त्व दशा के सूचक नहीं है। सच्चे ज्ञानी को कुछ करने का ऐसा अहंकार नहीं करना चाहिये। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि यदि ज्ञानी व्यक्ति घड़ा, कपड़ा आदि द्रव्यों को बनाए तथा विभिन्न संयोजजनित क्रियाएँ करें तो उसे उन परद्रव्यों के रूप में परिवर्तित होना पड़ेगा। क्योंकि कर्ता होने की शर्त यह है कि उसे उस रूप में परिवर्तित होना अनिवार्य है।[13] ऐसा होने पर ज्ञानी की स्वतंत्रता छिन जायेगी। वह ज्ञानी नहीं, अज्ञानी और पराधीन की श्रेणी में माना जायेगा। पारिवारिक और सामुदायिक जीवन में भी नम्रता निरहंकारिता का बहुत मूल्य है। व्यक्ति यदि अहंकार

छोड़ देता है तो अनेक समस्याएँ समाप्त हो जाती हैं।

तनावमुक्त जीवन :

ज्ञानी में कर्तृत्व का अहंकार नहीं होता है इसलिए उसमें मानसिक तनाव पैदा नहीं होता है। समाज की अपेक्षा ज्ञानी और अज्ञानी दोनों ही वस्तुओं और क्रियाओं के कर्ता हैं। उन दोनों में भेद अंतरंग की अपेक्षा से होता है। एक अहंकारशून्य जीव है, तो दूसरा अहंकारमय। एक मानसिक तनाव से मुक्त है, तो दूसरा मानसिक तनाव से घिरा हुआ। व्यक्ति जब परतंत्रता का जीवन जीता है तब वह परभावों और परद्रव्यों से एकीकरण कर लेता है। इस एकीकरण के कारण उसमें आसक्ति उत्पन्न होती है और उनके विषय में आसक्तिपूर्ण चिन्तन की धारा उसमें प्रवाहित होने लगती है। इस आसक्ति से ही उसमें काम, क्रोध, लोभ, ईर्ष्या, कुटिलता आदि उत्पन्न होते हैं। जिनके फलस्वरूप वह मानसिक तनाव से ग्रस्त रहता है। डॉ. कमलचन्द सोगाणी के अनुसार आत्मा के कर्मों के आस्रव, बंध और उदय के कारण मानसिक तनाव होता है और व्यक्ति परतंत्र बन जाता है। इसके अलावा राग, द्वेष, मोह, कषाय इत्यादि भावों को भी उन्होंने 'मानसिक तनाव' की संज्ञा दी है। परतंत्र व्यक्ति कर्मों का कर्ता, उनसे उत्पन्न कषायों (संवेगों) का कर्ता तथा शुभ-अशुभ भावों का कर्ता अपने आपको मानने के कारण सुख-दुःखमय परिणामों को भोगने वाला होता है। इस प्रकार वह दोहरा जीवन जीता है और मानसिक तनाव में फँस जाता है।[14] स्पष्ट है कि समयसार में तनावमुक्ति या बुनियादी और निराला तरीका बताया गया है।

निर्भयता की शिक्षा :

संसार अनेक प्रकार के भयों से परिपूर्ण है। व्यक्ति तरह-तरह के ज्ञात-अज्ञात, सच्चे-झूठे, वर्तमानकालीन और भविष्यकालीन भयों से ग्रसित रहता है। आत्म-स्वतंत्रता का बोध जिस प्रकार तनावमुक्त बनाता है, उसी प्रकार भयमुक्त भी बनाता है। तनावमुक्ति और भयमुक्ति एक-दूसरे में सहायक बनती है। समयसार में कहा गया है कि जो आत्मा और अनात्मा को समझ लेता है, भेदविज्ञान को समझ लेता है और अपनी दृष्टि को निःशंक (सन्देह व शंकारहित) सम्यक् बना लेता है, वह सात

प्रकार के भयों से मुक्त हो जाता है।[15] इन भयों में सभी प्रकार के भयों का समावेश हो जाता है। सभी प्रकार के भयों से मुक्त होने का एक मुख्य कारण यह है कि सम्यग्दृष्टि जीव कर्मफल के आकांक्षी नहीं होते हैं, इसलिए वे बिल्कुल निर्भय होते हैं।[16] आकांक्षा और अपेक्षा ही अनेक दु:खों की कारण बनती है। जिसे आत्मा की अमरता, चैतन्यता और ज्ञायकता पर अखण्ड विश्वास हो जाता है। उसके सारे भय दूर हो जाते हैं। इस प्रकार समयसार में व्यक्ति को पूर्ण रूप से भयमुक्त बनने और बनाने का जीवनोपयोगी सन्देश दिया गया है। भयमुक्त व्यक्ति अपनी सांसारिक जीवन-यात्रा को सुखद बनाने के साथ ही आध्यात्मिक यात्रा को भी सुखद और शीघ्र फलदायी बनाता है।

ज्ञानपूर्वक त्याग :

समयसार में त्याग और प्रत्याख्यान को नवीन अर्थ दिया गया है। कोई व्यक्ति यह कहे कि यह मेरा है, फिर भी मैंने इसका त्याग कर दिया है। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि यह त्याग का यथार्थ स्वरूप नहीं है। 'यह मेरा नहीं है, पर है, पराया है, ऐसा जानकर किया गया त्याग ही वास्तविक त्याग या प्रत्याख्यान है-

सव्वे भावा जम्हा पच्चक्खाणं परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं॥[१७]

वास्तविक महत्व ज्ञान का है। ज्ञान का फल त्याग है। ज्ञान ही सम्यग्दर्शन, संयम (चारित्र), सूत्र (शास्त्र), शास्त्रों का वर्गीकरण, धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, वैराग्य, सन्यास आदि सब कुछ है।[18] वस्तुत: ज्ञान होने पर ही तत्त्व, आचरण और सिद्धान्तों की वास्तविक समझ होती है। ज्ञान के कारण से ही कर्म में अकर्म की साधना होती है। सूत्रकृतांग सूत्र[19] में अकर्म की साधना को पण्डित-वीर्य या अकर्म-वीर्य कहा गया है। पण्डित-वीर्य या अकर्म-वीर्य का आशय है ज्ञानपूर्वक त्याग में पुरुषार्थ करना। ऐसा अकर्म का पुरुषार्थ या त्याग का पुरुषार्थ करने वाला पंडित या प्रज्ञापुरुष कहलाता है।

उत्तराध्ययन सूत्र[20] में भगवान महावीर से पूछा गया कि प्रत्याख्यान (त्याग) से जीव को क्या लाभ होता है? भगवान फरमाते हैं कि

प्रत्याख्यान करने से जीव आस्रव-द्वार (कर्मों के आने के मार्ग) बन्द करता है तथा प्रत्याख्यान से इच्छाओं का निरोध होता है। प्रश्न है प्रत्याख्यान से किन चीजों का त्याग किया जाए? उपाध्याय केवलमुनि[21] कहते हैं कि दो प्रकार की चीजें त्यागने योग्य हैं -

1. द्रव्य : अन्न, वस्त्र, भवन, धन आदि।
2. भाव : मिथ्यात्व, अव्रत, कषाय आदि।

द्रव्यत्याग और भावत्याग से ही सम्पूर्ण त्याग होता है। फल की आशा नहीं रखना भी त्याग है। आत्मख्याति टीका[22] में कहा गया है कि फल की इच्छा छोड़ देने पर ज्ञानी द्वारा जो कर्म किया जाता है, उसे कर्म की बजाय अकर्म कहना अधिक उचित है। क्योंकि वैसा कर्म बंधनकारी नहीं है, अतः वह अकर्म है। गीता में फल की आशा से रहित पुरुषार्थ को ही निष्काम कर्मयोग कहा गया है।

आचार-मीमांसा :

आचार्य कुन्दकुन्द ने सदाचरण, व्रत, नियम आदि का कहीं निषेध नहीं किया है। चूंकि समयसार द्रव्यानुयोग का ग्रंथ है, इसलिए उसमें आत्म-तत्त्व और अन्य तत्त्वों पर विस्तार से चर्चा हुई है। इस प्रकार समयसार में मुख्य रूप से आत्मा की विशद् चर्चा (आत्म-मीमांसा) हुई है। समयसार की आत्म-मीमांसा, आचार-मीमांसा का निषेध नहीं करती है, अपितु वह आचरण पक्ष (आचार-मीमांसा) का आधार बनती है। आचार पक्ष का निषेध करने से तो स्वच्छन्दाचार ही बढ़ेगा। समयसार की आत्मपरक आचार-मीमांसा का विस्तार मूलाचार, नियमसार, अष्टपाहुड और अन्य ग्रंथों में देखा जा सकता है। श्वेताम्बर ग्रंथों में पांच समिति, तीन गुप्ति तथा पांच महाव्रतों के मजबूत आधारों पर आचार-मीमांसा की विशद् चर्चा की गई है। कुन्दकुन्द कहते हैं कि जो आसक्ति, अभिमान और लालसा से मुक्त हैं तथा करुणाभाव से संयुक्त हैं, वे चारित्ररूपी तलवार से पापरूपी खम्भे को नष्ट कर देते हैं।[23]

द्रव्य चारित्र भी उपयोगी :

जैसे व्यवहार के पथ पर चलकर निश्चय को पाया जाता है। वैसे ही द्रव्य-आचरण के माध्यम से भाव-आचरण और भाव-शुद्धि को पाया जा सकता है। समयसार में आत्मा की विस्तार से चर्चा होने के बावजूद

आचार्य कुन्दकुन्द आचरण-शून्य स्थिति का समर्थन नहीं करते हैं। उनका कहना है कि आचरण ज्ञानपूर्वक होना चाहिये। समयसार में कहा गया है कि द्रव्य-प्रतिक्रमण भी उपयोगी है। समयसार के मोक्षाधिकार के अन्त में आचार्य अमृतचन्द्र ने अपनी टीका से यह तथ्य स्पष्ट कर दिया कि अप्रतिक्रमण तो स्वच्छन्दाचार है ही, भावशून्य द्रव्य प्रतिक्रमण भी लाभकारी नहीं है; लेकिन भाव प्रतिक्रमण के साथ द्रव्य प्रतिक्रमण निश्चित ही उपयोगी है।[24] जिस प्रकार प्रतिक्रमण उपयोगी है, उसी प्रकार प्रतिसरण (सम्यक्त्व में प्रवृत्ति),प्रतिहरण (मिथ्यात्व और राग का निवारण), धारणा (स्तुति, जप एवं बाह्य द्रव्यों से चित्त को स्थिर करना), निवृत्ति, निन्दा (स्वयं की साक्षी से स्वयं के दोषों को प्रकट करना), गर्हा (गुरु की साक्षी से स्वयं के दोषों को प्रकट करना), और शुद्धि (प्रायश्चित) भी उपयोगी है। ज्ञानपूर्वक, समझपूर्वक और अकर्तृत्वबुद्धि से प्रतिक्रमण आदि आचार के इन आठ अंगों का पालन करना अमृत के समान है, उपयोगी है।

स्वच्छन्दाचार का निषेध :

समयसार में कहा गया है कि ज्ञानी या सम्यग्दृष्टि बन जाने के बाद कर्मबंध नहीं होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कोई व्यक्ति अपने आपको ज्ञानी और सम्यग्दृष्टि मानते हुए स्वच्छन्द आचरण करे। आचार्य कुन्दकुन्द की भाषा में ज्ञानी वह व्यक्ति है, जिसका चारित्र यथाख्यात हो गया। जिसे केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त हो गया, उसके कर्मबंध नहीं होता है, कषायजनित कर्मबंध नहीं होता है।[25] साधना की शुरूआती कक्षाओं में व्यक्ति अपने आपको ज्ञानी मानकर स्वच्छन्द आचरण करता है तो उसका विकास अवरुद्ध हो जाता है। आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि आचारांग आदि आगमों में गति को ज्ञान समझा जाना चाहिये, जीव आदि तत्त्वों में रुचि को दर्शन समझा जाना चाहिये तथा छह जीव-समूह (पृथ्वीकाय, जलकाय, वायुकाय, अग्निकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय) के प्रति करुणा को चारित्र समझा जाना चाहिये।[26] इस प्रकार अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध उपयोग की ओर बढ़ना साधक का लक्ष्य होना चाहिये। जब साधक व्यवहार की सीढ़ियों से निश्चय की ओर बढ़ता है तो उसका व्यवहार छूटता जाता है। तब वह कह सकता है कि मेरा आत्मा

ही ज्ञान है, मेरा आत्मा ही दर्शन है, मेरा आत्मा ही चारित्र है, मेरा आत्मा ही प्रत्याख्यान तथा मेरा आत्मा ही संवर और योग है।[27] इस प्रकार समयसार में आत्म-मीमांसा और आचार-मीमांसा का सुन्दर समन्वय किया गया है।

पुरुषार्थ की प्रेरणा :

आत्मकर्तृत्ववाद जैन दर्शन का महान सिद्धान्त है। समयसार इस सिद्धान्त को अधिक ऊँचाई देता है। आत्मकर्तृत्ववाद से कर्मों की पराधीनता छूटती है और आत्म-पुरुषार्थ जागृत होता है। अपने आप पर भरोसा करना आत्म-पुरुषार्थ है। पुरुषार्थ जगाने के लिए निश्चय नय का दृष्टिकोण बहुत उपयोगी है। जब तक व्यक्ति अपनी शक्ति को नहीं जगाता है, तब तक दूसरा कोई उसकी सहायता नहीं करता है। जो अपने आप पर विश्वास नहीं करता है, उसके लिए देव, गुरु और धर्म का विश्वास भी फलदायी नहीं बन पाता है। विश्वास सबसे पहले अपने आप पर करना चाहिये। आत्मविश्वास और पुरुषार्थ से मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है। जो आलसी, प्रमादी और अकर्मण्य है, उसकी कोई मदद नहीं करता है। अपने कर्तृत्व पर विश्वास करने वाला अपने भाग्य की डोर अपने हाथ में थामे रखता है।

समयसार में उपादान पर विशेष जोर दिया गया है। प्रथम क्रम पर उपादान और दूसरे क्रम पर निमित्त। प्रथम क्रम पर स्वयं का पुरुषार्थ और दूसरे क्रम पर दूसरों का सहारा। जो स्वयं पुरुषार्थी है, वही दूसरे के सहारे का उपयोग कर सकता है और लाभ उठा सकता है। केवल निमित्तों के भरोसे रहने से पुरुषार्थ का जागरण नहीं होता है। पुरुषार्थ को जगाने के लिए उपादान को देखना पड़ेगा। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आचार्य कुन्दकुन्द ने 'जघन्य' शब्द के द्वारा एक बहुत बड़ी समस्या का समाधान किया है। वे कहते हैं कि ज्ञान का विकास, दर्शन का विकास और चारित्र का विकास एक छलांग में नहीं होता है, एक साथ नहीं होता है। एक साथ एक अल्पज्ञानी केवली नहीं बन सकता जाता है। एक साथ रागी व्यक्ति वीतरागी नहीं बन जाता है।[28] व्यक्ति पुरुषार्थ करता हुआ क्रम से अपना विकास करता जाता है। वह जघन्य के मध्यम और मध्यम से

उत्कृष्ट तक पहुँच जाता है। सामान्य ज्ञान से विशिष्ट ज्ञान और विशिष्ट ज्ञान से केवल ज्ञान तक पहुँच जाता है। निराश होने वाला और हाथ पर हाथ धरकर बैठा रहने वाला प्रमादी कभी आगे नहीं बढ़ पाता है। जैन दर्शन प्रतिपल अप्रमत्त और पुरुषार्थी रहने की शिक्षा देता है।

आत्मा स्वयं जिम्मेदार :

कोई भी व्यक्ति किसी दूसरे को सुखी या दु:खी नहीं बना सकता है। अपनी उन्नति और अवनति के लिए व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार है। समयसार में कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि वह दूसरों को सुखी या दु:खी बनाता है तो वह मूढ़ और अज्ञानी है -

जो अप्पणा दु मण्णदि दुक्खिदसुहिदे करेमि सत्ते त्ति।
सो मूढो अण्णाणी णाणी एत्तो दु विवरीदो।[२९]

किसी को सुखी या दु:खी करने की यह जो अवधारणा है, यह मिथ्या धारणा है।[30] जब तक ऐसी धारणी बनी रहती है तब तक व्यक्ति स्वयं पर भरोसा नहीं करता है। जब ऐसी मिथ्या धारणा मिटती है तो व्यक्ति अपने भाग्य की डोर अपने हाथ में ले लेता है। आचारांग सूत्र[31] में कहा गया है- **पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि-** हे मानव! तू स्वयं ही अपना मित्र है तू बाहर में क्यों किसी मित्र (सहायक) की खोज कर रहा है? उत्तराध्ययन सूत्र में कहा गया है कि आत्मा ही अपना सच्चा मित्र है और आत्मा ही शत्रु है।[32] हमारे अच्छे-बुरे के लिए दूसरा कोई जिम्मेदार नहीं है। आचार्य महाप्रज्ञ के अनुसार आत्मा अलग-अलग गतियों और योनियों में जाता है। इसमें किसी अन्य का दोष नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति अपने शुभाशुभ परिणाम से, अपने अध्यवसाय शुद्ध रखें, अपनी भावधारा और विचारधारा शुद्ध व पवित्र बनाए रखे। लेकिन आदमी व्यवहार में उलझ जाता है।[33] वह स्वयं को देखने की बजाय दूसरों पर दोषारोपण करता है। जब व्यक्ति निमित्तों को देखता है तो वह दूसरों पर दोषारोपण करता है।

जैनदर्शन कहता है, उपादान को देखो, वास्तविक कारण को जानो और समस्या का समाधान करो। दूसरों को मत देखो और दूसरों पर दोषारोपण भी मत करो। मूल और मुख्य उपादान हमारा अपना आत्मा है। यदि आत्मा को संभाल लिया जायेगा तो सब कुछ संभल जायेगा। इसी

आत्म-दृष्टि या उपादान-दृष्टि से कहा जाता है कि किसी भी कष्ट या असफलता के लिए कोई दूसरा नहीं, व्यक्ति स्वयं जिम्मेदार है। इसे निश्चय नय की दृष्टि भी कह सकते हैं, जिसका समयसार में बहुत विकास मिलता है। जब निश्चय नय सामने नहीं होता है तो व्यक्ति दूसरों को दोषी ठहराता है। वह परदर्शन में उलझता है, लेकिन स्वदर्शन या आत्मदर्शन की ओर नहीं आता है। आत्मदर्शन करने वाला स्वयं को देखता है, उपादान देखता है और अन्तरावलोकन करता है। जब व्यक्ति समस्या के मूल की ओर ध्यान देता है तो वह समस्या को स्थायी तौर पर समाप्त करने का पुरुषार्थ करता है।

******

संदर्भ :

1. रत्तो बंधदि कम्मं...समयसार, गाथा 150
2. समयसार, गाथा 195
3. समयसार, गाथा 231
4. सोगाणी, कमलचन्द (डॉ.), 'समयसार चयनिका' में प्रस्तावना, पृ.18
5. समयसार, गाथा 197
6. समयसार चयनिका, पृ. 35 (डॉ. कमलचंद सोगाणी द्वारा संपादित)
7. समयसार, गाथा 265
8. समयसार, गाथा 370
9. समयसार, गाथा 200
10. समयसार, गाथा 296, गाथा सं. 295 एवं 297 भी द्रष्टव्य।
11. उत्तराध्ययन सूत्र 23/25
12. समयसार नाटक, बंध द्वार, काव्य क्रं. 24-25
13. समयसार, गाथा 99
14. देखें, डॉ. कमलचंद सोगाणी की 'समयसार चयनिका' में प्रस्तावना।
15. समयसार, गाथा 228
16. समयसार गाथा 228 पर आत्मख्याति टीका।
17. समयसार, गाथा 34
18. समयसार, गाथा 404

19. सूत्रकृतांग सूत्र, आठवाः अध्याय।
20. उत्तराध्ययन सूत्र 29/14
21. केवलमुनि (उपा.), आगममुक्ता, पृ. 64-65
22. ज्ञानी किं कुरुतेऽथ किं न कुरुते कर्मेति जानाति कः । -समयसार कलश, 153
23. भावपाहुड, गाथा 159
24.(क) समयसार, गाथा 306-307 पर आचार्य अमृतचन्द्र की आत्मख्याति टीका।
(ख) प्राकृतविद्या (शोध त्रैमासिक) अक्टूबर 11989 में डॉ. दयानन्द भार्गव का लेख 'समयसार की आत्मपरक आचार-मीमांसा', पृ. 33
25. महाप्रज्ञ, आचार्य, 'समयसार : निश्चय और व्यवहार की यात्रा' पृ.36
26. समयसार, गाथा 276
27. समयसार, गाथा 277
28. महाप्रज्ञ, आचार्य, 'समयसार : निश्चय और व्यवहार की यात्रा', पृ.
29. समयसार, गाथा 253
30. समयसार, गाथा 259
31. आचारांग सूत्र 1/3/3
32. अप्पामित्तमित्तं च दुप्पट्ठियसुपट्ठिओ।- उत्तराध्ययन सूत्र, बीसवाँ अध्ययन 37वीं गाथा। 36वीं गाथा भी द्रष्टव्य।
33. महाप्रज्ञ, आचार्य, 'समयसार : निश्चय और व्यवहार की यात्रा', पृ. 61

- सुगन हाउस,
१८ रामानुज अय्यर स्ट्रीट,
सावरकरपेट, चैन्नई-६०००0१

प्राकृत एवं अपभ्रंश-अध्ययन : एक विस्तृत विवेचन

- डॉ. वन्दना मेहता

जैनविद्या के अन्तर्गत प्राकृत एवं अपभ्रंश अध्ययन अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कारण कि विशेषकर प्राकृत साथ ही अपभ्रंश का अधिकांश साहित्य जैन धर्म-दर्शन से सम्बन्धित है।

प्राकृत अर्थात् स्वाभाविक भाषा, नैसर्गिक भाषा, वैसे ही अपभ्रंश का अर्थ है- जनबोली अर्थात् सामान्य लोगों की बोलचाल की भाषा। भरतमुनि के अनुसार अपभ्रंश बोलचाल की भाषा है जो उकार बहुला है। वह हिमाचल प्रदेश से लेकर सिन्ध तथा उत्तर पंजाब तक प्रचलित थी।

हिमवत् सिन्धुसौवीरान् ये जनाः समुपाश्रिताः।
उकारबहुला तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत्॥

(नाट्यशास्त्र,17.62)

जहाँ एक और भाषा के क्रमिक विकास को समझने के लिए सामान्यतः यह कहा जाता है कि अपभ्रंश प्राकृतों की अन्तिम अवस्था है, किन्तु स्वरूप की दृष्टि से अपभ्रंश आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की वह पूर्ववर्ती अवस्था है जिसमें से समस्त आधुनिक आर्यभाषाएं अपनी स्थिति का विकास/निर्माण कर सकी। अपभ्रंश प्राकृत की विभाषाओं से विकसित मानी जा सकती है किन्तु यह कहना पूर्ण रूप से उपयुक्त नहीं है कि प्राकृत से अपभ्रंश का जन्म हुआ। प्रस्तुत संदर्भ में प्राकृत एवं अपभ्रंश के अध्ययन : एक विस्तृत विवेचन को समग्र रूप से प्रस्तुत किया जा रहा है-

भारत एवं विदेशों में प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा के प्रमुख अध्येता और उनके अध्ययन के क्षेत्र -

आधुनिक युग में प्राच्य-विद्याओं के क्षेत्र में प्राकृत, अपभ्रंश एवं

जैन साहित्य के अध्ययन एवं अनुसन्धान का आरम्भ जैन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज से प्रारम्भ होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में बम्बई के शिक्षा विभाग ने विभिन्न क्षेत्रों में दौरा करके निजी संग्रहालयों के हस्तलिखित ग्रन्थों का विवरण तैयार करने के लिए कुछ अन्य विद्वानों के साथ डॉ. जे. जी. बूलर को भी नियुक्त किया था। 1866 ई. में डॉ. बूलर ने बर्लिन (जर्मनी) पुस्तकालय के लिए पाँच सौ जैन ग्रन्थ खोजकर भेजे थे। उस समय संग्रह के रूप में क्रय किये गए तथा भण्डारकर शोध-संस्थान में सुरक्षित उन सभी हस्तलिखित ग्रन्थों के विवरण एवं आवश्यक जानकारी के रूप में 1837-98 ई. तक समय-समय पर भण्डारकर, डॉ. बूलर, कीलहार्न, पीटर्सन और अन्य विद्वानों की रिपोर्टें प्रकाशित हो चुकी हैं। प्राच्यविद्या जगत में यह एक नया आयाम था जिसने जैनधर्म एवं प्राकृत भाषा एवं साहित्य की ओर भारतीय एवं विदेशी विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया।

जैन विद्या एवं प्राकृत के महत्त्वपूर्ण अनुसन्धाता के रूप में उल्लेखनीय विद्वान् वेबर हैं। बम्बई के शिक्षा-विभाग से अनुमति प्राप्त कर डॉ. बूलर ने जिन पाँच सौ ग्रन्थों को बर्लिन पुस्तकालय में भेजा था, उनका अध्ययन व अनुशीलन कर वेबर ने कई वर्षों तक परिश्रम कर भारतीय साहित्य (Indischen Studien) (Indian Literature) के रूप में एक महान् ग्रन्थ 1882 ई. प्रस्तुत किया। यह ग्रन्थ सत्रह भागों में प्रकाशित है। यद्यपि **'कल्पसूत्र'** का अंग्रेजी अनुवाद 1848 ई. में स्टीवेन्सन द्वारा प्रकाशित हो चुका था, किन्तु जैन आगम ग्रन्थों की भाषा तथा साहित्य की ओर तब तक विदेशी विद्वानों का विशेष रूप से झुकाव नहीं हुआ था। वेबर ने इस साहित्य का विशेष महत्व प्रतिपादित कर 1858 ई. में धनेश्वरसूरिकृत 'शत्रुंजय माहात्म्य' का सम्पादन कर विस्तृत भूमिका सहित प्रथम बार उसे लिपजिंग (जर्मनी) से प्रकाशित कराया। श्वेताम्बर आगम ग्रंथ 'भगवतीसूत्र' पर जो शोध-कार्य वेबर द्वारा किया गया, वह चिरस्मरणीय माना जाता है। यह ग्रंथ बर्लिन की विसेन्चाफेन (Wissenchaften) अकादमी से 1866-67 ई. में मुद्रित हुआ था। वेबर ने जैनों के धार्मिक साहित्य के विषय में विस्तार से लिखा था, जिसका

अंग्रेजी अनुवाद स्मिथ ने प्रकाशित किया था। विण्डिश ने अपने विश्वकोष (Encyclopedia of Indo-Aryan Research) में तत्सम्बन्धी विस्तृत विवरण दिया है। इस प्रकार जैन विद्याओं के अध्ययन का सूत्रपात करने वाला तथा शोध एवं अनुसन्धान की दिशाओं को निर्दिष्ट करने वाला विश्व का सर्वप्रथम अध्ययन केन्द्र जर्मनी में विशेष रूप से बर्लिन रहा है।[1] इस क्षेत्र में कार्य वाले होएफर, लास्सन, स्पीगल, फ्रेडरिक हेग, रिचर्ड पिशेल, बेवर, ई. ल्युमन, डॉ. हर्मन जेकाबी, डब्ल्यू. विह्टमन, वाल्टर शूब्रिंग, लुडविग ऑल्सडोर्फ, नार्मन ब्राउन, क्लास ब्रुहन, गुस्तेब रॉथ और डब्ल्यू. बो बोल्ले इत्यादि जर्मन विद्वान् हैं।

प्राच्य विद्याओं की भाँति जैन विद्याओं का भी दूसरा अध्ययन महत्वपूर्ण केन्द्र फ्रांस था। फ्रांसीसी विद्वानों में सर्वप्रथम उल्लेखनीय है-ग्युरिनाट। उनका महत्त्वपूर्ण ग्रंथ 'Essai de Bibliographe Jaina (Eassay on Jaina Bibliograhphy) पेरिस से 1906 में प्रकाशित हुआ। इसमें विभिन्न जैन विषयों से सम्बन्धित 852 प्रकाशनों के सन्दर्भ निहित हैं। 'जैनों का धर्म' (Religion Jaina) पुस्तक उनकी पुस्तकों में सर्वाधिक चर्चित रही। यथार्थ में फ्रांसीसी विद्वान विशेषकर ऐतिहासिक तथा पुरातात्त्विक विषयों पर शोध एवं अनुसन्धान-कार्य करते रहे। उन्होंने इस दिशा में जो महत्वपूर्ण कार्य किए वे आज भी उल्लेखनीय है।[2] ग्युरिनाट ने जैन अभिलेखों के ऐतिहासिक महत्त्व पर विशेष रूप से प्रकाश डाला है। उन्होंने जैन ग्रंथों की सूची के निर्माण के साथ ही उन पर टिप्पण तथा संग्रहों का भी विवरण प्रस्तुत किया था। वास्तव में साहित्यिक तथा ऐतिहासिक अनुसन्धान में ग्रन्थ-सूचियों का विशेष महत्व है। यद्यपि 1897 ई. में जर्मन विद्वान अर्नेस्ट ल्युमन ने 'A List of the Manuscripts in the Library at Strassburg', वियेना ओरियन्टल जर्नल, जिल्द 11, पृ. 279 में दो सौ हस्तलिखित दिगम्बर जैन ग्रंथों का परिचय दिया गया था, किन्तु ग्युरिनाट के पश्चात् इस दिशा में क्लाट (Klatt) ने महान् कार्य किया था। उन्होंने जैन ग्रंथों की लगभग 1100-1200 पृष्ठों में मुद्रित होने योग्य अनुक्रमणिका तैयार की थी, किन्तु यह कार्य पूर्ण नहीं हो सका। बेवर और अर्नेस्ट ल्युमन ने 'Indian Antiquery' में उस बृहत् संकलन के

लगभग 55 पृष्ठ नमूने के रूप में मुद्रित कराये थे। भारतवर्ष में इस प्रकार का कार्य सर्वप्रथम बंगाल की एशियाटिक सोसायटी के माध्यम से प्रकाश में आया। 1877 ई. में राजेन्द्रलाल मित्र ने 'A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Library of the Asiatic society of Bengal' कलकत्ता से प्रकाशित किया था, जिसमें कुछ प्राकृत तथा अपभ्रंश ग्रंथों के नाम भी मिलते हैं। मुख्य रूप से महत्वपूर्ण कार्य का प्रारंभ इस देश में भण्डारकर के प्रकाशित 'A List of Sanskrit Manuscripts in private Libraries in the Bombay Presidency' ग्रंथ से माना जाता है। इसी श्रृंखला में सुपार्श्वदास गुप्त द्वारा सम्पादित A Catalogue of Sanskrit, Prakrit and Hindi Works in the Jaina Siddhant Bhawan, Arrah' (1919 ई.) एवं दलाल और लालचन्द गांधी द्वारा सम्पादित 'A Catalogue of Manuscripts in Jaisalmer Bhandrars' गायकवाड़ आरियंटल सीरीज, बड़ौदा (ई. 1923), रायबहादुर हीरालाल, A Catalouge of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the C.P. and Barar', नागपुर, 1926 आदि उल्लेखनीय है। आधुनिकतम खोजों के आधार पर इस दिशा में कुछ अधिक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ-सूचियों का निर्माण हुआ जिनमें एच. डी. वेलणकर का 'A Catalogue of Prakrit Manuscripts', जिल्द 3-4 बम्बई (1930 ई.) तथा 'जिनरत्नकोश' पूना (1944 ई.) हीरालाल रसिकदास कापड़िया का 'Descriptive Catalougue of Manuscripts in the Govt. Manuscript Lib.', भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना (1954 ई.), डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल का "राजस्थान के जैन शास्त्र-भण्डारों की ग्रंथ-सूची', भा. 1-5 तथा मुनि विजयजी के 'A catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur Collection' एवं पुण्यविजयजी के पाटन के जैन भण्डारों की ग्रंथ-सूचियाँ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अपभ्रंश के जैन ग्रंथों की प्रकाशित एवं अप्रकाशित हस्तलिखित ग्रंथों की सूची के लिए देवेन्द्रकुमार शास्त्री की भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित पुस्तक "अपभ्रंश भाषा और साहित्य की शोध प्रवृत्तियाँ" विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जिनमें अपभ्रंश से संबन्धित सभी प्रकार का विवरण दिया गया है। जर्मन विद्वान वाल्टर शुब्रिंग ने सर्वप्रथम जैन हस्तलिखित ग्रंथों

की बृहत् सूची तैयार की थी जो 1944 ई0 में लिपजिग से प्रकाशित हुई और जिसमें 1127 जैन हस्तलिखित ग्रंथों का पूर्ण विवरण पाया जाता है। यह सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता है। इस प्रकार के कार्यों से ही शोध एवं अनुसन्धान की विभिन्न दिशाएँ उद्घाटित हो सकीं और आगे गतिशील हैं।

प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य का सांगोपाग अध्ययन हर्मन जेकोबी से आरम्भ होता है। जेकोबी ने कई प्राकृत जैन ग्रंथों का सम्पादन कर उन पर महत्त्वपूर्ण टिप्पण लिखे। उन्होंने सर्वप्रथम श्वेताम्बर जैनागम 'सूत्रकृतांग' (1885 ई0), 'आचारांगसूत्र' (1885 ई0)' उत्तराध्ययनसूत्र' (1886 ई0) आदि आगमों को सम्पादित किया। इसी समय साहित्यिक ग्रंथों में जैन कथाओं की ओर डॉ. जेकोबी का ध्यान आकृष्ट हुआ। उनकी सन् 1891 में, 'उपमितिभवप्रपंचकथा' प्रकाशित हुई। इसके पूर्व एक 'कथासंग्रह 1886 ई. में प्रकाशित हो चुका था। 'पउमचरियं', 'णेमिणाहचरिउ' और 'सणयकुमारचरिउ' क्रमशः 1914, 1921 और 1922 में प्रकाशित हुए। इसी अध्ययन की श्रृंखला में अपभ्रंश का प्रमुख कथाकाव्य 'भविसयत्तकहा' का प्रकाशन सन् 1918 में प्रथम बार जर्मनी से हुआ। इस प्रकार जर्मन विद्वानों के अथक प्रयत्न, परिश्रम तथा निरन्तर शोध के परिणाम स्वरूप ही प्राकृत अपभ्रंश के क्षेत्र में शोध एवं अनुसन्धान के नए आयाम उदघाटित हुए एवं हो रहे हैं। ऑल्सडोर्फ ने 'कुमारपालप्रतिबोध' (1928 ई0), हरिवंशपुराण (महापुराण के अन्तर्गत), (1936 ई0), उत्तराध्ययनसूत्र, मूलाचार, भगवती आराधना (1968) आदि ग्रंथों का सम्पादन कर प्राकृत तथा अपभ्रंश साहित्य का महान् कार्य किया। वाल्टर शुब्रिंग का 'दसवेआलियसुत्तं' का एक सुन्दर संस्करण तथा अंग्रेजी अनुवाद 1932 में अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ। उनके द्वारा ही सम्पादित 'इसिभासियं' भाग 1,2 (1943 ई0) में प्रकाशित हुए। शुब्रिंग और केल्लट के सम्पादन में तीन छेदसूत्र आयारदसाओ, ववहार और निसीह (1966 ई.) हैम्बर्ग से प्रकाशित हुए। इसी प्रकार जे. एफ. कोल का सूर्यप्रज्ञप्ति (1937 ई.), डब्ल्यु. किफेल का 'जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति' (1937 ई.), हम्म का 'गीयत्थ-विहार' (महानिशीथ का छठा अध्ययन) (1948 ई.), ए. ऊनो का प्रवचनसार

(1966 ई.), तथा टी. हनाकी का अनुयोगद्वारसूत्र (1970 इत्यादि प्रकाश में आये। 1925 ई. में किरफल (Kirfle) ने जैन उपांग जीवाजीवाभिगम के सम्बन्ध में यह कहा था कि वस्तुतः यह जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति से सम्बद्ध है। सन् 1929 में हैम्बर्ग से काम्पत्ज (Kamptz) ने आगमिक प्रकीर्णकों को लेकर शोधोपाधि हेतु अपना शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर डॉक्टरेट प्राप्त की थी। जैनागम के टीका-साहित्य पर सर्वेक्षण का कार्य अर्नेस्ट ल्युमन ने बहुत ही श्रमपूर्वक किया था, किन्तु वे उसे पूर्ण नहीं कर सके। अनन्तर 'Ubersicht uber die Avaiyaka Literature' के रूप में उसे वाल्टर शुब्रिंग ने 1934 ई. में हैम्बर्ग से प्रकाशित किया। इस प्रकार जैनागम तथा जैन साहित्य की शोध-परम्परा के पुरस्कर्ता जर्मन विद्वान् रहे हैं। आज भी वहाँ शोध एवं अनुसन्धान का कार्य हो रहा है। सन् 1935 में फेडेगन (Faddegon) ने दिगम्बर जैनाचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार का अंग्रेजी अनुवाद किया था। इस संस्करण की विशेषता यह है कि आचार्य अमृतचन्द्र की तत्त्वप्रदीपिका टीका, व्याख्या व टिप्पणों से यह समलंकृत है।

साहित्यिक विधाओं में प्राकृत जैन कथा साहित्य पर सर्वप्रथम डॉ. जैकोबी ने प्रकाश डाला। इन दिशा में प्रमुख रूप से अर्नेष्ट ल्युमन ने पादलिप्तसूरि की तरंगवतीकथा का जर्मन भाषा में सुन्दर अनुवाद 'दाइ नोन' (Die Nonne) (The Nun) के नाम से 1931 ई. में प्रकाशित किया। तदनन्तर हर्टेल ने जैन कथाओं पर महत्वपूर्ण कार्य किया। क्लास ब्रुहन ने शीलांक के चउपन्नमहापुरिसचरियं पर शोधोपाधि प्राप्त कर सन् 1954 में उसे हैम्बर्ग से प्रकाशित किया। आर. विलियम्स से 'मणिपतिचरित' के दो रूपों को प्रस्तुत कर मूल ग्रंथ का अंग्रेजी अनुवाद किया। इस तरह समय-समय पर जैन कथा-साहित्य पर शोध-कार्य होता रहा है।[3]

जैन दर्शन के अध्ययन की परम्परा हमारी जानकारी के अनुसार आधुनिक काल में अल्ब्रट बेवर के 'फ्रेगमेन्ट ऑफ भगवती' 1867 ई. से मानना चाहिए। कदाचित् एच. एच. विल्सन ने जैन दर्शन का उल्लेख किया था। किन्तु उस समय तक यही माना जाता था कि जैनधर्म हिन्दूधर्म की एक शाखा है। बेवर, जेकोबी, ग्लासनेप आदि जर्मन विद्वानों के शोध

एवं अनुसन्धान-कार्यों से यह तथ्य निश्चित एवं स्थिर हुआ कि जैनधर्म एक स्वतंत्र एवं मौलिक दर्शन है। इस दृष्टि से डॉ. हेल्मुथ वान ग्लासनेप की पुस्तक "The Doctrine of Karman in Jain Philosophy" अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है जो सन् 1942 में बम्बई से प्रकाशित हुई थी। ऐतिहासिक दृष्टि से जीमर और स्मिथ के कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है। एफ डब्ल्यु. थॉमस ने आचार्य हेमचन्द्र कृत स्याद्वादमंजरी का बहुत सुन्दर अंग्रेजी अनुवाद किया जो 1960 ई. में बर्लिन से प्रकाशित हुआ। 1963 ई. में आर. विलियम्स ने स्वतंत्र रूप से जैनयोग पर पुस्तक लिखी जो 1963 ई. में लंदन से प्रकाशित हुई। केवल इतना ही कहा जा सकता है कि परमाणुवाद से लेकर वनस्पति, रसायन आदि विविध विषयों का जैनागमों में जहाँ कहीं उल्लेख हुआ है, उसको ध्यान में रखकर विभिन्न विद्वानों ने पत्र-पत्रिकाओं के साथ ही विश्वकोश में भी उनका विवरण देकर शोध एवं अनुसन्धान को दिशा दी है। उनमें से जैनों के दिगम्बर साहित्य व दर्शन पर जर्मन विद्वान् वाल्टर डेनेके (Wlater Denecke) ने अपने शोध-प्रबन्ध में दिगम्बर आगमिक ग्रंथों की भाषा एवं विषयवस्तु दोनों का पर्यालोचन किया था। उनका प्रबन्ध सन् 1923 में हैम्बर्ग से प्रकाशित हुआ था।

भारतीय विद्वानों में डॉ. आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये, डॉ. हीरालाल जैन, पं. बेचरदास दोशी, डॉ. प्रबोध पण्डित, सिद्धान्ताचार्य पं. कैलाशचन्द्र, सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्द, डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री, पं. सुखलाल संघवी, पं. दलसुखभाई मालवणिया, डॉ. राजाराम जैन, डॉ. एच. सी. भयाणी, डॉ. के आर चन्द्रा, प्रो. सत्यरंजन बनर्जी, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन, डॉ. प्रेमसुमन जैन, डॉ. दामोदर शास्त्री, डॉ. छगनलाल शास्त्री आदि कई लेखकों के नाम भी उल्लेखनीय है। डॉ. उपाध्ये ने कई प्राकृत एवं अपभ्रंश के अनेक ग्रंथों का सम्पादन कर इस क्षेत्र में एक कीर्तिमान स्थापित किया था। अपभ्रंश के परमात्मप्रकाश, प्रवचनसार और तिलोयपण्णत्ति' जैसे ग्रंथों का सफल सम्पादन आपके द्वारा विद्वत् जगत को अनुपम देन है। आपने साहित्यिक तथा दार्शनिक- दोनों प्रकार के ग्रंथों का सुन्दर सम्पादन किया। आचार्य सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र का भी सुन्दर संपादन प्रस्तुत किया, जो बम्बई से

प्रकाशित हुआ। प्राच्य-विद्याओं के क्षेत्र में आपका मौलिक एवं अभूतपूर्व योगदान रहा है। डॉ. हीरालाल जैन और सिद्धान्ताचार्य पं. फूलचन्दजी ने धवला, जयधवला जैसे दूरूह सिद्धान्त ग्रंथों का सम्पादन एवं अनुवाद कर उन्हें बोधगम्य बनाया। अपभ्रंश ग्रंथों को प्रकाश में लाने का श्रेय डॉ. हीरालाल जैन, पी. एल. वैद्य, डॉ. हरिवल्लभ चुन्नीलाल भायाणी, पं. परमानन्द शास्त्री, डॉ. राजाराम जैन, डॉ. देवेन्द्रकुमार जैन और डॉ. देवेन्द्रकुमार शास्त्री को जाता है। पं. परमानन्द जैन शास्त्री के 'जैन ग्रंथ प्रशस्ति-संग्रह' के पूर्व तक अपभ्रंश की लगभग 25 रचनाएं ही विदित थी किन्तु उनके प्रशस्ति-संग्रह के प्रकाशित होने से 126 रचनाएँ प्रकाश में आई।

विगत 50 वर्षों में जहाँ प्राकृत व्याकरणों के कई संस्करण प्रकाशित हुए वहीं रिचर्ड पिशेल, सिल्वांलेवी और डॉ. कीथ के अध्ययन के परिणामस्वरूप संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा की महत्त्वपूर्ण भूमिका प्रकाश में आई। आर. स्मित ने शौरसेनी प्राकृत के सम्बन्ध में, जार्ज ग्रियर्सन ने पैशाची प्राकृत का, डॉ. जेकोबी तथा ऑल्सडोर्फ ने महाराष्ट्री तथा जैन महाराष्ट्री का और डब्ल्यु. ई. क्कर्क ने मागधी और अर्द्धमागध ी का एवं बनर्जी और शास्त्री ने मागधी का 'The Evalution of Magadhi', ऑक्सफोर्ड के रूप में सन् 1922 में विशेष अध्ययन प्रस्तुत किया था। भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से नित्ति डोल्वी का विद्वत्तापूर्ण कार्य 'Les Grammarian Prakrits' (पेरिस, 1938) प्रायः सभी भाषिक अंगों पर प्रकाश डालने वाला है। नित्ति डोल्वी ने पुरुषोत्तम के 'प्राकृतानुशासन' (पेरिस, 1938) तथा रामशर्मन् के तर्कवागीश के 'प्राकृतकल्पतरु' (पेरिस, 1939) का सुन्दर संस्करण तैयार कर फ्रांसीसी अनुवाद सहित प्रकाशित कराया। व्याकरण की दृष्टि से सबसे महत्वपूर्ण कार्य रिचर्ड पिशेल का 'Grammatik der Prakrit-Sprachen' अद्‌भुत माना जाता है, जिसका प्रकाशन 1900 में स्ट्रासवर्ग से हुआ।

भाषा विज्ञान के क्षेत्र में भी कई नवीन कार्य हुए। ध्वनिविज्ञान, पदविज्ञान, वाक्यविज्ञान तथा शब्दव्युत्पत्ति आदि विषयों का अध्ययन करने वालों में प्रमुख रूप से आर. नॉर्मन, एल. ऑल्सर्डोफ, लुइस एच.

ग्रेने, एस. एन. घोषल, एस. हेन्द्रिकसेन, पिसानी, के. अमृतराव, डॉ. ग्रियर्सन, एमेन्यु आदि प्रमुख हैं। इन्होंने प्राकृत एवं अपभ्रंश भाषा पर विभिन्न शोध-कार्य किए हैं। उनका अध्ययन आज भी महत्त्वपूर्ण दिशा निर्देश करने वाला है।

प्राकृत एवं अपभ्रंश अध्ययन के क्षेत्र में उक्त कार्यों के फलस्वरूप ही वर्तमान में भारत वर्ष में लगभग 4 लाख पांडुलिपियाँ ग्रंथ-भण्डारों, पुस्तकालयों आदि में सुरक्षित होने के प्रमाण हैं। उनमें से पचास हजार के लगभग पांडुलिपियां प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रंथों की है। एक ग्रंथ की अनेक पांडुलिपियां भी प्राप्त होती हैं। फिर भी अब तक लगभग 600 प्राकृत के एवं 200 अपभ्रंश के कवि/लेखक/आचार्य हुए हैं जिनकी लगभग 2000 कृतियां ग्रंथ-भण्डारों में उपलब्ध हैं। इनमें से अब तक लगभग प्राकृत के 350 ग्रंथ एवं अपभ्रंश के लगभग 100 ग्रंथ ही संपादित होकर प्रकाश में आए हैं। इनमें से भी कई अनुपलब्ध हो गए हैं। प्रकाशित सभी प्राकृत एवं अपभ्रंश ग्रंथ किसी एक पुस्तकालय में उपलब्ध भी नहीं है। इक्कीसवीं शताब्दी के अध्ययन के लिए अब तक प्रकाशित प्राकृत एवं अपभ्रंश के समस्त ग्रंथ किसी एक पुस्तकालय में उपलब्ध करना अति आवश्यक है। उक्त तथ्यों से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि इन विद्याओं में इतना कार्य होने पर भी अभी बहुत कार्य करना शेष रह जाता है। इसके अतिरिक्त पांडुलिपियों के सर्वेक्षण, सूचीकरण और सम्पादन के कार्य में लगने वाले विद्वानों की सूची में भी बहुत कम लोगों का ही नाम आता है।

भाषा-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं तथा उनकी विविध प्रवृत्तियों के मूल स्वरूप के अध्ययन की दृष्टि से भी मध्य भारतीय आर्य भाषाओं और विशेषकर प्राकृत एवं अपभ्रंश का अध्ययन आज भी उपयोगी एवं भाषा-जगत में अनेक नवीन तथ्यों को प्रकट करने वाला है। इस भाषा-विज्ञान की दृष्टि से इन भाषाओं का बहुत कम अध्ययन हुआ है। इतना अवश्य है कि यदि अध्ययन किया जाए तो ये भाषाएं आज भी शोध एवं अनुसंधान की दृष्टि से समृद्ध तथा नवीन आयामों को उद्घाटित कर सकती हैं।

प्राकृत एवं अपभ्रंश के क्षेत्र में विभिन्न विश्वविद्यालयों में शोध -

प्राकृत और अपभ्रंश शोध-उपाधियों तथा पीएच.-डी., डी.-लिट्, विद्यावाचस्पति विद्यावारिधि, डी.-फिल, लघु शोधप्रबंध (एम.ए. एवं एम.फिल के डिजर्टेशन के रूप में) आदि उपाधियों हेतु अनेक शोध-प्रबन्ध विभिन्न विश्वविद्यालयों में लिखे गये पर पहले उनकी कोई प्रामाणिक सूची प्रकाशित नहीं हुई थी। भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली ने प्राच्य विद्या सम्मेलन वाराणसी के अवसर पर एक जैन संगोष्ठी का आयोजन 1968 में किया था और ज्ञानपीठ पत्रिका का अक्टूबर 1968 का अंक, संगोष्ठी अंक के रूप में निकला था; जिसमें शोधकार्य तथा शोधरत छात्रों की सूची प्रकाशकों विद्वानों आदि परिचय दिया गया था। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान वाराणसी (उ.प्र.) से डॉ. सागरमल जैन एवं डॉ. अरुण प्रताप सिंह के सम्पादकत्व में सन् 1983 में एक सूची Doctoral Dissertations in Jain and Buddhist Studies के नाम प्रकाशित हुई थी। इसी प्रकार डॉ. गोकुलचन्द जैन, वाराणसी ने एक सूची संकाय पत्रिका सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के श्रमणविद्या अंक 1983 ई. में प्रकाशित की। 1988 में डॉ. कपूरचन्द जैन ने विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नई दिल्ली के आर्थिक सहयोग से Survey of Prakrit & Jainological Reasearch प्रोजेक्ट पूर्ण किया। जो रिपोर्ट आयोग को भेजी गई और 1988 में ही इस रिपोर्ट का प्रकाशन श्री कैलाशचन्द जैन स्मृति न्यास से प्राकृत एवं जैनविद्या : शोध संदर्भ नाम से हुआ। उसमें 452 शोध-प्रबन्धों की सूची थी। मई 1991 में प्राकृत एवं जैनविद्या शोध-संदर्भो का दूसरा संस्करण उक्त न्यास ने प्रकाशित किया जिसमें लगभग 600 देशी तथा 45 विदेशी छात्र-प्रबन्धों का परिचय था; साथ ही जैन विद्याओं के शोध निर्देशकों का संक्षिप्त परिचय दिया गया था। इसमें 95 शोध योग्य विषयों की सूची इसमें दी गई है। इसके बाद लगभग 145 और शोध-प्रबन्धों की जानकारी सन् 1993 में शोध-संदर्भ का परिशिष्ट निकाल कर दी गई। वर्तमान में लगभग 80 विश्वविद्यालयों से प्राकृत, अपभ्रंश एवं जैन विद्याओं में शोध-उपाधियाँ दी गई हैं। 20 से अधिक

विश्वविद्यालयों में प्राकृत, अपभ्रंश एवं जैनविद्या अध्ययन के लिए स्वतंत्र या संयुक्त विभाग है, इन शोध-संस्थानों में शोध कार्य कराये जाते हैं। इसी पुस्तक का परिवर्धित तृतीय संस्करण 2004 में पुनः निकाला गया। जिसमें कुल 1094 देशी (भारत), 131 विदेशी शोध प्रबंधों का परिचय है तथा 101 योग्य विषयों की सूची इसमें दी गई है जहाँ प्राकृत, अपभ्रंश एवं जैन विद्या पर शोध कार्य हुआ है। स्वतंत्र रूप से भी स्व संस्था जैन जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूँ, राजस्थान के शोध कार्यों का विवरण डॉ. समणी आगमप्रज्ञा एवं डॉ. वन्दना मेहता द्वारा 2009 में 'Jain Vishva Bharati and Jain Vishva Bharati Institute Research Work' के अन्तर्गत दिया गया। जिसमें इस संस्थान के प्रारंभ से लेकर 2009 तक के शोध कार्यों का समग्र विवरण दिया गया है।

प्राकृत एवं अपभ्रंश के प्रबन्धों एवं उच्चस्तरीय ग्रन्थों को प्रकाशित करने वाली संस्थायें बहुत कम है। इनमें भारतीय ज्ञानीठ, नई दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, जैन विश्व भारतीय संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूँ, राजस्थान, पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, इंस्टीट्यूट ऑफ प्राकृत जैनोलोजी एण्ड अहिंसा, वैशाली (बिहार), एल. डी. इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलोजी, अहमदाबाद (गुजरात), बी. एल. इन्स्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी, दिल्ली, श्री कुन्दकुन्द भारती प्राकृत संस्थान, नई दिल्ली, शारदाबेन इन्स्टीट्यूट अहमदाबाद, आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत शोध संस्थान, उदयपुर राष्ट्रीय प्राकृत-अध्ययन एवं शोध संस्थान, श्रवणवेलगोला, आदि के नाम लिए जा सकते हैं।

प्राकृत, अपभ्रंश एवं जैनविद्या संबन्धी शोध कार्य के विकास में निम्नलिखित मुख्य पत्रिकाएं निरन्तर कार्यशील हैं:-

श्रमण (वाराणसी), **तुलसीप्रज्ञा** (लाडनूँ), **जैन जर्नल** (अंग्रेजी-कलकत्ता), **प्राकृतविद्या** (दिल्ली), **अनेकान्त** (दिल्ली), **अर्हत्वचन** (इन्दौर), **सम्प्रज्ञा** (वाराणसी), **जैनविद्या** (श्रीमहावीरजी-राजस्थान), **शोधादर्श** (लखनऊ), **तीर्थंकर** (इन्दौर), **जिनवाणी** (जयपुर), **सम्बोधि** (अहमदाबाद), **जिनमंजरी** (अंग्रेजी-कनाडा), **प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार** (लखनऊ) आदि।

पूर्व में जैन सिद्धान्त भास्कर (Jain Antiquary) पत्रिका आरा (बिहार) से प्रकाशित होती थी जो जैन इतिहास एवं पुरातत्त्व आदि के क्षेत्र में सर्वोत्तम पत्रिका थी। जरूरत है ऐसी पत्रिकाओं का संपादन-प्रकाशन पुनः हो ताकि जैन इतिहास एवं पुरातत्त्व आदि के क्षेत्र में नवीन शोध सन्दर्भ प्राप्त हो सकें।

प्राकृत एवं अपभ्रंश अध्ययन को प्रमुख आचार्यों एवं मुनियों का अवदान

प्राचीन समय में जैनाचार्य एवं मुनियों ने प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य को समृद्ध करने और जैनविद्या की समुन्नति में अनुमप योगदान किया है। वर्तमान युग में भी कतिपय आचार्य एवं मुनि इस क्षेत्र में सक्रिय रहे। विगत सदी में जिन जैन सन्तों ने प्राकृत भाषा एवं साहित्य के विकास के कार्य को प्राथमिकता दी उनमें आचार्य राजेन्द्रसूरि, आचार्य आत्मारामजी महाराज (पंजाबी) प्राकृत के ग्रंथ शोधकर्ताओं के लिए आदर्श हैं। प्राकृत एवं जैन विद्या के क्षेत्र में श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के दो महान् आचार्यों-आचार्य श्री मुनि पुण्यविजयजी एवं उनके प्रमुख शिष्य जम्बूविजयजी का अभूतपूर्व योगदान है। वर्तमान में कुछ श्वेताम्बर मूर्तिपूजक आचार्यों द्वारा भी आगमों का संपादन संशोधन आदि का कार्य किया गया है। इन्होंने न केवल प्राकृत के ग्रंथों का संपादन एवं अनुवाद आदि का कार्य किया वरन् ऐसे अनेक ग्रंथ भण्डारों का निर्माण एवं संवर्द्धन करवाया जहाँ जीर्ण-शीर्ण हो रही अनेक पाण्डुलिपियों की सुरक्षा तथा संग्रहण किया गया। अनेक पांडुलिपि ग्रंथ-सूचियों का निर्माण स्वयं इन दो आचार्यों द्वारा किया गया। इन दोनों महान् विभूतियों द्वारा Prakrit Text Society, Ahmedabad and Varanasi, महावीर जैन विद्यालय, मुम्बई, सिंघी जैन सीरीज से कई महत्त्वपूर्ण ग्रंथ प्राकृत आगम एवं जैन विद्या से सम्बन्धित प्रकाशित हुए। इस प्रकार इन आचार्यों द्वारा जिनशासन की अपूर्व सेवा की गई।

विगत दशक में आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी ने प्राकृत की शिक्षा को अपूर्व गति दी। स्वर्गीय आचार्य श्री तुलसी के महान् प्रयत्नों से प्राकृत जैनागमों का संपादन अनुवाद और समीक्षात्मक टिप्पण एवं टीका का

कार्य हुआ। यहां से संपादित अनेक आगम ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं। आचार्य महाप्रज्ञ ने स्वयं प्राकृत भाषा एवं साहित्य में अभूतपूर्व वृद्धि की है। आचार्य तुलसी एवं आचार्य महाप्रज्ञ के सद्प्रयत्नों से प्रथम बार जैन विद्या एवं प्राकृत भाषा एवं साहित्य के उच्च अध्ययन और अनुसंधान हेतु एक विश्वविद्यालय की स्थापना सन् 1991 में हुई। जिसका नाम रखा गया जैन विश्वभारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूं। यह जैनों का एकमात्र विश्वविद्यालय है जिसे U.G.C. द्वारा मान्यता प्रदान की गई।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य विद्यानन्दजी महाराज प्राकृत भाषा के प्रचार-प्रसार के लिए समर्पित हैं। विश्वधर्म की रूपरेखा, श्रमण संस्कृति, समयसार, पिच्छी कमण्डलु, धर्म-निरपेक्ष नहीं सम्प्रदायनिरपेक्ष, प्रवचनमाला के दर्जनों प्रकाशित खण्ड, मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की संस्कृति, सम्राट सिकन्दर और कल्याणमुनि, सम्राट खारवेल, प्रियदर्शी सम्राट अशोक, शर्वबर्मन और उनका कातन्त्र व्याकरण : ऐतिहासिक परिशीलन, जैसी कृतियाँ इस क्षेत्र में उनके महत्त्वपूर्ण अवदान हैं। सन् 1995 से प्रत्येक ज्येष्ठ शुक्लापंचमी को प्राकृत-भाषा दिवस के रूप में मनाये जाने की योजना उन्हीं की प्रेरणा का सुपरिणाम है।

इसी प्रकार ला. ब. शा. राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली में आचार्य कुन्दकुन्द स्मृति व्याख्यानमाला का वार्षिक आयोजन, प्राकृत विषयक वार्षिक सार्टिफिकेट तथा डिप्लोमा कोर्स के पाठ्यक्रम का प्रारम्भ तथा स्वतन्त्र प्राकृत एवं जैन विद्या विभाग की स्थापना, प्राकृत एवं अपभ्रंश के विविध विषयों पर शोधकार्य कराने हेतु मार्गदर्शन आदि आचार्य विद्यानन्द के ऐतिहासिक योगदान कहे जा सकते हैं, जो प्राकृत भाषा एवं साहित्य के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखे जायेंगे।

प्रमुख रूप से जैनधर्म के प्रसार-प्रचार में संलग्न सन्तशिरोमणि आचार्य विद्यासागरजी महाराज का मुनिसंघ विशाल है। आपके अनेक शिष्य सम्पूर्ण देश में प्राकृत एवं जैनधर्म के विभिन्न विषयों पर ग्रंथों का संपादन एवं अनुवाद कार्य करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। कतिपय ग्रंथों को पुनर्मुद्रण द्वारा भी उपलब्ध कराया गया है।

वर्तमान में प्रचलित प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य की शोध प्रविधियाँ :

आधुनिक समय में प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में निम्न शोध-प्रविधियों का प्रयोग किया जाता है। साहित्य विषयक आधुनिक शोध-प्रविधियां इस प्रकार हैं :-

१. सैद्धान्तिक अध्ययन- ऐतिहासिक, समीक्षात्मक, सांस्कृतिक, दार्शनिक, भौगोलिक, तुलनात्मक, काव्यशास्त्रीय, भाषाशास्त्रीय, शैलीवैज्ञानिक आदि प्रविधियों को सैद्धान्तिक अध्ययन के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

२. आधुनिक समस्याओं के संदर्भ में अध्ययन- जैसे पर्यावरण, विश्वबंधुत्व, व्यक्तित्व विकास, पारिवारिक सामंजस्य, शिक्षा, धर्म एवं समाज, जातिवाद, आतंकवाद आदि के कारण और निवारण आदि समस्याओं के संदर्भ में प्राकृत साहित्य में विपुल सामग्री उपलब्ध है उस पर शोध कार्य करना।

३. पाण्डुलिपि विज्ञान से संबन्धित शोध कार्य- अभी भी हजारों प्राकृत पाण्डुलिपियां शास्त्र-भण्डारों में पड़ी है। उनका सम्पादन, संवर्द्धन आदि दुरूह कार्य तो है साथ ही उसका संस्कृति संरक्षण के क्षेत्र में अभूतपूर्व योगदान भी सिद्ध हो रहा है।

४. कोशगत अध्ययन- प्राच्यविद्या के क्षेत्र में अनेक कोशों का निर्माण हुआ है लेकिन प्राकृत के क्षेत्र में आज भी बहुत कुछ करना शेष है। एतद्विषयक प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। जैसे प्राकृत वाङ्मय कोश, सामाजिक कोश, व्यक्ति कोश, स्थान कोश आदि अनेक कोश संबन्धी शोध कार्य किए जा सकते हैं।

५. आधुनिक विज्ञान के संदर्भ में जैसे- चिकित्सा विज्ञान, रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, नृ विज्ञान, भू विज्ञान, मनोविज्ञान से सम्बद्ध प्राकृत वाङ्मय में ही नहीं सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय में प्रभूत सामग्री उपलब्ध है, इन पर भी अनुसन्धानात्मक कार्य किया जा सकता है।

भारत में प्राकृत अपभ्रंश अध्ययन से सम्बन्धित शोध-संस्थानों एवं विभागों की सूची :-

1. प्राकृत एवं संस्कृत विभाग, जैन विश्व भारती संस्थान (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूँ, राजस्थान

2. जैन विद्या एवं तुलनात्मक धर्म तथा दर्शन विभाग, जैन विश्व भारती संस्थान, (मान्य विश्वविद्यालय), लाडनूँ, राजस्थान
3. श्री कुन्दकुन्द भारती जैन शोध संस्थान, नई दिल्ली
4. प्राकृत भाषा एवं साहित्य विभाग, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
5. जैन विद्या विभाग, लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली
6. भोगीलाल लहेरचन्द भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, जी.टी. करनाल रोड़ अलीपुर, नई दिल्ली
7. पार्श्वनाथ विद्याश्रम, इन्दौर, मध्यप्रदेश
8. कुन्दकुन्द ज्ञानपीठ, इन्दौर, मध्यप्रदेश
9. राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान की 10 शाखाओं में 3 पर प्राकृत एवं पालि केन्द्रों की स्थापना
10. जैन विद्या अनुशीलन केन्द्र, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर
11. अपभ्रंश अकादमी, जयपुर
12. राजस्थान प्राकृत भारती अकादमी, मालवीय नगर, जयपुर
13. पाली प्राकृत विभाग, नागपुर
14. जैनालॉजी विभाग, धारवाड़
15. जैनोलॉजी प्राकृत विभाग, मैसूर
16. जैन विद्या एवं प्राकृत विभाग, सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर
17. आगम, अहिंसा-समता एवं प्राकृत शोध संस्थान, उदयपुर
18. संस्कृत एवं प्राकृत विभाग, वीर कुंवरसिंह विश्वविद्यालय, आरा (बिहार)
19. प्राकृत, जैनविद्या एवं अहिंसा शोध संस्थान, वैशाली, वासुकुण्ड, मुजफ्फरनगर (बिहार)
20. श्री देवकुमार जैन आरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, आरा (बिहार)
21. पालि एवं प्राकृत विभाग, गुजरात विद्यापीठ, अहमदाबाद
22. शारदाबहन चिमनभाई एज्युकेशनल रिसर्च सेंटर, अहमदाबाद
23. लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मंदिर, अहमदाबाद

24. राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान, श्रवणवेलगोला
25. जैन विद्या विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास
26. पालि एवं प्राकृत विभाग, विश्व भारती शांति निकेतन विश्वविद्यालय, पश्चिम कलकत्ता
27. प्राकृत एवं जैन आगम विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, बनारस (उ.प्र.)
28. जैन विद्या विभाग, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, बनारस
29. Jain Academy, Satelite, 2A2, Court Chambers, 35, New Marine Lines, Bombay
30. Research foundation for Jainology (Regd.), Sowcarpet, Chennai

प्राकृत एवं अपभ्रंश अध्ययन का विकास एवं भविष्य (दिशा)

प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य लोक साहित्य का एक विशाल भाग है। यह साहित्य वैश्विक संदर्भ में चिंतन और सिद्धान्तों की चर्चा से भरा पड़ा है। इसके द्वारा लोगों को परस्पर निकट आने का मार्ग प्राप्त होता है। आज इनके गहन एवं व्यापक अध्ययन की आवश्यकता है। इन भाषाओं के साहित्य के गहन अध्ययन और अनुसंधान से दिव्य रत्न प्राप्त हो सकते हैं जो मानव जाति को उन्नति की दिशा दिखा सकते हैं। प्राकृत एवं अपभ्रंश साहित्य में कलाओं, हस्तशिल्प, औषधि-विज्ञान, ज्योतिष, भूगोल, धातुविज्ञान, रसायनविज्ञान, पुद्गल विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, तत्त्वविज्ञान, तत्त्वचिन्तन, काव्य, चरित्र एवं कथातत्त्व आदि अनेक विषय आधुनिक भौतिक विज्ञान, वनस्पति विज्ञान एवं मनोविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। आचारशास्त्र, जीवविज्ञान, राजनीतिशास्त्र एवं अर्थशास्त्र के क्षेत्र में भी मौलिक चिन्तन को प्रस्तुत करते हैं। आवश्यकता इस बात की है कि प्राकृत आगम और अपभ्रंश साहित्य का पारम्परिक, दार्शनिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि के साथ-साथ वैज्ञानिक एवं मनौवैज्ञानिक दृष्टि से भी गहन अध्ययन किया जाए। इस दिशा में उत्साहशील अध्येताओं और अनुसंधित्सुओं को प्रेरणा और सहयोग देना आवश्यक है। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में अहिंसा, समता और अनेकान्त दर्शन जैसे विषयों की अपरिहार्य

उपयोगिता की आवश्यकता है।

संदर्भ :

1. जैन, गोकुल प्रसाद-विदेशों में जैन धर्म, श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन (धर्म संरक्षिणी) महासभा, लखनऊ, प्रिमि संस्करण, 2000

2. जैन, प्रेमसुमन-प्राकृत एवं जैन धर्म का अध्ययन (20वीं सदी के अंतिम दशक में), कुन्दकुन्द भारती प्राकृत संस्थान, नई दिल्ली, 2000

3. जैन, प्रेमसुमन-प्राकृत रत्नाकर (प्रमुख प्राकृत ग्रंथ, ग्रंथकार एवं संबन्धित विषय), राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं संशोधन संस्थान, श्रवणबेलगोला, कर्नाटक, प्रथम संस्करण 2012

4. जैन, देवेन्द्रकुमार शास्त्री-अपभ्रंश भाषा साहित्य की शोध प्रवृत्तियां, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, दिल्ली, परिवर्द्धित संस्करण, 1996

5. जैन, जगदीशचन्द्र- प्राकृत साहित्य का इतिहास, चौखम्भा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, द्वितीय संस्करण, 1984

6. पाण्डेय, हरिशंकर-प्राकृत साहित्य एवं आधुनिक शोध प्रविधियाँ(शोध आलेख-प्राकृत भाषा और व्याकरण के विविध आयाम, संपा.- राधावल्लभ त्रिपाठी पुस्तक में) राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 2012, पृ. 46-50

7. जैन, कपूरचन्द-प्राकृत एवं जैन विद्या शोध-संदर्भ, श्री कैलाश चन्द्र जैन मेमोरियल ट्रस्ट, खतौली, तृतीय परिवर्धित संस्करण, 2004

8. Banerjee, Dilip Kumar, The Contributions of French and German Scholars to Jaina Studies, Acharya Bhikshu Commemoration Volume, ed. by Kanhaiyalal Dugar, Section-II, Jain Swetamber Terapanthi Mahasabha, Calcutta, 1961.

- सहायक आचार्य,
संस्कृत एवं प्राकृत विभाग,
जैन विश्व भारती संस्थान, लाडनूँ (राजस्थान)

तीर्थङ्कर दिव्यध्वनि का वैशिष्ट्य

- प्रो. अशोक कुमार जैन

महापुराण में गर्भान्वय क्रिया के वर्णन में तीर्थंकर भावना का वर्णन है- ''मैं एक साथ तीनों लोकों का उपकार करने में समर्थ बनूँ'' इस प्रकार की परम करुणा से अनुरंजित अन्तश्चैतन्य परिणाम प्रतिसमय वर्धमान होने से परोपकार का जब आधिक्य होता है उससे दर्शनविशुद्धि आदि 16 भावनायें होती हैं जो परमपुण्य तीर्थंकर नामकर्म के बन्ध में कारण होती हैं। ये भावनायें सभी के नहीं होती, इनका होना दुर्लभ है। तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करने के पश्चात् केवलज्ञान की प्राप्ति होने पर बिना इच्छा के भगवान् अर्हन्त की वाणी खिरती है। चूंकि वे वीतराग होते हैं अतः वहाँ विवक्षा-बोलने की इच्छा नहीं होती। कहा भी है-

यत्सर्वात्महितं न वर्णसहितं न स्पन्दितौष्ठद्वयं,
नो वाञ्छाकलितं न दोषमलिनं न श्वासरुद्धक्रमम्।
शान्तामर्षविषैः समं पशुगणैराकर्णितं कर्णिभिः,
तन्नः सर्वविदः प्रणष्टविपदः पायादपूर्वं वचः॥

-समवशरणस्तोत्र ३०

जो समस्त प्राणियों के लिए हितकर है, वर्णसहित नहीं है, जिसके बोलते समय दोनों ओष्ठ नहीं चलते, जो इच्छापूर्वक नहीं है, न दोषों से मलिन है जिनका क्रम श्वास से रुद्ध नहीं होता, जिन वचनों को पारस्परिक वैरभाव त्याग कर प्रशान्त पशु गणों के साथ सभी श्रोता सुनते हैं, समस्त विपत्तियों को नष्ट कर देने वाले सर्वज्ञ देव के अपूर्व वचन हमारी रक्षा करें।आचार्य जिनसेन स्वामी ने महापुराण में लिखा है-

दिव्यमहाध्वनिरस्य मुखाब्जान्मेघरवानुकृतिर्निरगच्छत्।
भव्यमनोगतमोहतमोघ्न न्नद्युतदेष यथैव तमोऽरिः
एकतयोऽपि च सर्वनृभाषाः सोऽन्तरनेष्ट बहूश्च कुमाषाः।

अप्रतिपत्तिमास्य च तत्त्वं बोधयति स्म जिनस्य महिम्ना।।
एकतयोऽपि तथैव जलौधश्चित्ररसौ भवति द्रुमभेदात्।
पात्रविशेषवशाच्च तथायं सर्वविदो ध्वनिराप बहुत्वम्।।

एकतयोऽपि यथा स्फटिकाश्मा यदयदुपाहितमस्य विभासम्।
स्वच्छतया स्वयमप्यनुधत्ते विश्वबुधोऽपि तथाध्वनिरुच्चैः।।
देवकृतो ध्वनिरित्यसदेतद् देवगुणस्य तथा विहतिः स्यात्।
साक्षर एव च वर्णसमूहान्नैव विनार्थ गतिर्जगति स्यात्।।

- महापुराण २३/६९-७३

भगवान् के मुखरूपी कमल से बादलों की गर्जना का अनुकरण करने वाली दिव्यध्वनि निकल रही थी। यद्यपि वह एक प्रकार की थी तथापि सर्वभाषारूप परिणमन करती थी और लोगों का अज्ञान दूर कर उन्हें तत्त्वों का बोध करा रही थी। आगे आचार्य ने लिखा है कि कोई लोग ऐसा कहते हैं कि दिव्यध्वनि देवों के द्वारा की जाती है परन्तु ऐसा कहना मिथ्या है क्योंकि ऐसा कहने में भगवान् के गुण का घात होता है इसके सिवाय दिव्यध्वनि साक्षर होती है क्योंकि लोक में अक्षरों के समूह के बिना अर्थ का ज्ञान नहीं होता। चन्द्रप्रभकाव्य में दिव्यध्वनि के विषय में लिखा है-

सर्वभाषास्वभावेन ध्वनिनाथ जगदगुरुः।
जगाद गणिनः प्रश्नादिति तत्त्व जिनेश्वरः।। १६/४

जगत् के गुरु चन्द्रप्रभ जिनेन्द्र ने गणधर के प्रश्न पर सर्वभाषा स्वभाव वाली दिव्यध्वनि के द्वारा तत्त्वों का उपदेश दिया। हरिवंशपुराण में भगवान् की दिव्यध्वनि को हृदय और कर्ण के लिए रसायन लिखा है, **'चेतः कर्ण रसायनं'**। उन्होंने यह भी लिखा है-

जिनभाषाऽधरस्पदं मंतरेण विजृंभिता।
तिर्यग्देव मनुष्याणां दृष्टिमोहमनीनशत्।। १६/५

ओष्ठकम्पन के बिना उत्पन्न हुई जिनेन्द्र की भाषा ने तिर्यञ्च, देव तथा मनुष्यों की दृष्टि सम्बन्धी मोह को दूर किया था। दिव्यध्वनि के सम्बन्ध में जयधवला (पृ.1पृ. 126) में लिखा है-वह सर्वभाषामयी है, अक्षर-अनक्षरात्मक है, जिसमें अनन्त पदार्थ समाविष्ट हैं। (अनन्त पदार्थों

का वर्णन है), जिसका शरीर बीजपदों से घड़ा गया है। जो प्रातः मध्याह्न और सायंकाल इन तीन संध्यायों में छह-छह घड़ी तक निरन्तर खिरती और और उक्त समय को छोड़कर इतर समय में गणधरदेव संशय विपर्यय और अनध्यवसाय को प्राप्त होने उनके प्रवृत्ति करने (उनके संशयादि को दूर करने) का जिसका स्वभाव है, संकर और व्यतिकर दोषों से रहित होने के कारण जिसका स्वरूप विशद है और उन्नीस (अध्ययनों के द्वारा) धर्मकथाओं का प्रतिपादन करना जिसका स्वभाव है, इस प्रकार स्वभाववाली दिव्यध्वनि है।

तिलोयपण्णत्ति में इस दिव्यध्वनि के सम्बन्ध में वर्णन है कि यह 18 महाभाषा 700 लघुभाषा तथा और भी संज्ञी जीवों की भाषा रूप परिणत होती है। यह तालु, दन्त, ओष्ठ, और कण्ठ की क्रिया से रहित होकर एक ही समय में भव्य जीवों को उपदेश देती है।

भगवान् की दिव्यध्वनि प्रारम्भ में अनक्षरात्मक होती है, इसलिए उस समय केवली भगवान् के अनुभय वचन योग माना गया है। पश्चात् श्रोताओं के कर्णप्रदेश को प्राप्त कर सम्यज्ञान को उत्पन्न करने से केवली भगवान् के सत्य वचन योग का सद्भाव भी आगम में माना है।

प्रश्न-सयोग केवली की दिव्यधवनि को किस प्रकार सत्य अनुभय वचन योग कहा है?

उत्तर : केवली की दिव्यध्वनि उत्पन्न होते ही अनक्षरात्मक रहती है, इसलिए श्रोताओं के कर्ण प्रदेश से सम्बन्ध होने के समय तक अनुभय वचन योग सिद्ध होता है। इसके पश्चात् श्रोताओं के इष्ट अर्थो के विषय में संशय आदि को निराकरण करने से तथा सम्यग्ज्ञान को उत्पन्न होने से सत्य वचन योग का सद्भाव सिद्ध होता है। इस प्रकार केवली के सत्य और अनुभय वचनयोग सिद्ध होते हैं।

इस कथन से ज्ञात होता है कि श्रोताओं के समीप पहुँचने के पूर्व वाणी अनक्षरात्मक रहती है, पश्चात् भिन्न-भिन्न श्रोताओं का आश्रय पाकर वह दिव्यध्वनि अक्षररूपता को धारण करती है। स्वामी समन्तभद्र ने जिनेन्द्रदेव की वाणी को सर्वभाषा स्वभाव वाली कहा है यथा-

तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम् ।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि।। -स्वयम्भूस्त्रोत्र ९७

श्री सहित तथा सर्वभाषा स्वभाव वाली आपकी अमृत वाणी समवसरण में व्याप्त होकर अमृत की तरह प्राणियों को आनन्दित करती है।

चौंसठ ऋद्धियों में बीजबुद्धि नाम की रिद्धि का भी कथन आता है उसका स्वरूप राजवार्तिक में इस प्रकार कहा है-जैसे हल के द्वारा सम्यक् प्रकार से तैयार की गई उपजाऊ भूमि में योग्यकाल में बोया गया एक भी बीज बहुत बीजों को उत्पन्न करता है, उसी प्रकार नो इन्द्रियावरण, श्रुतज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय कर्म के क्षयोपशम के प्रकर्ष से एक बीज पद के ज्ञान द्वारा अनेक पदार्थो को जानने की बुद्धि को बीजबुद्धि कहते हैं। 'सुकृष्ट सुमथिते क्षेत्रे सारवति कालादि सहायापेक्षं बीजर्मेकमुप्तं यथानेक बीजकोटिप्रदं भवति तथा नोइन्द्रियावरण-श्रुतावरण, वीर्यान्तराय क्षयोपशम प्रकर्षे सति एकं बीजपद ग्रहणादनेक पदार्थप्रतिपत्ति र्बीजबुद्धिः।

- (राजवर्तिक अध्याय 3 सूत्र 66 पृष्ठ143)

इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि जिनेन्द्रदेव की बीज पदयुक्त वाणी से गणधरदेव बीजबुद्धि ऋद्धिधारी होने से अवधारण करके द्वादशांगरूप रचना करते हैं।

इस प्रसंग में यह बात विचार करने योग्य है कि प्रारम्भ में भगवान् की वाणी को झेलकर गणधरदेव द्वादशांग की रचना करते हैं, अतः उस वाणी में बीजपदों का समावेश आवश्यक है, जिनके आश्रय से चार ज्ञानधारी महर्षि गणधरदेव अंगपूर्वो की रचना करने में समर्थ होते हैं। वीरभगवान् की दिव्यध्वनि को गौतम गणधरदेव सुनकर **'बारहंगाणं चोद्दस पुव्वाणं च गंथाणमेक्केण चेव मुहुत्तेण कमेणरयणा कदा'** (धवला टीका भाग-1, पृ. सं. 65) द्वादशांग तथा चौदहपूर्व रूप ग्रन्थों की एक मुहूर्त में क्रम से रचना की।

इसके पश्चात् भी तो भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि खिरती रही है श्रोतृमण्डली को गणधरदेव द्वारा दिव्यध्वनि के समय के पश्चात् उपदेश प्राप्त होता है। जब दिव्यध्वनि खिरती है, तब मनुष्यों के सिवाय संज्ञी पंचेन्द्रिय, तिर्यञ्च, देवादि भी अपनी-अपनी भाषाओं में अर्थ को समझते हैं। इस से वीरसेन स्वामी ने उस दिव्य वाणी को 'सव्वभासासरूवा' सर्वभाषा स्वरूपा, भी कहा है। उस दिव्यवाणी की यह अलौकिकता है कि

उससे गणधरदेव सदृश महानुभाव ज्ञान के सिन्धु भी अपने लिये अमूल्यज्ञान निधि प्राप्त करते हैं तथा महान मंदमति प्राणी, सर्प, गाय, व्याघ्र, कपोत, हंसादि पशु-पक्षी भी अपने-अपने योग्य ज्ञान की सामग्री प्राप्त करते हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जिनेन्द्रदेव की दिव्यध्वनि अलौकिक वस्तु है, अनुपम है और आश्चर्यकारक है। उस वाणी के समान विश्व में अन्य कोई वाणी नहीं है। वाणी की लोकोत्तरता में कारण तीर्थंकर भगवान् का त्रिभुवन वन्दित अनन्त सामर्थ्य समलंकृत व्यक्तित्व है। सामर्थ्यसम्पन्न गणधरदेव महान महिमाशाली सुरेन्द्र आदि भी प्रभु की अपूर्व शक्ति से प्रभावित होते हैं। योग के द्वारा जो चमत्कारयुक्त वैभव दिखाई पड़ता है, वह स्थूल दृष्टि वालों को समझ में नहीं आता है, अतएव वे विस्मय के सागर में डूबे ही रहते हैं। दिव्यधवनि तीर्थंकर प्रकृति के विपाक उदय की सबसे महत्वपूर्ण वस्तु है क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति कर्म का बन्ध करते समय केवली, श्रुत केवली के पादमूल में इसी भावना का बीज बोया गया था कि इस बीज से ऐसा वृक्ष बने, जो समस्त प्राणियों को सच्ची शांति तथा मुक्ति का मंगल संदेश प्रदान कर सके। मनुष्य पर्याय रूपी भूमि में बोया गया यह तीर्थंकर प्रकृति रूप बीज अन्य साधन सामग्री पाकर केवली की अवस्था में अपना वैभव तथा परिपूर्ण विकास दिखाता हुआ त्रैलोक्य के समस्त जीवों को विस्मय में डालता है। आज भगवान् ने इच्छाओं का अभाव कर दिया है, फिर भी उनके उपदेश आदि कार्य ऐसे लगते हैं मानों वे इच्छाओं द्वारा प्रेरित हों। इसका यथार्थ में समाधान यह है कि पूर्व की इच्छाओं के प्रसाद से भी कार्य होता है। जैसे घड़ी में चाबी भरने के पश्चात् यह घड़ी अपने आप चलती है, उसी प्रकार तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध करते समय जन कल्याणकारी भावों का संग्रह किया गया था, वे ही बीज अनन्तगुणित होकर विकास को प्राप्त हुए हैं। अतः केवली की अवस्था पूर्व संचित पवित्र भावना के अनुसार सब जीवों को कल्याणकारी सामग्री प्राप्त होती है।

दिव्यध्वनि के विषय में कुन्दकुन्दाचार्य के सूत्रात्मक ये शब्द महत्वपूर्ण है- **'तिहुवणहिदमधुरविसदवक्काणं'** अर्थात् दिव्यध्वनि के द्वारा त्रिभुवन के समस्त भव्य जीवों को हितकारी, प्रिय तथा स्पष्ट उपदेश प्राप्त होता है। जब छद्मस्थ तथा बाल अवस्था वाले महावीर प्रभु के उपदेश के

बिना ही दो चारण रिद्धिधारी महामुनियों की सूक्ष्म शंका दूर हुई थी तब केवलज्ञान केवलदर्शनादि सामग्री संयुक्त तीर्थंकर प्रकृति के पूर्ण विपाक-उदय होने पर उस दिव्यध्वनि के द्वारा समस्त जीवों को उनकी भाषाओं में तत्व बोध हो जाता है इसमें कोई संदेह नहीं है।

'धर्मधर्माभ्युदय' में दिव्यध्वनि का वर्णन करते हुए लिखा है-

सर्वाद्भुतमयी सृष्टिः सुधावृष्टिश्च कर्णयोः।
प्रावर्तत ततो वाणी सर्वविद्येश्वराद्विभोः।। १६/२०

सर्व विद्याओं के ईश्वर जिनेन्द्र भगवान् के सर्व प्रकार के आश्चर्यो की जननी तथा कर्णों के लिए सुधा की वृष्टि के समान दिव्य ध्वनि उत्पन्न हुई। गोमटसार जीवकाण्ड की संस्कृत टीका में लिखा है कि तीर्थंकर की दिव्य ध्वनि प्रभात, मध्याह्न, सायंकाल तथा मध्यरात्रि के समय छह-छह घटिका काल पर्यन्त अर्थात् दो घण्टा चौबीस मिनट तक प्रतिदिन नियम से खिरती है। इसके सिवाय गणधर चक्रवर्ती, इन्द्र, सदृश विशेष पुण्यशाली व्यक्तियों के आगमन होने पर उनके प्रश्नों के उत्तर के लिए भी दिव्यध्वनि खिरती है। इसका कारण यह है कि उन विशिष्ट पुण्यात्माओं के संदेह दूर होने पर धर्मप्रभावना बढ़ेगी और उससे मोक्षमार्ग की देशना का प्रचार होगा जो धर्म तीर्थंकर की तत्त्व प्रतिपादन की पूर्ति स्वरूप होगी।

जयधवला टीका में लिखा है कि यह दिव्यध्वनि प्रातः मध्याह्न तथ सायंकाल इन तीन संध्याओं में छह-छह घड़ी पर्यन्त रिवरती है-**तिसंज्झ विसमछचडि यासुणिरंतरं पयट्टमाणिया (** भाग-1, पृष्ठ 126)

तिलोयपण्णत्ती में तीन संध्याओं में नवमुहूर्त पर्यन्त दिव्यध्वनि खिरने का उल्लेख है। लिखा है-

पगदीए अक्खलिओ संझत्तिसदयम्मि णवमुहुत्ताणि।
णिस्सरदि णिरुवमाणो दिव्वज्झुणी जाव जोयणयं।।

इसी ग्रन्थ में यह भी कहा है कि गणधर, इन्द्र तथा चक्रवर्ती के प्रश्नानुरूप अर्थ के निरूपणार्थ यह दिव्यध्वनि समयों में भी निकलती है, यह भव्य जीवों को छह द्रव्य, नौ पदार्थ, पाँच अस्तिकाय और सात तत्वों का नाना प्रकार के हेतुओं द्वारा निरूपण करती है।

तीर्थंकरों के वचन विषयक गुणों की चर्चा स्तोत्रों में अनेक स्थलों पर की गई है। यथा-

न शीतलाश्चन्दनचन्द्ररश्मयो न गाङ्गमम्भोः न च हारयष्टयः।
यथा मुनेस्तेऽनघवाक्यरश्मयः शमाम्बुगर्भाः शिशिरा विपश्चिताम्॥

-स्वयम्भूस्तोत्र १०/१

अर्थात् भगवान् के वचन रूपी किरणों से जो शीतलता प्राप्त होती है, वैसी शीतलता चन्दन से, चन्द्रमा की किरणों से, गंगा के जल से और मोतियों की मालाओं से प्राप्त नहीं हो सकती है।

परम आनन्दकारी, सुखकारी अमृतवत् प्रभु की वाणी अजर-अमर पद की दात्री है। यथा-

स्थाने गंभीरहृदयोदधि सम्भवायाः पीयूषतां तव गिरः समुदीरयन्ति।
पीत्वा यतः परमसम्मदसङ्गभाजो,भव्या व्रजन्तितरसाप्यजरामरत्वम्।

-कल्याणमन्दिरस्तोत्र २१

'विषापहारस्तोत्र' में भगवान् के वागातिशय को प्रगट करते हुए कहा गया है कि उनका वचन नानार्थक भी है एवं एकार्थक भी है, वह नाना लोगों के लिए एक ही अर्थ को सम्प्रेषित करता है, वह हितकारी भी है जिसे सुनकर व्यक्ति निर्दोषता को प्राप्त होता है। यथा-

नानार्थमेकार्थमदस्तदुक्तं, हितं वचस्ते निशमय्य वक्तुः।
निर्दोषतां के न विभावयन्ति, ज्वरेण, मुक्तः, सुगमः स्वरेण॥

-विषापहार स्तोत्र २९

तीर्थकरों के वचनों की महिमा अपार है। इन वचनों को श्रवण कर, उनका रहस्य समझकर स्वर्ग एवं मोक्ष की प्राप्ति की जा सकती है। यही बात व्यक्त करते हुए लिखा है-

शिवसुखमजरश्रीसगमं चाभिलस्य
स्वमभिनियमयन्ति क्लेशपाशेन केचित्
वयमिह तु वचस्ते भूपतेर्भावयन्त
स्तदुभयमपि शश्वल्लीलया निर्विशामः॥

- जिनचतुर्विंशतिका २१

अर्थात् हे प्रभो! जो मनुष्य आपके सिद्धांतों से परिचित नहीं है वे स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति के लिए तरह-तरह के नियम करते हैं- कठिन तपस्याओं के क्लेश उठाते हैं, फिर भी उन्हें प्राप्त नहीं कर पाते, पर हम लोग आपके उपदेश का रहस्य समझकर अनायास ही उन दोनों को प्राप्त कर लेते हैं।

मुक्ति के दुर्गम मार्ग को वीतराग की वाणी रूपी दीपक की सहायता से पार किया जा सकता है, अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति प्रभु के उपदेश से ही संभव है।

प्रच्छन्नः रवल्वयमघमयैरन्धकारैः समन्तात्
पन्था मुक्तेः स्थपुटितपदः क्लेशगर्तैरगाधैः।
तत्कस्तेन व्रजति सुखतो देव तत्त्वावभासा,
यद्यग्रेऽग्रे न भवति भवद्भारती रत्नदीपः ॥ -एकीभावस्तोत्र १४

अर्थात् निश्चय से यह मुक्ति मार्ग सब ओर से पाप रूपी अन्धकार के द्वारा ढका हुआ और गहरे दुःख रूपी गड्ढ़ों ऊँचे नीचे स्थान वाला है। हे देव! जीव, अजीव आदि तत्त्वों को प्रकाशित करने वाली आपको वाणी रूपी रत्नों का दीपक यदि आगे नहीं हो तो उस मार्ग से कौन पुरुष सुख से गमन कर सकता है अर्थात् कोई नहीं।

रयणसार में लिखा है-

अज्झयणमेव झाणं, पंचेंदिय-णिग्गहं कसायं पि।
तत्तो पंचमयाले, पवयणसारब्भास कुज्जाहो॥ ९०

तीर्थंकर महावीर की दिव्यध्वनि से प्रसूत आगम साहित्य का अध्ययन (मनन-चिंतन, स्वाध्याय) ही ध्यान है। उसी से पंचेन्द्रियों का सहज ही निग्रह होता है तथा कषायों का क्षय भी। अतएव (एकादश महाप्रयोजन की सिद्धि के लिए) इस पंचम काल में प्रवचनसार (जिन वाणी रूपसार-आगम सुभाषित) का अभ्यास करते रहना ही श्रेयस्कर है।

******

- जैन बौद्ध दर्शन विभाग,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी (उ.प्र.)

गोम्मटसार में कषाय मुक्ति प्रक्रिया का विवेचन

- वीरचन्द्र जैन, उदयपुर

अनादिकालीन परिभ्रमणशील संसार में, अनंतानंत जीव राशि है। जो सुख प्राप्त करना चाहते हैं तथा उसके उपाय अनेक प्रकार के कार्य करता है। जिसमें उसे सच्ची समझ न होने से वह अंधविश्वास, हिंसा एवं कषायों में प्रवर्तन करता है।

भगवान महावीर का जन्म हुआ जब चारों ओर अंधविश्वास, कुरीतियों की कालिख का पिशाच अपने हिंसक हाथों से क्रूरता की कलम लेकर संसार की स्याही से हत्या व हाहाकार का इतिहास लिख रहा था। येन केन प्रकारेण धन कमाने की लालसा ने अनैतिकता और आपाधापी की ऐसी आंधी उठा दी थी कि सात्विक संस्कार तिनकों की तरह तहस-नहस हो रहे थे। सभ्यता की सरिता और मनुजता की महानदी, हिंसा के प्रचण्ड ताप के कारण सूख जायेगी, परन्तु तीर्थंकर महावीर के जन्म के बाद समाज की दशा और सभ्यता तथा संस्कृति की दिशा में अमूल-चूल परिवर्तन आया।

अनादिकालीन दिग्भ्रांति का कारण मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म क्या है? तो गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-21 के भावार्थ में कहा है कि जो मोहे अर्थात् अचेत करे वह मोहनीय कर्म है। मोहनीय कर्म दो प्रकार का है- दर्शन मोहनीय और चारित्रमोहनीय। (गो.सार गाथा-26/27 में)

दर्शनमोहनीय का बंधन जीव को सत्मार्ग की अवहेलना करने से और असत्यमार्ग का पोषण करने से, आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि सत्य के पोषक आदर्शों का तिरस्कार करने से दर्शन मोहनीय कर्म का बन्ध होता है। (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय-6, सूत्र 13)

स्वयं कषाय करने से अर्थात् क्रोध, मान, माया, लोभ आदि प्रवृत्ति करने से, जगत उपकारी साधुओं की निन्दा करने से, धर्म के कार्यों में अंतराय करने से, मद्य, मांस आदि का सेवन करने से, निर्दोष प्राणियों में

दूषण लगाने से, अनेक प्रकार के संक्लेश परिणामों से चारित्रमोहनीय कर्म का बन्ध होता है। (राजवार्तिक पेज 525, गो.कर्म. गाथा 786 में) चारित्र मोहनीय कर्म की पच्चीस प्रकृतियां हैं- अनंतानुबंधी 16 और हास्यादि नोकषाय (गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-33 के भावार्थ में) जो संयम के मार्ग में व्यवधान उत्पन्न करते हैं और जिससे सत् मार्ग का द्वार नहीं खुल पाता है।

वर्तमान समय में कोई भी परिवार, समाज इन कषाय भावों से मुक्त नहीं है। इन की प्रबलता का कारण राग-द्वेष भाव है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-2 में कहा है कि-

''पयडी सील सहावो जीवंगाणं अणाइसंबंधो।
कणयोवले मलं वा ताणत्थित्तं सयं सिद्ध॥''

कारण के बिना वस्तु का जो सहज स्वभाव होता है उसको प्रकृति शील अथवा स्वभाव कहते हैं। जैसे अग्नि का स्वभाव ऊपर जाना, उसी प्रकार प्रकृति में यह स्वभाव जीव व कर्म का ही लेना चाहिए। जीव का स्वभाव रागादि रूप परिणमने का है और कर्म का स्वभाव रागादि रूप परिणमाने का है। अर्थात् राग से सहित होकर यह जीव अनेक प्रकार के पाप कार्यों में प्रवर्तन करता है वह इष्ट-अनिष्ट का विचार तक नहीं करता है।

गोम्मटसार कर्मकाण्ड, गाथा-2 के भावार्थ में राग से पीड़ित व्यक्ति को, शराब या भांग के नशे से पीड़ित बताया गया है कि जिस प्रकार शराबी व्यक्ति नशे में होने पर माता को पत्नि व पत्नि को बहिन कहता है उसी प्रकार राग-द्वेष से पीड़ित व्यक्ति को कषाय के उत्पन्न होने पर इष्टजन, पूजनीय, गुणीजनों का विचार भी नहीं रखता है और मन में उत्पन्न अनेक गलत विचारों का वाचन कर देता है। जिससे अपनी ही सज्जनता पर दाग लगता है, जो कि मानवीय मूल्यों का हनन है। मानव समाज में क्रोध के विपरीत क्षमाभाव, दया, करूणा, वात्सल्यभाव करना चाहिए और यह कार्य तभी संभव है जब हम गुणीजनों को देखकर के अपने हृदय में खुशी का भाव उत्पन्न करें। तब हम अन्य जीवों के प्रति दया दृष्टि कर सकेंगे व क्रोध कषाय पर विजय प्राप्त होगी।

आचार्य कल्प टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के पेज 53 पर क्रोध कषाय के उदय होने के बारे में कहा है कि-

1. क्रोधी व्यक्ति हृदय को घात करने वाले गाली आदि रूप वचनों को बोलता है।

2. अपने अंगों से तथा शस्त्र पाषाणादि से घात करता है।

3. अनेक कष्ट सहकर तथा धनादि खर्च करके व मरणादि द्वारा अपना बुरा करके अन्य का बुरा करने का विचार करता है।

4. अपने द्वारा बुरा न होने पर अन्य से बुरा करवाता है।

5. यदि किसी का कुछ नहीं कर पाये तो स्वयं का भी घात कर लेता है।

इस प्रकार इन कषायों के द्वारा यदि जीव मरण को प्राप्त होता है तो नियम से संक्लेश परिणाम सहित होने से नरक की प्राप्ति करता है। ऐसा ही कथन (छहढाला की प्रथम ढाल के पद-9) में वर्णित है यहां तक कि हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् रामचन्द्र शुक्ल ने अपने ''क्रोध'' नामक निबंध में कहा है कि क्रोध एक शान्ति भंग करने वाला मनोविकार है अत: क्रोध नामक कषाय के अभाव पूर्वक ही मानवीय मूल्य प्रकट होता है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा-293 में कृष्ण-नील लेश्याओं के द्वारा होने वाले आयु के बंधन से नरक आयु का फल प्राप्त होता है। प्रथम दो लेश्याओं वाले जीव अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों से सहित होते हैं। वही तत्त्वार्थ सूत्र में आचार्य उमास्वामी चारित्र मोहनीय के स्वरूप का वर्णन करते हैं कि-

'कषायोदयात्तीव्रपरिणाम चारित्रमोहस्य'॥१४॥

कषाय के उदय से होने वाला आत्मा का तीव्र कलुषित परिणाम होने से चारित्र मोहनीय कर्म के आश्रव का कारण है, यही आस्रव नरकायु का कारण है। 'सूत्र-15' इस प्रकार क्रोध के अभाव पूर्वक क्षमा धर्म प्रकट होता है, क्षमावान व्यक्ति के ही संयम, त्याग, धर्म आदि गुण प्रकट होते हैं। जिससे क्रोध कषाय का अभाव मानवीय मूल्यों के आधार से होता है।

1. हमें अपने आगामी परिणाम व उसके फल का विचार करना चाहिए।

2. क्रोधी व्यक्ति के क्रोध उत्पन्न होने पर सामने वाले व्यक्ति को शांत रहना चाहिए जब तक वह शांत नहीं हो जाता।

3. क्रोध के आवेश में हमें जबाव नहीं देना चाहिए।

4. कर्म के उदय का विचार करें कि हमारे कर्म के कारण ही हमें क्रोध कषाय उत्पन्न हुई है।

5. क्रोधी के क्रोध शांत होने पर क्षमा मागें।

6. क्रोधी की भावना के अनुरूप सम्यक् प्रवर्तन करने का प्रयास करें।

7. क्रोध कषाय के कारण जिन्होंने दुःख भोगे ऐसे व्यक्तियों के जीवन वृत्त का विचार करें।

जैसे:- 1. तुकारी (स्त्री) को कोई तु नहीं कह सकता था। 2. द्वैपायन मुनि द्वारा क्रोध।

8. क्रोध के आवेश में लिया गया निर्णय ठीक नहीं होता है।

9. क्रोध अन्धा होता है।

10. क्रोध हमेशा पर वस्तु पर होता है।

मानकषाय :-

अभिमान के कारण दूसरे के प्रति नमने की वृत्ति न होना मान है। मान भी अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्जवलन के भेद से चार प्रकार का है जो उत्तरोत्तर मन्द होता जाता है। इसकी उपमा, शैल, काष्ठ बौर बेंत से दी जाती है। इनका फल क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति की प्राप्ति है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती गोम्मटसार जीवकाण्ड में गाथा-285 में इसी तरह के भेद बताते हैं कि मान भी चार प्रकार का होता है। पत्थर के समान, हड्डी के समान, काठ के समान तथा बेंत के समान। ये चार प्रकार के मान भी क्रम से नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देवगति में उत्पन्न होते हैं।

मान कषाय के कारण जीव अनेक प्रकार के विचार करता है आचार्य कल्प पं. टोडरमल जी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक के तीसरे अध्याय, पेज 53 पर चारित्रमोहनीय के प्रकरण में मान कषाय के कारण दुःखी होकर जीव क्या करता है जो कहते हैं।

1. अपनी प्रशंसा व अन्य की निन्दा करना।
2. अनेक कष्टों से धन संग्रह किया उसे विवाहादि कार्यों में खर्च करना।
3. कोई सम्मान न करे तो उसे भय दिखाकर सम्मान करवाना।
4. जब कोई उसका सम्मान नहीं करता है तो वह अपना घाटा तक कर लेता है।

आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक-25 में मान के आठ भेद बताते हैं-

'ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धि तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥'

ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप शरीर इन आठ वस्तुओं के आश्रय से जो मद या घमण्ड किया जाता है उसे मान कहा है। अर्थात् जैसे क्रोध, किसी न किसी के आश्रित होता है, उसी प्रकार मान भी किसी न किसी वस्तु के आश्रित होता है और जिस वस्तु के आश्रित मान होता है उसे आचार्य ने आठ भागों में बाँटा है।

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा-285 में कहा गया है कि मान के उदय से अधोगति की प्राप्ति होती है। मान कषाय का अभाव मानवीय मूल्यों के आधार से होात है।

1. स्व-पर का ज्ञान होने पर हम मान कषाय से बच सकते हैं जैसे हम किराये के घर पर रहते है। लेकिन कभी अभिमान नही करते कि यह हमारा घर है।
2. सब जीवों का सामान्य स्वरूप विचार करने पर, जीव दूसरे जीव के प्रति अपमान का विचार भी नहीं करता है।
3. स्वभाव विचार करने पर मान नहीं होता परन्तु तत्कालीन वस्तु को देखने पर मान होता है। छोटा बड़ा दिखाई देता है।
4. पर्याय की क्षणभंगुरता पर विचार करने पर मान उत्पन्न नहीं होता है। जैसे- 'कहां गये चक्री जिन जीता भरत खण्ड सारा'।
5. मानियों के चरित्र का विचार करने पर मान नहीं होता- जैसे- रावण, सिकन्दर आदि।

दूसरी तरफ विचार करें तो पाते हैं कि मानी मान करते हुए भी

मानवीयता प्रकट करता है।

1. गरीब-भूखे को अन्न दान देना, ठंड के दिनों में आवास देना, आदि मानवीय मूल्य है।

2. मंदिर, धर्मशाला, नि:शुल्क विद्यालय खुलवाना आदि मानवीय मूल्य।

3. पशुओं के लिए सुरक्षित स्थान देना, पक्षियों के लिए जगह-2 पानी, दाना देना आदि।

माया कषाय -

गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 286 में माया का अर्थ कुटिलता, मायाचार, छलकपट है तथा सर्वार्थसिद्धि अध्याय-6, सूत्र-16 की टीका में कहा गया है- **'आत्मनः कुटिलभावो माया निकृतिः'** माया का दूसरा नाम निकृति या बंचना है माया कषाय भी अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान, संज्वलन के भेद से चार प्रकार की है। इनकी उपमा आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती गो.जीवकाण्ड गाथा-286 में करते हैं- माया कुटिलता की अपेक्षा बांस की जड़ के समान, मेढ़े के सींग के समान, गोमूत्र के समान, खुरपा के समान। इस प्रकार जीव को क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति की प्राप्ति होती है।

आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव के उन्नीसवें सर्ग में कहते हैं कि-

'जन्मभूमिरविद्यानाम् कीर्तेर्वासमन्दिरम्।
पापपंक महागर्तो निकृतिः कीर्तिता बुधैः॥५८॥
अर्गले वापवर्गस्य पदवी श्वभ्रवेश्मनः।
शीलशालवने बह्रिर्मायेयमवगम्यताम्॥५९॥

माया को इस प्रकार जानो कि वह अविद्या की जन्मभूमि, अपयश का घर, पापरूपी कीचड़ का बड़ा भारी गड्ढा, मुक्ति द्वार की अर्गला, नरकरूपी घर का द्वार और शीलरूपी शालवृक्ष के वन को जलाने के लिए अग्नि है।

तत्त्वार्थसूत्र अध्याय 6 सूत्र-16 में कहा है कि- **'माया तैर्यग्योनस्य'** माया तिर्यचगति का कारण है। इसलिए माया कषाय का अभाव मानवीय मूल्यों के आधार पर इस प्रकार है-

1. मायाचारी का घर, परिवार, समाज कोई विश्वास नहीं करता। अतः

मायाचार त्यागना चाहिए।

2. मायाचारी किसी तथ्य को अधिक समय तक छिपाकर नहीं रख सकता। ऐसा विचार कर मायाचार का त्याग करना।

3. मायाचार से किसी तथ्य को छिपाने के लिए झूठ का सहारा लेना पड़ता है और एक झूठ को छिपाने के लिए सौ झूठ बोलने पड़ते हैं इतने पर भी वह इसे छिपाने में असमर्थ रहता है।

4. मायाचारी के हृदय में सत्य एवं त्याग धर्म को प्रवेश नहीं होता क्योंकि मायाचार झूठ अथवा छल कपट के बिना नहीं होता है। जैसे- रत्नकरण्ड श्रावकाचार में कहा है कि जिस तरह टेड़े म्यान में सीधी तलवार प्रवेश नहीं कर सकती। उसी प्रकार जिनेन्द्र का सरल (सीधा) धर्म मायाचारी के वक्र (हृदय) में प्रवेश नहीं कर सकता है।

5. मायाचार करने से नीच गति एवं स्त्री पर्याय की प्राप्ति होती है। ऐसे शास्त्र वचन भी याद रखना चाहिए।

6. हमें अपने उपदेशों में मायाचार से होने वाली हानियाँ से जनता को अवगत करना चाहिए ताकि लोग मायाचार से मुक्त होकर मानवीय मूल्यों को बढ़ा सकें।

7. किसी तथ्य को छिपाकर उपदेश नहीं करना चाहिए क्योंकि उसका भेद खुलने पर मानवीय मूल्यों का ह्रास होता है।

8. निजी स्वार्थ के लिए कपट नहीं करना चाहिए।

9. मायाचार पूर्वक जाति, कुल आदि को नहीं छिपाना चाहिए क्योंकि उससे मानवीय मूल्य खत्म होता है।

लोभ कषाय -

धन आदि की तीव्र आकांक्षा या गृद्धि लोभ है। यह भी अनंतानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के भेद से चार प्रकार का है इनकी उपमा क्रमशः किरमजी का दाग, पहिये की कीचड़, काजल और हल्दी के रंग से दी गई है इसका प्रभाव उत्तरोत्तर मन्द होता जाता है। इसका फल भी क्रमशः नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति की प्राप्ति होती है। (गो. जीवकाण्ड गाथा-287)

आचार्य शुभचन्द्र ज्ञानार्णव के उन्नीसवे सर्ग में कहते हैं कि-

'स्वामिगुरुबन्धुवृद्धानवलावालांश्च, जीर्णदीनादीन्।
व्यापाद्य विगतशंको, लोभार्तो वित्तमादत्ते॥७०॥
ये केचित्सिद्धान्ते दोषाः श्वभ्रस्य साधकाः।
प्रभवन्ति निर्विचारं ते लोभदेव जन्तूनाम्॥७१॥

इस लोभकषाय से पीड़ित हुआ व्यक्ति मालिक, गुरु, बन्धु, वृद्ध, स्त्री, बालक तथा क्षीण, दुर्बल, अनाथ, दीनादि को भी निःशंकता से मारकर धन को गृहण करता है। नरक ले जाने वाले जो-जो दोष सिद्धान्त शास्त्रों में कहे गये वे सब लोभ से प्रकट होते हैं।

आचार्य कल्प टोडरमल जी मोक्षमार्ग प्रकाशक पेज 63 पर कहते हैं कि 'जब इसके लोभ कषाय उत्पन्न होती है। तब इष्ट पदार्थ के लाभ की इच्छा होने से, उसके साधनरूप वचन बोलता है। शरीर की अनेक चेष्टा करता है। बहुत कष्ट सहता है, सेवा करता है, विदेश गमन करता है। जिसमें मरण होना जाने वह कार्य भी करता है। इस प्रकार लोभी व्यक्ति व्यवहार करता है। इसलिए लोभ कषाय का अभाव मानवीय मूल्यो के आधार से इस प्रकार है :-

1. लोभ के कारण व्यक्ति अनेक पापों में प्रवर्तन करता है।
2. लोभी अनेक प्रकार के सावद्य कार्यों में प्रवर्त होता है। जिसमें अनंत जीवों का घात होता है। जैसे- अनावश्यक पेड़ काटना, अग्नि लगाना, पर्यावरण को दूषित करता और पेड़ों को काटकर, पेड़ों से होने वाले लाभों से वंचित करता है।
3. लोभी व्यक्ति अपने लोभ के कारण ऐसे उद्योग, व्यापार, कत्लखाने खोलकर, लाखों-करोड़ों बड़े-बड़े जीवों का घात करके वातावरण को प्रदूषित करता ही है। साथ ही अनेक जन्मों के पापों का संचय करता है।
4. लोभी धनादि के लोभ के खातिर मारना, चोरी करना, अपने निकटस्थ लोगों को मारने की सुपारी देना आदि असामाजिक कार्यों में प्रवर्त होता है।
5. पैसें का लोभी नावालिग लड़कियों को कैद रखना, वैश्यावृत्ति करवाना आदि कुसामाजिक कार्यों में प्रवर्त होकर मानवीय मूल्यों का ह्रास करता है।

6. लोभी धनादि के लोभ वश दूसरों की देखा-देखी धार्मिक कार्यों में भी प्रवर्त होता है किन्तु उसका परिणाम मलिन होने से उसे लाभ के वजह हानि ही होती है। जैसे- देखा-देखी, दान देना, देखा-देखी अन्य धार्मिक क्रियाएँ करना।

7. लोभ चाहे किसी चीज का क्यों न हो बुराई ही है। धन, संपत्ति, स्त्री, जमीन आदि का लोभ तो बुरा है ही इसे सारी दुनिया कहती है किन्तु शास्त्र में तो पुण्य के लोभियों की भी निंदा की है क्योंकि पुण्य का लोभी अन्य भव में अच्छे धन वैभव की प्राप्ति, निरोग शरीर, दीर्घ आयु चाहता है। जो जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं, जीवन का अंतिम लक्ष्य तो समस्त प्रकार की कषायों की निवृत्ति का मार्ग मोक्ष है।

अतः लोभ कषाय सर्वथा त्यागने योग्य है जो हमारे मानवीय मूल्यों के अंतर्गत है। इस संदर्भ में भगवती आराधना के श्लोक-1436 में कहा गया है कि पुण्य रहित मनुष्य को धन मिलता नहीं और लोभ न करने पर भी पुण्यवान के धन की प्राप्ति होती है। आगे भगवती आराधना के सूत्र 1437 व 1438 में कहा कि अनंतबार धन की प्राप्ति हुई है अतः इस धन के बारे में सोचना भी व्यर्थ ही है।

इस लोक और परलोक में कषाय दुःख ही देने वाली है गोम्मटसार जीवकाण्ड गाथा 288 में कहा है कि क्रोध, मान, माया, लोभ के कारण क्रमशः नरक, मनुष्य, देवगति की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार मानवीय मूल्यों के अंतर्गत संयम, तप, स्वाध्याय, चिंतन तभी सार्थक है जब हम इन कषायों से मुक्त हो जायेंगे। अतः जिस प्रयोजन की सिद्धि हो तो मेरा यह दुःख दूर हो और मुझे सुख हो ऐसा विचार कर उस प्रयोजन की सिद्धि होने के अर्थ उपाय करना ही श्रेष्ठ है। इस प्रकार के विचार हमारे अंदर में होने पर ही मानवीय मूल्यों को अपने जीवन में उतार सकेगें।

- मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,
उदयपुर (राज.)

आचार्य योगीन्द्रसागरकृत कालजयी कृति 'विभज्यवाद'

- डॉ. आनन्द कुमार जैन

जैनदर्शन की अविरल प्रवहमान धारा में द्वितीय शताब्दी के आचार्य समन्तभद्र तथा सातवीं शताब्दी के आचार्य अकलंक स्वामी ने दर्शन की विधा में न्याय का पुट प्रविष्ट कर तार्किक दृष्टि से आर्हत मत का मण्डन किया है। पश्चात्वर्ती आचार्य विद्यानन्दस्वामी, आचार्य प्रभाचन्द्र इत्यादि भी इसी कड़ी के यतिगण हैं। उपर्युक्त चिन्तकों ने स्वरचित रचनाओं से तत्कालीन प्रवहमान रूढ़ परम्पराओं को युक्तिसंगत रीति से खण्डित किया एवं अनेकान्तवाद से विरोध प्रतीत हो रहे जिनमुखोद्भूत तथ्यों में समन्वय दर्शाकर आर्हत दर्शन की ध्वजा को उच्चायमान रखा। इसके उपरान्त भी अपने-अपने काल में जैनाचार्यों ने इस परम्परा का निर्वाह किया।

इक्कीसवीं शताब्दी के अध्यात्म धुरन्धर, आशुकवि प्रखरचिन्तक, योग-साधक, आचार्य योगीन्द्रसागरजी महाराजश्री ने व्यस्ततम मुनिचर्या में शताधिक कृतियों की रचना करके जिनधर्म की पताका को स्थिरता प्रदान की है। इनमें सर्वज्ञ सहस्रनाम, निर्वाण काण्ड, योगीन्द्रगम्य स्तोत्र, नमस्काराष्टक, श्री ऋषभदेव भक्ति-भक्तामर, पंच बालयति स्तोत्र चतुर्विंशति स्तवन, इन्द्रभूति गौतम गणधर स्तोत्र, श्रीपार्श्वनाथाष्टक, वागीश्वरी स्तोत्र, निजात्म स्तोत्र, मुक्तिवल्लभ स्तोत्र, गौरक्षा स्तोत्र इत्यादि स्तुति पाठ हैं। ये रचनायें हिन्दी तथा संस्कृत में पद्यात्मक रूप में निबद्ध हैं।

आचार्यश्री संस्कृत हिन्दी, प्राकृत, अपभ्रंश के मर्मज्ञ विद्वान् हैं। आपकी स्तोत्र रचनाओं के अध्ययन करने पर आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी तथा आचार्य पूज्यपाद का सहज ही दर्शन हो जाता है। स्तोत्र में मनुष्यमात्र के कल्याण के साथ-साथ तिर्यक् का भी महिमामण्डन कर प्रकारान्तर से

जीवरक्षा का बिगुल बजाया है। वस्तुतः 'जिनेन्द्र' ने प्रत्येक प्राणी का समान अस्तित्व उद्घोषित किया है और प्रसिद्ध भी है कि ''काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'' कौए से दही की रक्षा करना चाहिए। कौआ यहाँ उपलक्षण है अर्थात् कौए के अतिरिक्त भी जो-जो दही का अपघातक है उन सबसे भी दही को बचाना चाहिए। इसी उक्ति का चरितार्थ रूप आचार्यश्री कृत गोरक्षा स्तोत्र में दृष्टिगोचर होता है। इस स्तोत्र में भी गोशब्द उपलक्षण है क्योंकि अन्य प्राणी मात्र के प्रति भी मनुष्य की करुणा दृष्टि होनी चाहिए, यही आचार्य श्री का भाव है। इस रचना में महालेखिका महाश्वेतादेवी की गाय की मार्मिक कहानी का भाव दृष्टिगोचर होता है जिसमें गाय की पीड़ा का साक्षात् अनुभव लेखिका ने प्ररूपित किया है।

काल की अपेक्षा यह रचना अत्यन्त प्रासंगिक है। वर्तमान में हिंसा का जो ताण्डव बूचड़खानों के माध्यम से चल रहा है उसकी गति अवरूद्ध करने के लिये सभी सन्त-महात्माओं का एकजुट होना परमावश्यक है। इसी कड़ी में गौ-रक्षा स्तोत्र आचार्य श्री का एक अभिनव प्रयास है। स्तोत्र रचना तो भक्ति तथा करुणा का प्रतिफल है। जो आचार्य कुन्दकुन्द से प्रारम्भ होकर वर्तमान समय में भी प्रचलित है।

जब आचार्यश्री की स्तोत्र-विधा से हटकर दर्शन-विधा का अध्ययन करते हैं तो इसमें पूर्ववर्ती दार्शनिक आचार्यों के पुट का आस्वाद होता है। पूर्व परम्परा में आचार्य अकलंक स्वामीकृत स्वरूप-संबोधन एक उच्चस्तरीय रचना है। पच्चीस कारिकाओं की यह लघुकृति अनेकान्तवाद का हार्द समेटे हुए है। ठीक उसी प्रकार आचार्यश्री की रचना 'विभज्यवाद' अपरनाम स्याद्वाद एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृति है। स्वरूप सम्बोधन में आचार्य अकलंक स्वामी ने सत्-असत्, एक-अनेक, अस्ति-नास्ति, तत्-अतत् इत्यादि परस्पर विरूद्ध प्रतीत होती विचारधाराओं में जिस प्रकार समन्वय स्थापित किया है उसी प्रकार आचार्यश्री ने विभज्यवाद में अविरोधी तत्त्वों की अनेकान्तदृष्टि से सार्थक समीक्षा प्रस्तुत की है और यदि इसे प्रकारान्तर से स्वरूप-संबोधन का प्रतिरूप माना जाय तो कोई आश्चर्य नहीं है।

आचार्यश्री की विभज्यवाद अपरनाम स्याद्वाद इक्यावन श्लोकों की एक लघु पद्यात्मक रचना है जिसका प्रकाशन 'नेशनल नॉन वॉयलेंस यूनिटी फाउण्डेशन ट्रस्ट', उज्जैन ने किया है। इसकी प्रस्तावना डॉ. श्रीमती कृष्णा जैन ने तथा भूमिका विदुषी सविता जैन ने लिखी है। इसके प्रारम्भ में पं. जवाहरलाल जी भिण्डरवालों का उच्चस्तरीय चिन्तनात्मक लेख है तथा आचार्य श्री एवं आपके गुरू परमपूज्य आचार्य श्री सन्मतिसागर जी का शुभाशीष वचन भी इसमें निबद्ध है।

ग्रन्थ प्रारम्भ में वसंततिलका छन्दोबद्ध मंगलाचरण के माध्यम से आदिप्रभु तीर्थंकर आदिनाथ भगवान् का स्मरण किया है। प्रथम श्लोक में ही भोगभूमि की आयु का उपभोग करने के कारण धर्मरहित जीवों को मुक्ति मार्ग में नियोजित करने वाले ऋषभदेव भगवान् को नमस्कार किया गया है। इस श्लोक में सिद्धान्त का जो हार्द आचार्यश्री ने विद्वानों के समक्ष प्रस्तुत किया है वह यह है कि चतुर्थकाल की सार्थकता तीर्थंकर के होने से है क्योंकि बिना कर्म के मुक्ति का मार्ग असम्भव है। यद्यपि तृतीयकाल में जन्म लेने वाला प्राणी चतुर्थकालोत्पन्न प्राणी की अपेक्षा ज्यादा पुण्य का उपभोग कर रहा है और सिद्धान्ततया नियम से अगले भव में स्वर्ग में उत्पन्न होगा तथापि वह पुण्य मोक्ष में साधक नहीं अपितु बाधक है जिसका परिष्कार राजा ऋषभदेव जो कि तत्कालीन नवीन व्यवस्थापक थे उन्होंने सामान्य जनसमूह के लिये दिया था।

ग्रन्थ में अरहन्त देव का स्तवन करने के उपरान्त क्रमशः शेष चार परमेष्ठियों को नमन किया है। तत्पश्चात् जिनमुखोद्भूत सरस्वती देवी को नमस्कार किया है। आराध्य की स्तुति के उपरान्त उदिद्ष्ट विषय का प्रतिपादन ग्रंथ के सातवें श्लोक में है। ग्रन्थ के नामकरण की सार्थकता हेतु विभज्यवाद की परिभाषा रूचिकर शब्दों में प्रस्तुत कर कहते हैं कि स्याद्वाद का द्वितीय नाम विभज्यवाद है। जिस दृष्टि से जिस प्रश्न का उत्तर दिया जा सकता है उसी दृष्टि से उत्तर देना चाहिए इसे ही सर्वज्ञ भगवान् ने स्याद्वाद कहा है। इसी का समर्थन अगले ही श्लोक में है, जिसमें कहते है। कि 'किसी एक ही प्रश्न के यथावकाश दृष्टिभेद से अनेक उत्तर हो सकते हैं। इसको सदा अपेक्षा से नित्य मानना चाहिए, यह सदुत्तर ही

बुद्धिगम्य है और इसी दृष्टि को स्याद्वाद, सापेक्षवाद या विभज्यवाद कहते हैं। स्याद्वाद की आवश्यकता को न समझने के फलस्वरूप ही जगत् में विषमता को बढ़ावा मिल रहा है। अतः एकान्त की यह कमी है कि एक समय में एक ही विषय को एकान्त से प्रस्तुत करके अन्य को स्वयं का विरोधी बना लेता है। उसके निवारणार्थ विभज्यवाद की उपयोगिता त्रैकालिक सार्थक है। यह एक श्लोक ग्रन्थ के महत्त्व को प्रमाणित करता है।

स्याद्वाद का अल्प प्रसिद्ध नाम विभज्यवाद है। यद्यपि दिगम्बर साहित्य में यह शब्द दृष्टिगोचर नहीं हुआ है किन्तु श्वेताम्बर साहित्य में सूत्रकृतांग के अन्तर्गत इसका प्रयोग मिलता है। पं. दलसुखभाई मालवणियाजी की पुस्तक 'आगम-युग का जैन-दर्शन' में विभज्यवाद का उल्लेख मिलता है। यथा विभज्यवाद शब्द बौद्ध तथा जैन-परम्परा में एक साथ प्रारंभ हुआ किन्तु बौद्धों की पश्चात्वर्ती परम्परा धारा ने एकांश अर्थ में इस शब्द का प्रयोग किया तथा आर्हत-परम्परा में इसका अनेकान्तिक अर्थ में प्रयोग किया।

विभज्यवाद, सापेक्ष कथन और अनेकान्तवाद ये सब समानार्थ है। मालवणियाजी कहते हैं- इस विभज्यवाद का मूलाधार 'विभाग करके उत्तर देना', ...। वास्तविकता यह है कि दो विरोधी बातों को एक सामान्य वस्तु में स्वीकार करके उसी को विभक्त करके दोनों विभागों में दो विरोधी धर्मों को संगत बताना विभज्यवाद है।

स्यात् शब्द के अर्थ के विषय में अज्ञानता है, वह स्यात् को तिङन्त पद मानने के कारण है परन्तु उसे निपात या अव्यय मानने से उसका समाधान हो जाता है। आ. समन्तभद्र, आ. अमृतचन्द, आ. मल्लिषेण ने स्यात् शब्द को अव्यय या निपात स्वीकारा है। पञ्चास्तिकाय की टीका में आ. अमृतचन्द कहते हैं 'स्यात्' एकान्तता या निषेधक, अनेकान्तता का प्रतिपादक तथा कथञ्चित अर्थ का द्योतक; एक निपात शब्द है।'[1] स्याद्वाद मंजरी में भी यही कथन है।[2] अतः स्यात् संशयपरक न होकर निश्चयार्थक प्रयोग है। 'स्याद्वाद एवं सप्तभंगी' की भूमिका में प्रो. सागरमल जी ने 'एव' शब्द का औचित्य दर्शाया है अर्थात् 'स्यादस्त्येव

घटः' में एव शब्द स्पष्ट करता है कि किसी अपेक्षा से ही यह घड़ा है। स्याद्वाद समग्र रूप में अनेकान्त है और प्रत्येक भंग की दृष्टि से सम्यक् एकान्त है। सम्यक् एकान्त और मिथ्या एकान्त में वैसे ही अन्तर है जैसे इन्जेक्शन का वैद्य के हाथ में या अबोध बालक के हाथ में होना अर्थात् वस्तु तो सर्वथा सम्यक् है परन्तु उसका सम्यक्त्व प्रयोग कर्ता पर आधारित है।

इन रचनाकारों ने इन्हीं विविध आत्मकल्याणकारी तथ्यों की खोज करके मानव किंवा जीवमात्र का कल्याण किया है। यहाँ जीवमात्र कहने का प्रयोजन यह है कि संसार में भटक रहे क्षुद्रतम जीव से लेकर सर्व सुविधा सम्पन्न मनुष्य में कोई अन्तर नहीं है। सभी को सामान्यरूप से दुःख कष्टकर तथा भोग सुखप्रद लगते हैं तथा ये सभी विवेक शून्य होकर संसार में किंकर्तव्यविमूढ़ भटकते हैं। इन्हीं जीवों को केन्द्र में रखकर समस्त जैन साहित्य स्रजित हुआ है। लेखक ने अन्य दर्शनों की जो तत्त्व विषयक मान्यतायें हैं उनका पूर्वपक्ष के रूप में कथन करके, उन-उन दर्शनों की त्रुटिपूर्ण दृष्टि को 'स्यात्' शब्द से परिमार्जित कर प्रस्तुत किया है। चूंकि जब 'स्यात्' शब्द कथन के साथ जुड़ता है तो वह वस्तु अथवा प्रश्न से सम्बन्धित अन्य पक्षों जिनका प्रसंग प्रश्नकर्ता ने प्रस्तुत किया है अथवा नहीं किया है उनकी रक्षा करता है जबकि अन्य दार्शनिक चिन्तकों की वाक्यविन्यास पद्धति प्रश्नगत अन्य पक्षों की रक्षा नहीं करती प्रतीत होती है। विभज्यवाद का उल्लेख करते हुए आचार्य योगीन्द्रसागरजी कहते हैं-

विभज्यवादोऽपि च नाम मान्यम्,
यया च दृष्टयोत्तरणीयमास्ते॥
तया समाधान-विधानकार्यम्,
स्याद्वादरूपं प्रवदन्ति विज्ञाः॥१०॥ (विभज्यवाद)

उपर्युक्त श्लोक का हार्द यह है कि जिस अपेक्षा से प्रश्न प्रस्तुत हुआ है उसी अपेक्षा अथवा भावना को जानकर उसका उत्तर देना स्याद्वाद है। अगला प्रश्न यह है कि इस भावना की रक्षा करने की आवश्यकता क्यों है; इसका स्पष्टीकरण अगले श्लोक में दिया है कि एक ही प्रश्न के एकाधिक उत्तर हो सकते हैं किन्तु जिस भाव से प्रश्न उपस्थित हुआ है

उस भाव की रक्षा करना स्याद्वाद में ही सम्भव है। इसी तथ्य को उजागर कर आचार्य योगीन्द्रसागरजी कहते हैं-

एकान्तवादे ननु चैक दृष्टेः,समर्थनं केवलमेवमत्र।
कदापि सामान्य-विशेषभावे, कदापि सदसद् विषये तथैव॥१२॥
(विभज्यवाद)

सूक्ष्मता से विचार करें तो 'स्यात्' विहीन जो ऐकान्तिक दृष्टि है उसको हठवाद भी कह सकते हैं क्योंकि जहाँ मात्र 'ही' को स्थान हो तथा अन्य का निषेध हो वहाँ प्रत्यक्ष रूप से अन्य की वाचनिक हिंसा होती है। अतः परमत का आदर स्याद्वाद में निहित है।

इसके अतिरिक्त भी यदि अन्य पक्षों को देखें तो न्याय-दर्शन की विधा पर आधारित ग्रन्थ-परम्परा, जिनका सम्बन्ध जैनन्याय से है, उनमें पूर्व पक्ष का विधिवत् उल्लेख करके जब उत्तरपक्ष दिया गया है तो वहाँ जैनाचार्य स्वयं कहते हैं 'आपके कथन से हमें कोई विद्वेष नहीं है क्योंकि यदि आपके कहने का आशय यह है तो इस आधार पर तो हम भी इसे सहज ही स्वीकारते हैं' किन्तु यदि आप इसके अतिरिक्त किसी अन्य आशय से कथन का प्रस्तुतीकरण कर रहे हैं तो इस पर आपत्ति है। अतः वे (जैनाचार्य) परमतावलम्बी को भी प्रकारान्तर से यथार्थ उत्तर का मार्ग दर्शाते हैं। अतः यह स्याद्वाद की ही कला है जो अन्य चिन्तकों को भी यथोचित मार्ग दर्शाकर उस मार्ग में अवस्थित करते हैं और यही सकारात्मक सोच है।

यह निश्चित तौर पर आश्चर्य का विषय है कि अत्यन्त सामान्य दृष्टिकोण (स्याद्वाद का दृष्टिकोण) को नित नवीन दर्शनों का सृजन करने वाले न समझ सकें। उन्हीं अबूझ तथ्यों को आचार्य श्री ने इस कृति में समाहित किया है।

दर्शन में कार्य-कारण विचार अत्यधिक सामान्य पक्ष है अर्थात् बिना इसके दर्शन तथा न्याय का कथन अपूर्ण है। परन्तु इस बिन्दु पर भी वैचारिक वैमत्य हैं और जो वैमत्य हैं वह भी प्रायः त्रुटिपूर्ण हैं। दर्शन में जहाँ कारण के बिना कार्योत्पत्ति का अस्तित्व मानते हैं उस पर आचार्यश्री शंका व्यक्त करते हैं; अर्थात् जो कारण की अनुपस्थिति में भी कार्य की

उपस्थिति तथा नवीन-कार्योत्पत्ति मानते हैं वे सर्वथा गलत हैं। प्रयोजन रहित कोई भी कार्य संसार में दृष्टिगत नहीं होता। अतः प्रयोजन (कारण) का निषेध करना अनुचित और बेबुनियाद है। इसके संदर्भ में ग्रन्थ में लिखा है -

केचिज्जगन्निर्वचनीयमेतत्,नास्त्येव सदसत् कदापि नैव॥
अन्य तथाऽर्वचनीयमास्ते, सम्भाव्यते लक्षणरूपमस्य॥१६॥

गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो सम्पूर्ण स्याद्वाद के सिद्धान्त का सार अपेक्षापूर्वक कथन करना है किन्तु जितना सरल, सहज यह मन्त्र है उतना ही प्राणवायुवत् इसका प्रयोग सर्वत्र अनिवार्य है और इस तथ्य के नकारने पर वस्तु-व्यवस्था का विनाश होता है। जब तक एकान्तवाद का दुराग्रह नहीं छूटता, तब तक तत्त्व का पूर्ण बोध नहीं हो सकता क्योंकि एकान्तवाद में किसी वस्तु के एक धर्म को सर्वथा मिथ्या मानने से वस्तु की पूर्णता खण्डित होती है, क्योंकि कहा भी है:-

दुराग्रहं नैव जहाति यावत्, तावन्न तत्त्वस्य च पूर्णबोधः॥
एकस्य धर्मस्य च सत्यमान- मसत्यमन्यस्य मतं न मान्यम्॥२३॥

इस कृति में आचार्यश्री ने नवीन चिन्तन प्रस्तुत किया है 'कि जिस वस्तु में विरोधी धर्मों का साहचर्य विद्वानों को रुचिकर नहीं है वे विरोधी धर्म उस वस्तु अथवा पदार्थ द्वारा सहज ही स्वीकार किये जाते हैं' इसको और विस्तार से समझे तो प्रतिध्वनित होता है कि ज्ञान का विषय ज्ञेय है तथा ज्ञेय का बोध चेतन को होता है किन्तु मिथ्या मान्यताओं से बद्ध चेतन द्रव्य जिस विरोधी धर्मयुक्त तथ्य को अज्ञानतावश अस्वीकारता है उसी विरोधी धर्मयुक्त तथ्य को ज्ञेय गुण से रहित अचेतन द्रव्य स्वयं में आश्रय प्रदान करता है।

विविध लाञ्छनों का परिष्कार करते हुए आचार्यश्री कहते हैं कि जिस द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव के आधार पर अस्तित्व की सिद्धि होती है यदि उसी को आधार करके नास्तिक की भी सिद्धि हो तो परस्पर व्याघात दोष होता है किन्तु आर्हत दर्शन में पदार्थ (वस्तु) के विविध गुणों के अनेक पक्षों को विभिन्न उपायों से स्पष्ट किया गया है जिसमें दोष मानना असंगत है। साधारणतः विद्वत्वर्ग की मान्यता यह है कि जो अस्ति है उसे

ही आर्हत दर्शन नास्ति मानता है किन्तु ऐसा कदापि नहीं है क्योंकि जो अस्ति है वही अस्ति है, जो नास्ति है; वही नास्ति है; अस्ति: नास्ति नहीं है नास्ति: अस्ति नहीं है। अत: यह स्याद्वाद का सिद्धान्त स्ववचनबाधित नहीं है इसी बिन्दु को इंगित कर आचार्य योगीन्द्रसागर जी कहते हैं-

अस्तित्व नास्तित्व मिथश्च तथैव वाच्यम्
वीरेण पूर्वं विहिता परीक्ष्या।
अस्तीह सर्वं च तथैव नास्ति,
यथा यदास्ते च तथैव वाच्यम्॥३१॥

इस श्लोक से पूर्व आचार्य श्री जिस उदाहरण के द्वारा जीव द्रव्य में एकत्व तथा अनेकत्व की सिद्धि करते हैं उसके पाठ करने पर भगवत् गीता का वह श्लोक सहज ही समक्ष में उपस्थित हो उठता है जहाँ लोकनायक श्रीकृष्ण स्वयं को ही एक रूप तथा स्वयं को ही अनेक रूप में कहते हैं। दोनों ही श्लोकों की साम्यता अद्‌भुत् है-

द्रव्येषु सिद्धा च मतैक तेयम्,
अनेकता तत्र च वर्तमाना।
द्रव्यस्य दृष्ट्या त्वहमेक एवं,
अनेक रूपो ह्युपयोग दृष्ट्या॥३०॥ (विभज्यवाद)

भारतीय दर्शन में अनेकान्तवाद का उपदेश एक विलक्षण कथन है क्योंकि यह अन्य दर्शनों के मिश्रण का प्रतिफल नहीं है अपितु उनका परिष्कृत रूप है। इसे इस उदाहरण से सरलतया समझा जा सकता है जहाँ जौहरी; काँच के गन्दे टुकड़े समझ कर बच्चों द्वारा फेंके गये कीमती रत्नों को यथोचित तरासकर सदुपयोग करता है उसी प्रकार अन्य दूषित नेत्रों से दोषयुक्त समझे गये वस्तुधर्म को निर्दोष नेत्रों से देखकर स्याद्‌वाद का स्वरूप सदुपयोग में लिया जाता है। ग्रन्थ के मंगलाचरण में जहाँ उपाध्याय परमेष्ठी का स्मरणपूर्वक स्तवन है वहाँ 'सिद्धान्तपार प्रदम्'[3] विशेषण का प्रयोग है; यह विशेषण देखने में जितना सरल है उसमें उतनी ही गम्भीर भी है। क्योंकि जब सामान्य ज्ञानधारी को सिद्धान्त में विरोधाभास दिखता है तब स्याद्‌वाद का दृष्टिकोण ही उन विरोधी धर्मों में सामंजस्य की लौ जलाता है।

जैन-दर्शन पदार्थ को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक कहता है किन्तु जिसकी उत्पत्ति हो रही है उसीका विनाश भी हो रहा है तथा इन्हीं दोनों प्रक्रियाओं के मध्य में पदार्थ का स्थायित्व भी कायम है यह कहना कठिन लगता है। अतः यहाँ स्याद्वाद से यह समझ आता है कि परिवर्तन का नाम ही उत्पाद (उत्पत्ति) तथा व्यय (नाश) है तथा एक साथ सम्पूर्ण नाश होने पर या आंशिक नाश होने पर भी वस्तु का स्थायित्व बना रहता है यथा जगत्प्रसिद्ध श्लोक है-

घटमौलिसुवर्णार्थी नाशोत्पादस्थितिष्वयम्।
शोक-प्रमोद-माध्यस्थ्यं जनो याति सहेतुकम्।।[४]

स्याद्वाद के चरमोत्कर्ष को अनुभव करना हो तो आचार्य अकलंकस्वामी कृत स्वरूप-सम्बोधन का अध्ययन अवश्यमेव करना चाहिए। आप ग्रन्थ के मंगलाचरण में ही सर्वथा विरोधाभास कथन करके पाठकों को अचम्भित करते हैं। ग्रन्थ में परमात्मा को मुक्तरूप तथा अमुक्तरूप एक साथ कहा है, परमात्मा कर्मादि कर्ममल कलंकों से मुक्त हैं किन्तु ज्ञानादि क्षायिक गुणों से संयुक्त हैं। अतः परमात्मा मुक्त-अमुक्त दोनों ही हैं।[5] इसी प्रकार आत्मा को चेतनात्मक-अचेतनात्मक कहा है; प्रमेयत्वादि धर्म के कारण अचेतन हैं ज्ञान-दर्शन गुण के कारण चेतन हैं।[6]

ग्रन्थ में आचार्य श्री योगीन्द्रसागर जी ने उस संदेह को दूर किया है जहाँ स्याद्वाद के सप्त भेदों को परवर्ती आचार्यों के चिन्तन की उपज समझा। वस्तुतः ये सप्तभेद तीर्थंकर उपदिष्ट हैं पश्चाद्वर्ती आचार्यों ने मात्र विषय को स्पष्ट किया है तथा गूढ़ शब्दों में उलझी विद्वत्-सुगम शैली को सामान्य सुलभ किया है।

संदर्भ :

1. सर्वथा निषेधकोऽनेकांतता द्योतकः कथंचिदर्थे स्यात् शब्दो निपातः। पं.का. टीका
2. स्यादित्यव्ययमनेकां द्योतकं। स्या. मं.
3. चारित्रोज्जवल....।।4।।
4. आप्तमीमांसा, श्लोक 59
5. मुक्तामुक्तैकरुपोयः....।।1।।
6. प्रमेयत्व......।।3।।

- प्राध्यापक, जैन-दर्शन विभाग,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्था,
गोपालपुरा बाईपास, त्रिवेणी नगर, जयपुर-302018

Scientific approach to Human Body and Its Nature as described in Bhagwati Aradhana

- Dr. Pulak Goyal

Jain scriptures are amongst world's oldest and authentic storehouses of knowledge. These not only reveal the path of salvation for living beings but also provide realities of life in which they are indulged. The motive of describing the worldly things is to clarify the state of sufferings which they suppose to be the happiness of life. While in this process, mankind has received enormous knowledge about other non-living materialistic things too. Human Body is one of them. Jain books say that every living being gets a body from its birth and departs from it at the time of death; and after that again gets a birth with a new body. This process continues till he completely destroys all the karmas attached to him and becomes a liberated soul.

The soul has no shape or size, but as it enters the body at the time of birth, it expands or contracts itself according to the size and shape of body. As water gets mixed with milk, so is the case with body and soul.[1] Modern scientific researchers have toiled a lot to get thorough knowledge about body, but they are still awaiting to observe the soul with their equipments. When one compares the structure of human body as described in the scriptures with the science of nowadays, he certainly comes to the fact that science has proven many facts depicted in the Jain Canons and yet they have to travel a lot to reach the ends of it. Jain literature contains a lot more valuable facts about this materialistic world. Just it needs to be valued and visualized in the light of modern aspects.

This short article deals with 'Human Body and Its Nature' as described in Bhagawati Aradhana.

Bhagawati Aradhana is a sacred scripture written in Saurseni Prakrit language by Acharya Shivarya in 2164 gathas. This is supposed to be written in the first half of first century A.D.[2] The work is related to the code of conduct of Jain monks. Reverend Acharya has logically proven the unsacred nature of human body. Human body is dirty like the Ghevar (a kind of sweet made up of wheat powder and filled with Ghee) made up of filth, because its cause is semen of man and raj of woman.[3]

Formation of Body in womb-

Acharya Shivarya has illustrated all the stages of embryo in the womb of mother which is very much similar to that of modern medical sciences. The embryo lives in womb for nine or ten months. Womb is situated below aamashaya and above pakvashaya i.e. between both filthy areas. Embryo is covered with vasti patal i.e. a net or cover made up of flesh and blood.[4]

The seed, mixture of mother's raj and father's semen, remains in the womb for ten days in the form of Kalala. For next ten days it remains in the form of blackness and after that it gets stable for another ten days. After this it remains in the form of bubble for a month. Then it gets density (solidity) for another month. After that it develops in the form of flesh (muscle). In the fifth month, five sprouts appear from that muscle i.e. two hands, two legs and one head. These sprouts gradually develop in the form of limbs and other subdivisions in the sixth month.[5]

Jain books reveal the number of limbs as eight. These are - Head, two hands, two legs, stomach, back and buttock. Neck, ears, eyes, nose, fingers etc. are called upangas (sub limbs).

While reaching the seventh month, formation of skin, nails and hairs commence. On the eighth month movement is felt in the womb and on the ninth or tenth month it comes out from womb. Thus the infant gets its birth.[6]

Acharya Shivarya reveals that the mouth of womb (uterus) i.e. vagina is the birth place of it. That place is dirty, not worthy to be seen,

with bad smell and also is the gate for discharge of urine and blood. The utterance of its name itself is shameful.[7]

Feeding system of embryo in womb-

Embryo gets its food from his mother. The food chewed by teeth, becomes slippery with the mixture of phlegm (kafa), while mixed with pungent bile (pitta) reaches embryo. In this condition it becomes dirty like vomit. Whatever she eats it reaches to him in form of vomit. With the help of wind humour (vata) liquid part (rasa) gets separated from the solid part (khala). This in the form of drops reaches the embryo and is absorbed from all the sides. This shows that embryo receives the liquid which is the juice of food eaten by mother. This process continues till the sixth month. On seventh month, embryo develops a naval (nabhi) which is like a hollow stalk of Lotus. After formation of naval the embryo gets vomited food from its mother directly through it.[8]

On comparing this process with the science of nowdays, we find some differences. As five sprouts appear in the fifth month according to Acharya Shivarya but medical science clearly shows this step after fourth week. Other steps like sprouting of limbs and sub limbs etc. are also stated earlier by them. Even the heart beat is observed by them at the stage of bubble i.e. after one month. Movement of embryo is also stated before the eighth month. They believe the formation of naval much earlier too.

Internal parts of Human Body-

Acharya Shivarya has detailed internal parts of human body more splendidly. In many places we can easily find that modern scientists are lagging far behind to him. Reverend Acharya states that there are three hundred bones in the body filled up with filthy marrow (bone marrow) and the whole body contains three hundred joints too.[9]

Here science says, 'A typical adult human skeleton consists of 206 bones, not counting many small and often variable sesamoid bones and ossicles. Individuals may have more or fewer bones than this owing to

anatomical variations. The most common variations include additional (i.e. supernumerary) cervical ribs or lumbar vertebrae. Sesamoid bone counts also may vary among individuals. The figure of 206 bones is commonly repeated, but must be noted to have some peculiarities in its method of counting. As noted below, the craniofacial bones are counted separately despite the synostoses, which occur naturally in the skull. Some reliable sesamoid bones (e.g., pisiform) are counted, while others (e.g., hallux sesamoids) are not. The count of bones also changes with age, as multiple ossific nuclei joined by synchondroses fuse into fewer mature bones, a process which typically reaches completion in the third decade of life. A joint or articulation (or articulate surface) is the location at which bones connect. They are constructed to allow movement (except for skull, sacral, sternal, and pelvic bones) and provide mechanical support, and are classified structurally and functionally.'[10]

Acharya Shivarya carries on his description by stating that there are nine hundred nerves, seven hundred blood vessels (arteries or veins or capillaries) and five hundred muscles. There are four groups of nerves (shira jala), sixteen sinews (principal vessels or large arteries), six roots of nerves and two cords of muscles (mansa rajju) in the body, one rests at back and other on stomach.[11]

Scientists believe that- The blood vessels are the part of the circulatory system that transports blood throughout the human body. There are three major types of blood vessels: the arteries, which carry the blood away from the heart; the capillaries, which enable the actual exchange of water and chemicals between the blood and the tissues; and the veins, which carry blood from the capillaries back toward the heart.[12]

They say about muscles that- There are approximately 642 skeletal muscles within the typical human, and almost every muscle constitutes one part of a pair of identical bilateral muscles, found on both sides, resulting in approximately 320 pairs of muscles. Nevertheless, the exact number is difficult to define because different sources group muscles differently, e.g.

regarding what is defined as different parts of a single muscle or as several muscles. Examples range from 640 to 850.[13]

Acharya Shivarya further states about skin in some more gathas. The human body is covered with skin which is very thin just like the wings of a Fly.[14] When skin gets burnt, it turns white in color and pus comes out of it.[15] There are seven skins, seven kaliyaka muscles and eighty lakh crores pores in the body.[16]

Here science is totally unaware of seven kinds of skin. Still they reveal, 'The human skin is the outer covering of the body. In humans, it is the largest organ of the integumentary system. The skin has multiple layers of ectodermal tissue and guards the underlying muscles, bones, ligaments and internal organs. Human skin is similar to that of most other mammals, except that it is not protected by a fur. Though nearly all human skin is covered with hair follicles, it can appear hairless. There are two general types of skin, hairy and glabrous skin.'[17]

Further they say about pores or sweat glands in human body- The number of active sweat glands varies greatly among different people, though comparisons between different areas (ex. axillae vs. groin) show the same directional changes (certain areas always have more active sweat glands while others always have fewer). According to Henry Gray's estimates, the palm has around 370 sweat glands per cm^2; the back of the hand has 200 per cm^2; the forehead has 175 per cm^2; the breast, abdomen, and forearm have 155 per cm^2; and the back and legs have 60–80 per cm^2. In the finger pads, sweat glands are somewhat irregularly spaced on the epidermal ridges. There are no pores between the ridges, though sweat tends to spill into them. The thick epidermis of the palms and soles causes the sweat glands to become spirally coiled.[18]

Acharya Shivarya reveals more, 'There are sixteen intestines in the small and large intestines. There are seven excreta stores (pits) in human body. There are three humours i.e. wind (vata), bile (pitta) and phlegm (kafa) in the body. There are one hundred and seven sensitive

parts in the body. Human body has nine excretion points from where waste material of body always flow out. Human body has a brain which is in the size of one's own two handfuls (one anjali praman). Bone marrow (meda) and semen are also in the same quantity i.e. two handfuls.'[19]

About bone marrow science declares that- Bone marrow is the flexible tissue in the interior of bones. In humans, red blood cells are produced by cores of bone marrow in the heads of long bones in a process known as hematopoiesis. On average, bone marrow constitutes 4% of the total body mass of humans; in an adult weighing 65 kilograms (143 lb), bone marrow typically accounts for approximately 2.6 kilograms (5.7 lb). The hematopoietic component of bone marrow produces approximately 500 billion blood cells per day, which use the bone marrow vasculature as a conduit to the body's systemic circulation. Bone marrow is also a key component of the lymphatic system, producing the lymphocytes that support the body's immune system.[20]

Many more facts are shown by reverend Acharya. These are compiled as thus- There are six handfuls of fat (vasa) in the body. Bile (pitta) and phlegm (kafa) are twelve handfuls in quantity, while blood is half Aadhaka. Here one Aadhaka = sixty four Pals = sixty four Prasthas. Human body contains one Aadhaka of urine in quantity, while excreta six Prasthas in quantity. Human body has twenty nails and thirty two teeth by nature. As wounds are filled up with worms, so the body is also filled up with many clusters of worms. Five types of wind (vata) encircle the whole body.[21]

About diseases Acharya says that if there are ninety six diseases in only one eye, then imagine how many diseases there could be in the whole body. These diseases are caused due to misbalance of wind (vata), bile (pitta) and phlegm (kafa).[22] In Pandit Ashadhar's version of Bhagwati Aradhana one more gatha is present which states that there are five crore sixty eight lakh ninety nine thousand five hundred and eighty four (5,68,99,584) diseases in the body.[23]

Medical science has thorough knowledge of all parts of body, their function, position, utility etc. They are also aware of many diseases or disorders which occur in the body and are curing them successfully. But this short article clearly indicates that they have to travel a long distance to reach the enormous knowledge of Jain acharyas. Jain scriptures' spirituality is totally beyond the reach of science, while materialistic views are just partially accepted or proven by them. These scriptures of olden times can be more helpful for them in discovering many new facts for the welfare of mankind. Thus science must utilize this store house of knowledge as its guide.

References: 1. Bhagwati Aradhana, Vijayodaya commentary, pg. 4-5.

2. Jainendra Siddhant Kosha, Part 3, pg. 204.

3.Bhagwati Aradhana, gatha 998, pg. 542.

4. Ibid, gatha 1006, pg. 544. 5. Ibid, gatha 1001-1003, pg. 543.

6. Ibid, gatha 1004, pg. 543-544. 7. Ibid, gatha 1014, pg. 546.

8. Ibid, gatha 1009-1011, pg. 545-546. 9. Ibid, gatha 1021, pg. 548.

10 www.wikipedia.org

11. Bhagwati Aradhana, gatha 1022-1023, pg. 548.

12. www.wikipedia.org 13. www.wikipedia.org

14. Bhagwati Aradhana, gatha 1033, pg. 550-551.

15. Ibid, gatha 1032, pg. 550. 16. Ibid, gatha 1024, pg. 549.

17. www.wikipedia.org 18. www.wikipedia.org

19. Bhagwati Aradhana, gatha 1025-1027, pg. 549.

20. www.wikipedia.org

21. Bhagwati Aradhana, gatha 1028-1030, pg. 549-550.

22. Ibid, gatha 1047-1048, pg. 554. 23. Ibid, foot note, pg. 554.

- Junior Research Fellow, Center for Prakrit Studies & Research

Rashtriya Sanskrit Sansthan (Deemed University)

Jaipur Campus, Triveni Nagar, Gopalpura Bypass, Jaipur (Raj.) 302018

नैतिक-बोधकथा

अहंकार की भूँख

प्रस्तुति : श्रीमती महिमा जैन
(एम.एस.सी. एम.म्यूज.)

- अहंकार मनुष्य की तृष्णा की भूख का विस्तार है। आदमी जब अहंकार के पैमाने से, दूसरों को नापने की कोशिश करता है, तो उसे सब छोटे दिखने लगते हैं।
- दूसरे पर विजय पाने के ताने-बाने, अहंकार से बुने हुए होते हैं, व्यक्ति के बाहर का विस्तार और अधिपत्य की कामना, ''मैं'' का ही विस्तार है।
- जो नैसर्गिक हो रहा है, उसमें भी वह अपने कर्तत्व को जोड़ देता है।

सिकन्दर की सेना विस्तार, वस्तुतः उसके अहंकार का विस्तार था। वह सारे विश्व को जीत लेने का सपना लेकर घर से निकला था। सेना ने जहाँ जहाँ कूच किया वहाँ की धन दौलत को लूटा तथा उस देश की अस्मिता और संस्कृति को भी बरबाद करने से नहीं चूका। एक नगर पर उसने चढ़ाई की और विजय का नगाड़ा बजाता हुआ वहाँ अफरा-तफरी मचाने लगा। लोगों की पीड़ा व संत्रास के स्वर, राजसत्ता के नक्कार खाने में दबकर रह गए।

सिकन्दर भूख से व्याकुल हो रहा था। वह थक भी गया था। घोड़े से उतरा और एक घर के सामने घोड़े को खड़ा कर दिया। घर का दरवाजा खटखटाया, लेकिन भीतर से कोई दरवाजा खोलने नहीं आया। वह अधीर हो रहा था। पेट की भूख से उसका धैर्य टूट जा रहा था। इस बार उसने जोर से कुण्डी खटखटायी थोड़ी देर बाद एक वृद्धा ने दरवाजा खोला और सिकन्दर के सामने खड़ी हो गयी। वह सिकन्दर को सम्भवतः पहिचान गयी। ''माँ! मुझे जोर की भूख लगी है, जल्दी से खाना दो''- घुड़सवार ने कहा। वृद्धा ने आगन्तुक को बड़े विश्वास के साथ देखा और भीतर चली गयी। जब पुनः लौटी तो उसके काँपते हाथों में, एक रेशमी कपड़े

से ढँका हुआ था।

सिकन्दर भूख से व्याकुल हो रहा था। उसने सारी औपचारिकताएँ दर किनार कर थाली का कपड़ा हटाया ताकि भोजन पा सके। लेकिन यह क्या? थाली में कुछ स्वर्ण मुद्राएँ रखीं थीं। सिकन्दर की भौंहे चढ़ गयी वह चिल्लाकर बोला- 'माँ! मुझे भूख लगी है, और तुम मेरा उपहास कर रही हो। भोजन के स्थान पर ये स्वर्ण मुद्राएँ?'

वृद्धा बोली- 'सम्राट! मेरी क्या औकात कि मैं महान सिकन्दर का उपहास करूँ?' परन्तु हाँ इतना जानती हूँ कि सिकन्दर को यदि रोटी की भूख होती हो वह उसके देश में आसानी से मिल जाती। सिकन्दर को रोटी की नहीं, सोने की भूख है, जिसकी खोज में वह देश-देश जाकर वहाँ आक्रमण करता है और सेना शक्ति तथा शस्त्र के बल पर सोना इकट्ठा कर रहा है। वृद्धा बोली- 'सिकन्दर को यदि केवल रोटी की भूख होती तो वह दूसरे की रोटी नहीं छीनता।

सिकन्दर की अन्तस चेतना के तार, वृद्धा के इन अभय-स्वरों से झंकृत हो उठे। वह अपलक नारी की निडरता, आत्म-विश्वास और उसके अन्दर की छिपी शौर्यता को ठगा सा देखता रह गया। उसका ओढ़ा हुआ अहंकार अपनी ही आँखों के सामने, पिघलता हुआ दिख रहा था। सिकन्दर बोला- 'माँ! मैं तुम्हें प्रणाम करता हूँ। तुम ठीक कह रही है।'

जब मुझे माँ बोला है, तो बेटे को भोजन कराकर ही यहाँ से बिदा करूँगी। उसने कुछ प्रतिक्षा करने को कहा- और बड़े ही आत्मीय वात्सल्य से सिकन्दर को खाना खिलाया। कहते हैं, सिकन्दर उस नगर को बिना कुछ हानि पहुँचाए और लूटपाट किये आगे निकल गया तथा नगर के बाहर एक शिलालेख लिखवा गया कि इस नगर की एक महान नारी ने अज्ञानी सिकन्दर को एक बहुत बड़ी शिक्षा दी है।

वह शिक्षा- जीवन की वास्तविकता थी कि तृष्णा की भूख कभी भी विश्व की सम्पूर्ण सम्पदा से भी नहीं भरी जा सकती है। व्यक्ति बाहर जितना संग्रह करता है, वह उसके भीतर की निर्धनता का द्योतक है। वस्तुतः बाहर का विस्तार, उसकी आन्तरिक रिक्तता का सूचक है।

(''सौ बोधकथाएँ''- से साभार)

मेफेयर अपार्टमेंट, मोहाली, (पंजाब)

पुस्तक-समीक्षा

''श्रुताराधक''

प्रधान संपादक- डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर, संपादक 'अनेकान्त' त्रैमासिकी शोध पत्रिका, प्रबन्ध संपादक- पं. विनोदकुमार जैन, रजवाँस, प्रो. विजयकुमार जैन लखनऊ। लोकार्पण प्रसंग-परमपूज्य जागृतिकारी संत उपाध्याय श्री 108 नयनसागर जी महाराज (प्रेरणास्रोत) एवं सान्निध्य-बनाना ट्री होटल, साहिबाबाद (गाजियाबाद उ.प्र.) प्रथम संस्करण- 2015 अक्टूबर, प्रतियाँ-1000, मूल्य : रु.1000/-, आर्ट पेपर पर- कलरफुल साफ-सुथरी प्रिंटिंग- पृष्ठ संख्या-624, प्रकाशक- डॉ. श्रेयांसकुमार जैन अभिनंदन ग्रंथ समिति। प्राप्ति स्थान- एलन कॉपर रेडीमेड गारमेंटस, बड़ौत, जिला-बागपत (उ.प्र.) 09759665656.

पाँच उन्मेषों (खण्डों) में विभाजित-प्रथम उन्मेष- शुभाशीर्वाद, शुभकामनाएँ एवं संस्मरण- लगभग 54 परमपूज्य आचार्यों, मुनिराजों एवं आर्यिकाओं के आशीर्वाद, 250 जैन मनीषियों/विदुषियों की शुभकामनाएँ, द्वितीय खण्ड- आत्मकथ्य एवं व्यक्तित्व, तृतीय खण्ड- रचना धार्मिता के साथ मौलिक चिन्तन-51, आलेखों का संचयन, चतुर्थ खण्ड- चित्र रश्मि-संचयन (76 पृष्ठों में लगभ चित्र-231) पंचम उन्मेष- जैन विद्या के विविध आयाम एवं साहित्य-समीक्षा- 24 विद्वानों के विभिन्न जैन आगम, संस्कृति, श्रावकाचार आदि पर विशिष्ट लेख **श्रुयते श्रोत्रेन्द्रियेण वा गृह्यते इति श्रुतः'** प्रधान सम्पादक के इस मूल मंत्र वाक्य से अभिनन्दनीय का गुणानुवाद, एक सकारात्मक/सशक्त उपक्रम बतलाते हुए **'श्रुताराधक'** के मूल्यांकन की प्रेरणास्पद संस्तुति है। प्रत्येक आचार्यों/उपाध्यायों/मुनिराजों/ आयिकारत्नों के सचित्र- मंगल आशीर्वाद से श्रुताराधक ग्रन्थ का मंगलाचरण-अभिनव है। सम्पूर्ण ग्रन्थ- उपयोगी, ज्ञानसम्वाहक एवं संग्रहणीय है। शोधकर्ताओं के लिए भी पर्याप्त सामग्री का संग्रह है, अस्तु शोध- संदर्भ ग्रन्थ है। प्रिंटिंग स्वच्छ निर्दोष है जिसे अरिहंत ग्राफिक्स दिल्ली ने छापा है।

(२) प्राचीन जैन महाकवि

लेखक पं. परमानन्द शास्त्री, सम्पादक-पं. निहालचंद जैन, निदेशक वीर सेवा मंदिर, प्रकाशक वीर सेवा मंदिर, २१.दरियागंज नई दिल्ली-२ फोन ०११-२३२५०५२२, प्रथमावृत्ति : दिसम्बर, २०१५, प्रतियाँ १००, मूल्य : १००रुपये, पृष्ठ-१२६ ।

प्रस्तुत कृति में ऐसे 12 प्राचीन महाकवियों की साहित्यिक साधना का विवरण है जो हिन्दी जगत के युगीन सशक्त हस्ताक्षर रहे हैं। वीर सेवा मंदिर संस्थान का उद्देश्य लुप्तप्राय जैन साहित्य की खोज एवं अनुसन्धान रहा है। इसी श्रृंखला के अंतर्गत 'अनेकान्त' शोध पत्रिका की पुरानी फाइलों में से श्री पं. परमानंद शास्त्री जी द्वारा लिखित प्राचीन जैन कवियों के जीवन परिचय एवं उनकी साहित्यिक साधना का विवरण प्राप्त कर पं. निहालचंद जैन ने इसका योग्य संपादन किया जो प्रबुद्ध आध्यात्म प्रेमियों एवं शोधार्थियों के लिए एक मार्गदर्शक के भांति यह कृति सिद्ध होगी। पुस्तक का प्रकाशन निर्दोष एवं अभिराम है।

(३) काव्यकला सौन्दर्य (भाषा और वस्तु)

आचार्य तारण तरण विरचित चौदह ग्रन्थों की काव्यकला का विवरण

लेखक-मनमोहन चन्द्र, प्रकाशक-आलेख प्रकाशन, बी-८, नवीन शाहदरा दिल्ली-३२, संस्करण-प्रथम २०१५, सर्वाधिकारः लेखकाधीन, पृष्ठ-१६०, टाइप सेटिंग एवं मुद्रण-रचना इंटरप्राईजेज दिल्ली-३२

यह पुस्तक केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय (मानव संसाधन विकास मंत्रालय) द्वारा प्राप्त वित्तीय सहायता से प्रकाशित हुई है।

यह पुस्तक ''रस, अलंकार, छंद और साहित्य सौंदर्य'' एक ऐसी मंजूषा है जिसमें 16वीं शताब्दी के महान तत्त्वचिंतक दि. जैन सन्त श्रीमद् जिन तारण तरण मण्डलाचार्य रचित 14 ग्रन्थों की काव्यकला पर केन्द्रित है। प्रस्तुत पुस्तक 6 अध्यायों में समाहित है, जो क्रमशः भाषा, परिचय, शैली, विषयवस्तु, शब्द संयोजन एवं काव्यकला में वर्गीकृत है। पुस्तक पठनीय है तथा मुद्रण निर्दोष एवं सुन्दर है।

समीक्षाकार : पं. निहालचंद जैन, निदेशक

श्रद्धांजलि

श्रीमती हेमबाला जैन को भावभीनी श्रद्धांजलि

ख्याति प्राप्त समाजसेवी एवं वीर सेवा मन्दिर के कार्यकारिणी सदस्य श्री श्रीकिशोर जैन जी की धर्मपत्नी श्रीमती हेमबाला जैन का बीमारी से संघर्ष करते हुए 20 अक्टूबर, 2015 को देवलोक गमन हो गया। आप एक धर्मपरायण, सामाजिक सेवा में अग्रणी, कुशल गृहणी, कलम की धनी, साहित्य एवं जैनदर्शन में अभिरूचि रखने वाली एक विनयवान महिलारत्न थीं।

सहारनपुर (उ.प्र.) में जन्मी, आपके पिता श्री ललताप्रसाद जैन मिलिट्री इन्जीनियरिंग सर्विस में रहते हुए 1942 के द्वितीय युद्ध में भाग लिया था। श्री श्रीकिशोर जैन के साथ 1960 में विवाह हुआ। आज श्री श्रीकिशोर जैन की जैनसमाज दिल्ली में किसी पहचान की आवश्यकता नहीं है। आपने 108 बार से अधिक श्रीशिखरजी की यात्राएं सम्पन्न कीं तथा सम्मेदशिखर शाश्वत ट्रस्ट से आप सम्बद्ध हैं। ऐसे व्यक्तित्व के धनी की आप सुशील पत्नी थीं, जिन्होंने परिवार में वही भूमिका का निर्वाहन किया जो एक पर्दे के पीछे से निर्देशक करता है।

लेखन आपकी अभिरूचि का प्रमुख गुण रहा है और सत्तर के दशक में वे धर्मयुग, साप्ताहिक हिन्दुस्तान, मनोरमा, सरिता, मुक्ता, कादम्बनी और वामा जैसी राष्ट्रीय स्तर की पत्रिकाओं में नियमित लेख लिखतीं रहीं।

वीर सेवा मंदिर के समस्त पदाधिकारीगण, अध्यक्ष एवं महामंत्री ने ऐसी धर्मपरायण एवं विदुषी महिला के निधन पर हार्दिक शोक प्रकट किया है एवं उनकी आत्मा की सद्‌गति एवं सुख-शांति के लिए प्रभु से प्रार्थना की।

- समस्त वीर सेवा मंदिर परिवार

अवसर का लाभ उठायें - स्वाध्याय के प्रति रुचि जगायें।
वीर सेवा मंदिर के निम्नांकित ग्रन्थों पर विशेष छूट

निम्नांकित ग्रन्थों पर **50%** की विशेष छूट दी जा रही है। साथ ही 10 पुस्तकों का सेट उपहार में ग्रन्थों के साथ निःशुल्क दिया जायेगा। धनराशि चैक/ड्राफ्ट या सीधे संस्था के खाता सं. 603210100007664 बैंक ऑफ इण्डिया, दरियागंज ब्रांच, नई दिल्ली, IFSC-BKID0006032 के द्वारा जमा किया जा सकता है।

ग्रन्थों का नाम	लेखक/टीकाकार	मूल्य
1.जैन लक्षणावलि भाग-1,2,3	पं. बालचंद सिद्धान्त.	2500रु.
2.युगवीर निबंधावली खण्ड-1	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार	210रु.
3.जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा.-2	पं. परमानंद शास्त्री	150रु
4.ध्यानशतक तथा ध्यान स्तव	पं. बालचंद सिद्धान्त.	100रु.
5.परम दिगम्बर गोम्मटेश्वर	नीरज जैन, सतना	75रु.
6.दिगम्बरत्व की खोज	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	100रु.
7.Jain Bibliography 1-2	Chhotelal Jain	1600रु.
8.निष्कम्प दीपशिखा	पं.पदमचंद शास्त्री	120रु.
9.तत्त्वानुशासन	आचार्य रामसेन	100रु.
10.समीचीन धर्मशास्त्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	150रु.
11.असहमत संगम	बैरिस्टर चम्पतराय जैन	150रु.
12. प्राचीन जैन महाकवि	पं. परमानंद शास्त्री	100रु.

<u>उपहार ग्रंथ</u>

1. मेरी भावना अंग्रेजी सहित	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
2. महावीर जिन पूजा	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
3. श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
4. समन्तभद्र विचार दीपिका	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
5. हम दुःखी क्यों हैं ?	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
6. Basic Tenets of Jainism	Dasrath Jain
7. समयपाहुड	रूपचंद कटारिया
8. वारसाणुबेक्खा	आ. कुन्दकुन्द
9. महावीर का सर्वोदय तीर्थ	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
10.उपासना तत्त्व तथा उपासना ढंग	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'

Year-69, Volume-2
RNI No. 10591/62
April-June 2016
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
मो. 09760002389

Editor
Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110002

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक
पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Founder
Pt. Jugalkishore Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर
प्रो. डॉ. राजाराम जैन, नोएडा
प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ
प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर
डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत
श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली
प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली
श्री भारतभूषण जैन, अध्यक्ष वीसेमं
श्री विनोदकुमार जैन, महामंत्री वीसेमं

Editorial Board

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar
Prof. Dr. Rajaram Jain, Noida
Prof. Dr.Vrashabh Prasad Jain,Lucknow
Pracharya Dr. Shital Chand Jain, Jaipur
Dr. Shreyans Kumar. Jain, Baraut
Sh. Roopchand Kataria, New Delhi
Prof. M.L. Jain, New Delhi
Sh. Bharatbhushan. Jain, President VSM
Sh. Vinod Kumar Jain, Gen. Secretary VSM

पत्रिका शुल्क/ Journal Subscription

एक अंक- रुपए 25/- वार्षिक- रुपए 100/-

Each issue - Rs. 25/- Yearly - Rs. 100/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता-

वीर सेवा मन्दिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

All correspondence for the journal & Editorial

Vir Sewa Mandir (A Research Institution for Jainology)
21, Ansari Road, Darya Ganj, New Delhi-110002
Phone No. 011-30120522, 23250522, 09311050522
email : virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं। सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

आध्यात्मिक - भजन

श्री जिनवर दरश आज

श्री जिनवर दरश आज, कतर सौख्य पाया ।।
अष्ट प्रातिहार्य सहित, पाय शान्ति काया ।।
श्री जिनवर दरश आज

वृक्ष है अशोक जहां, भ्रमर गान गाया।
सुन्दर मन्दार-पुष्प, वृष्टि होत आया।।
श्री जिनवर दरश आज

ज्ञानामृत भरी वानि खिरै, सकल भ्रम नसाया।
विमल चमर ढोरत हरि, हृदय भक्ति लाया।।
श्री जिनवर दरश आज

सिंहासन प्रभा चक्र, बाल जग सुहाया।
देव दुन्दुभी विशाल, जहां सुर बजाया।।
श्री जिनवर दरश आज

मुक्ताफल माल सहित, छत्र तीन छाया।
भागचन्द्र अद्भुत छवि, कही नहीं जाया।।
श्री जिनवर दरश आज

-कवि भागचन्द्र

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1. स्थायी स्तम्भ- युगवीर-गुणाख्यान	प्रा. निहालचंद जैन	5-9
2. योगसाधना और कर्मसिद्धान्त	डॉ. जयकुमार जैन,	10-21
3. सम्यग्दर्शन के अनायतन : एक चिन्तन	डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती'	22-29
4. श्रमण संस्कृति की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता	आचार्य राजकुमार जैन	30-37
5. Dignity of man in Jainism	Prof. B.R. Dugar	38-42
6. जैन पुरातत्त्व में वीर छबीली टीले की कलाकृतियों का योगदान	डॉ. संगीता सिंह	43-52
7. Mystical Powers in Jainism	Dr. Samani Aagm Prajna	53-60
8. अहिच्छत्रा का पुरातात्त्विक वैभव	लाल बहादुर सिंह	61-65
9. आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में श्रमणों के षडावश्यक	डॉ. अनेकान्तकुमार जैन	66-82
10. मूकमाटी की अर्थदृष्टि	श्रीमती उर्मिला चौकसे	83-91
11. तनाव से मुक्ति विषय पर आयोजित कार्यशाला	विनोद कुमार जैन	92-93
12. श्रद्धांजलि (श्रीमती कमलेश जैन)	महामंत्री वीसेमं	93
13. मांगीतुंगी में अद्‌भुत पंचकल्याणक एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सव संपन्न	डॉ. आलोककुमार जैन	94-95
13. ग्रंथ सूची- वीर सेवा मंदिर प्रकाशन		96

युगवीर 'गुणाख्यान'

हम दुखी क्यों हैं?

वीर सेवा मंदिर के संस्थापक युगमनीषी पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'-युगवीर का एक निबन्ध- 'हम दुखी क्यों हैं? आज से 52 वर्ष पूर्व प्रकाशित हुआ था। निबंध में दुःख के कारणों और कैसे सुखी बनें, पर जो विचार, मुख्तार साहब ने बताये थे, वे आज भी कसौटी पर खरे उतर रहे हैं।

'युगवीर' गुणाख्यान की इस श्रृंखला में उक्त निबंध का सारगर्भित संक्षेपीकरण प्रस्तुत किया जा रहा है। इसे पढ़ें और अपने अन्तर्मन को टटोलें, आत्म-समीक्षा करें कि हम अपने दुःखों से कैसे निजात पा सकते हैं?

संपादन एवं प्रस्तुति- पं. निहालचंद जैन
पूर्व निदेशक, वीर सेवा मंदिर

आजकल हमें सुख नहीं, आराम और चैन नहीं। तरह-तरह की चिन्ताओं ने हमें घेर रखा है और हम इसी उधेड़बुन में रहते हैं, कि हमको सुख मिले, चिन्ताओं का भार उतरे और आत्मा को शान्ति की प्राप्ति हो। इसी सुख-शान्ति की खोज में, देश-विदेशों में मारे-मारे फिरते हैं। तेली के बैल की तरह धन्धों की पूर्ति के पीछे चक्कर लगाते रहते हैं, लेकिन उनकी पूर्ति का अन्त नहीं आता। हर जायज नाजायज तरीके से-उचितानुचित रूप से रुपया पैदा करने के पीछे पड़े हुए हैं। हम कौन हैं, कहाँ से आए हैं, क्यों आए हैं, कहाँ जायेंगे, कब जायेंगे, इन बातों को सोचने का समय ही नहीं है। अपनी स्वार्थसिद्धि के सामने दूसरों की जान, माल, इज्जत और प्रतिष्ठा का कुछ भी मूल्य नहीं है।

प्रश्न है दुःख क्यों बढ़ रहा है? कुछ कारणों पर विचार करेंगे।

(१) धार्मिक पतन- धर्म सुख का कारण है और कारण से ही कार्य की सिद्धि होती है। धर्म अकेला एक ऐसा मित्र है, जो परलोक में भी साथ जाकर इस जीव के सुख का साधन बनता है। उसी से आत्मा का

अभ्युदय और उत्थान होकर मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। हमारी मौजूदा दुखभरी हालत, हमारे पापी आचरण की दलील है, बुरे कर्मों का नतीजा, और यह जाहिर करती है कि हममें धर्म का आचरण प्रायः नहीं रहा।

वास्तव में हम धर्म-कर्म से बहुत गिर गये हैं। हमारी पूजा, भक्ति, सामायिक, व्रत, नियम, उपवास, दान, शील, तप और संयम आदि क्रियायें भाव-शून्य होने से बकरी के गले में लटकते हुए थनों के समान है। देखने-दिखाने के लिये ही धार्मिक क्रियायें हैं, परन्तु उनमें प्राण नहीं, धर्म का भाव नहीं और न हमें उनका रहस्य ही मालूम है। उनके मूल में प्रायः अज्ञान भाव, लोक दिखावा, रूढ़िपालन, मान-कषाय रहता है। जो क्रियायें सम्यक्ज्ञानपूर्वक, आत्मीय-कर्तव्य समझ कर नहीं की जातीं वे सब मिथ्या क्रियायें हैं और संसार के दुःखों का कारण हैं।

(२) आवश्यकताओं की वृद्धि- जहाँ तक मैंने इस मामले पर विचार किया, दुःखों का प्रधान कारण- हमने अपनी आवश्यकताओं को फिजूल बढ़ा लिया है और वैसा करके अपनी आदत, प्रकृति और परिणति को बिगाड़ लिया है। व्यर्थ की आवश्यकताओं को बढ़ा लेना वास्तव में दुःखों को निमंत्रण देना ही है।

एक उदाहरण देकर मुख्तार साहब ने इसको और स्पष्ट कर दिया। एक मनुष्य आठ सौ रुपया मासिक वेतन पाता है और दूसरा सौ रुपया मासिक, सौ रुपया वाले भाई की वेतनवृद्धि होकर दो सौ रु. कर दी जाती है और आठ सौ पाने वाले की पदच्युति (तनुज्जुली) से 100रु. कम कर दिये जाते हैं। दो सौ रु. पाने वाला बहुत खुश है, आनंद मना रहा है, इष्ट मित्रों को मिठाइयाँ बाँटता है। प्रत्युत आठ सौ रु. पाने वाले की वेतन सौ रु. कम हो जाने से यद्यपि उसे सात सौ रु. मिलने पर भी दुःखित चित्त है, शोक में डूबा रहता है। सोचता है- क्या करूँ, कहाँ जाऊँ, मेरी तो तकदीर फूट गई आदि-आदि।

इन दोनों भाईयों के अन्तःकरण की हालत को यदि देखा जाये तो इसमें संदेह नहीं कि बड़ा वेतन पाने वाला दुःखी और छोटी वेतन पाने वाला सुखी है। ऐसा क्यों ? वस्तुतः रुपये से आदमी सुखी या दुखी नहीं है। कम वेतन वाले ने अपनी आवश्यकताओं को सीमित रखा था, जबकि

अधिक वेतन पाने वाले ने अपनी आवश्यकताओं को अधिक बढ़ा लिया था। सुख का समीकरण है =

$$\frac{\text{इच्छाओं की सम्पूर्ति (Fulfil of needs)}}{\text{इच्छाओं की संख्या (No. of needs)}}$$

(३) दुःख-सुख का विवेक- बढ़ी हुई आवश्यकताओं के पूरा न होने में ही दुख नहीं है, बल्कि उनको पूरा करने में भी नाना प्रकार के कष्ट उठाने पड़ते हैं। सामग्री जुटाने की चिन्ता, उसके रक्षा की चिन्ता, रक्षित सामग्री के खो जाने या नष्ट हो जाने का भय, उसके जुदा होने पर परेशानी या बेचैनी, इस प्रकार इष्ट के वियोग के साथ अनिष्ट का संयोग हो जाने पर चित्त की व्याकुलता। इस प्रकार इच्छा और तृष्णा ये सब दुख की पर्याय है। सुख का लक्षण ही निराकुलता है, जो बेचैनी, परेशानी, आकुलता, तृष्णा आदि से रहित होता है। यदि दुःख की पर्यायें और हालतें बनी हुई हों तो बाहर का ठाटबाट और वैभव के होते हुए भी सुखी नहीं हो सकता।

उदाहरण लें- एक व्यक्ति को 105^0 का बुखार है, उसे बेचैनी है। भले ही मखमल के बिछे गद्दे पर लिटा दें, पलंग भी सोने-चांदी से मढ़ा हो, तो क्या उसके दुःख में कोई कमी हो सकती है? एक दूसरे आदमी के पास खूब धन-दौलत है, जमीन-जायदाद है, नौकर-चाकर, आज्ञाकारी स्त्री व बच्चे आदि सब कुछ विभूति मौजूद है, परन्तु उसके शरीर में एक असाध्य रोग हो गया है। जो उपचार करने पर भी दूर नहीं हो सका। उसको किसी भी वस्तु में आनंद मालूम नहीं होता और न किसी के बोल सुहाते हैं। एक अलग पलंग पर पड़ा रहता है। मूँग-दाल का पानी भी मुश्किल से हजम होता है। दूसरों को नाना व्यंजन खाते देखकर बस झुरता रहता है और अपने भाग्य को कोसता है।

एक तीसरा व्यक्ति है- सभी सुख-सामग्री है, शारीरिक स्वास्थ्य भी अच्छा है, परन्तु उसके पीछे फौजदारी का एक जबरदस्त मुकदमा लगा हुआ है। उसकी वजह से वह तनाव में, चिन्ता में डूबा रहता है। स्त्री बड़ी विनय के साथ कह रही है- थोड़ा भोजन करके बाहर निकलिये, परन्तु वह बेरुखी व झुंझलाहट के साथ उत्तर देता है- 'तुझे भोजन की पड़ी है, यहाँ जान को बन रही है। रेल का वक्त हो गया, आज मुकदमे की पेशी

है। वह इसी चिन्ता में झुलस रहा है- एक कवि ने ठीक ही लिखा है-

चिंता चिता समाख्याता बिन्दु मात्र विशेषतः।
सजीवं दहते चिंता निर्जीवं दहते चिता॥

यह विचार करने की बात है कि सुख कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो कहीं बाजार में किसी कीमत पर खरीदी जा सके बल्कि यह आत्मा का निजगुण है- जिसे संसारी जीव नहीं पहचानते। वे अपनी आत्मा से भिन्न दूसरे पदार्थों में सुख की कल्पना किये हुए हैं और उन्हीं की प्राप्ति के लिए दिन-रात परेशान मारे मारे फिरते हैं। उनको यह खबर नहीं कि पर-पदार्थ तीनकाल में भी अपना नहीं हो सकता और न जड़ कभी चेतन बन सकता है। जो संयोग में सुख मानता है, उसके वियोग में नियम से दुःख उठाना पड़ता है। अतः पर-पदार्थ अंत में दुःख के कारण होते हैं।

वास्तव में यदि ध्यान से देखा जाय तो पर-पदार्थों में सुख है ही नहीं, उनमें सुख का आधार एक मात्र हमारी कल्पना है और उस कल्पित सुख को सुख नहीं कह सकते, वह सुखाभास है- सुख जैसा दिखलाई देता है-मृगतृष्णा है और इसीलिये पर-पदार्थों में सुख कल्पित करने वालों की हालत ठीक उन लोगों जैसी है जो एक पर्वत की दो चोटियों के मध्य-स्थित सरोवर में किसी बहुमूल्य हार के पीछे गोते लगाते और लगवाते हुए बहुत कुछ थक गये थे, उनको पानी में वह हार दिखलाई तो जरूर पड़ता था लेकिन पकड़ने पर हाथ में नहीं आता था। इसलिये वे बहुत ही हैरान तथा परेशान थे कि मामला क्या है? वस्तुतः हार ऊपर पर्वत की दोनों चोटियों के अग्रभाग से बँधे हुए एक तार के बीच में लटक रहा है और अपने प्रतिबिम्ब से जल को प्रतिबिम्बित कर रहा है। यदि तुम उसे लेना चाहते हो, तो ऊपर चढ़कर वहाँ तक पहुँचने की कोशिश करो, तभी तुम उसे पा सकोगे; अन्यथा नहीं- तुम्हारी यह गोताखोरी अथवा जलावगाहन की क्रिया व्यर्थ है।

इसमें सन्देह नहीं कि जो चीज वहाँ मौजूद ही नहीं वह वहाँ पर कितनी भी ढूंढ/खोज क्यों न की जाय कदापि नहीं मिल सकती। कोई चीज ढूंढने अथवा तलाश करने पर वहीं से मिला करती है जहाँ पर वह मौजूद होती है। जहाँ उसका अस्तित्व ही नहीं वहाँ से वह कैसे मिल

सकती है? सुख चूँकि आत्मा से बाहर दूसरे पदार्थों में नहीं है, इसलिये उन पदार्थों में उसकी तलाश फिजूल है, उसे अपनी आत्मा में ही खोजना चाहिये और यह मालूम करना चाहिये कि वह कैसे कैसे कर्मपटलों के नीचे दबा हुआ है। हमारी कैसी परिणतिरूपी मिट्टी उसके ऊपर आई हुई है और वह कैसे हटाई जा सकती है? परन्तु हम अपनी आत्मा की सुध भूले हुए हैं। उसकी सुख की निधि से बिल्कुल ही अपरिचित और अनभिज्ञ हैं और इसीलिये सुख की तलाश आत्मा से बाहर दूसरे पदार्थों में विजातीय वस्तुओं में करते हैं। सुख की प्राप्ति के लिये उन्हीं के पीछे पड़े हुए हैं- यहाँ से सुख मिलेगा, यह भी हमको सुख दे सकेगा, इसी प्रकार के विचारों से बंधे हुए हम उन्हीं पदार्थों का संग्रह बढ़ाते जाते हैं, उन्हीं की जरूरियात को अपने जीवन के साथ चिपटाते रहते हैं और इस तरह खुद ही अपने को दुःखों के जाल में फँसाते और दुखी होते हैं, यह अजब तमाशा है !!!

******

आचार्य पूज्यपाद स्वामी- 'इष्टोपदेश' में लिखते हैं -

वासना मात्रमेवैतत्, सुखं दुःखं च देहिनाम्।
तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि॥६॥

- संसारी जीवों को इन्द्रियों से प्राप्त सुख-दुःख कल्पना मात्र हैं, वास्तविक नहीं हैं। अतः ये इन्द्रियों के भोग, आपत्ति के समय रोगों की तरह आकुलता पैदा करते हैं।

पद्यानुवाद- पूज्य मुनि समतासागर जी

सुख दुख सब संसार के, हैं केवल भ्रम जाल।
करें आकुलित रोग सम, भोग विपद के काल॥

योगसाधना और कर्मसिद्धान्त

-डॉ. जयकुमार जैन

योगसाधना

योगसाधना शब्द योग और साधना दो शब्दों के मेल से बना है। इनमें योग शब्द युज् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है। संस्कृत में 'युज् समाधौ' और 'युजिर योगे' दो धातुएँ उपलब्ध हैं। समाधि का अर्थ एकाग्रता और योग का अर्थ मिलाप या सम्बन्ध है। साधना शब्द णिजन्त सिध् धातु से युच् प्रत्यय करने पर निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ निष्पन्नता या पूर्ति है। इस प्रकार योगसाधना का अर्थ हुआ- एकाग्रता या सम्बन्ध की निष्पन्नता या पूर्ति।

भारतीय परम्परा में योगसाधना का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ ईश्वरवादी दार्शनिक योगसाधना को ईश्वर प्राप्ति का साधन मानते हैं, वहाँ अनीश्वरवादी दार्शनिक उसे परमात्म पद की उपलब्धि का। वेदों में प्राप्त तपस् शब्द कदाचित् योगसाधना के अर्थ में ही प्रयुक्त है। उपनिषद में तो स्पष्टतया तपस् के पर्यायवाची के रूप में ध्यान और समाधि शब्दों का प्रयोग हुआ है तथा उसे योग भी कहा गया है। वहाँ कभी तपस् को प्रधान मानकर समाधि, ध्यान एवं योग को उसका अंग कहा गया है तो बाद में योग दर्शन का प्रभाव बढ़ जाने पर समाधि, ध्यान एवं तपस् को उसका अंग मान लिया गया है। यदि हम वैदिकोत्तर वैदिक परम्परा की ओर दृष्टिपात करते हैं तो देखते हैं कि पातञ्जलयोग में महर्षि पतञ्जलि 'योगश्चित्तवृत्तिर्निरोधः।' सूत्र लिखकर चित्तवृत्ति के निरोध को योग कहते हैं तो श्रीमद्भगवद्गीता में महर्षि व्यास **'समत्वं योग उच्यते'** कहकर समता को योग कहते हैं। श्रीमद्भगवद्गीता में योग के अट्ठारह प्रकार माने हैं- समता, ज्ञान, कर्म, दैव, आत्मासंयज्ञ, ब्रह्म, संन्यास, ध्यान, संयोग-वियोग, अभ्यास, ऐश्वरी, नित्याभियोग, शरणागति, सातत्य, बुद्धि, आत्म और भक्ति। गीता के प्रथम छः अध्याय कर्मयोग प्रधान, मध्य के

छः अध्याय भक्तियोग प्रधान तथा अन्तिम छः अध्याय ज्ञानयोगप्रधान हैं। अन्य अनेक योग प्रधान ग्रन्थों की रचना वैदिक परम्परा में हुई है, जो योग की महत्ता को सिद्ध करते हैं।

बौद्ध परम्परा में भी योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह बात सुप्रसिद्ध है कि महात्मा बुद्ध बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व छः वर्षों तक योगसाधन या ध्यान और समाधि शब्दों का प्रयोग हुआ है, परन्तु क्वचित् इन्हें योग का अंग भी कहा गया है -

'प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽय धारणा।
अनुस्मृतिः समाधिश्च षडंगो योग उच्यते।।[3]

प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, अनुस्मृति और समाधि ये छः योग के अंग कहे गये हैं।

जैन परम्परा में योग, ध्यान एवं समाधि को पर्यायवाची माना गया है तो कहीं-कहीं परस्पर अंगाङ्गिभाव के रूप में भी उल्लेख हुआ है। जैन वाङ्मय के ये उल्लेख वैदिक एवं बौद्ध साहित्य के उल्लेखों से प्रायः समानता रखते हैं। धवला में **'युज्यते इति योगः'**[4] कहकर सम्बन्ध को योग कहा है तो तत्त्वार्थवार्तिककार **'योजनं योगः सम्बन्ध इति यावत्'**[5], वहाँ संवर एवं निर्जरा के प्रसंग में स्पष्टतया समाधि या सम्प्रणिधान (मन-वचन-काय के निरोध) को योग कहा गया है- 'योगः समाधिः सम्प्रणिधानमित्यर्थः'[6]। प्राकृत पञ्चसंग्रह में जीव के वीर्यपरिणाम (सामर्थ्यविशेष) या प्रणियोग (प्रदेशपरिस्पन्दन) को योग कहा है।

'मनसा वाचा काएण वापि जुत्तस्स विरियपरिणामो।
जीवस्सप्पणिजोगो जोगो त्ति जिणेहि णिदि्दट्ठो।।'[7]

अर्थात् मन, वचन एवं काय से युक्त जीव का जो सामर्थ्य परिणमन (शक्तिविशेष) अथवा प्रणियोग (प्रदेश परिस्पदन) है, उसे जिनेन्द्र भगवन्तों ने योग कहा है। आचार्य अकलंकदेव योग, समाधि एवं ध्यान को एकार्थक मानते हुए लिखते हैं- 'युजेः समाधिवचनस्य योगः समाधिः ध्यानमित्यनर्थान्तरम्'[8]।

तत्त्वानुशासन में मुनि रामसेन लिखते हैं-

'प्रत्याहृत्य यदा चिन्तां नानालम्बनवर्तिनीम्।
एकालम्बन एवैनां निरुणद्धि विशुद्धधीः॥
तदास्य योगिनो योगाश्चिन्तैकाग्रनिरोधनम्।
प्रसंख्यानं समाधिः स्याद्ध्यानं स्वेष्टफलप्रदम्॥'[९]

जिस समय विशुद्ध बुद्धि वाला योगी किसी एक मुख्य पदार्थ का अवलम्बन कर अनेक पदार्थों के अवलम्बन में रहने वाली चिन्ता को दूर कर केवल उसी एक पदार्थ के चिन्तन को स्थिर करता है, उस समय उस योगी का चिन्तन योग कहलाता है। उसी को चिन्ता की एकाग्रता का निरोध कहते हैं, उसी को प्रसंख्यान कहते हैं और उसी को समाधि कहते हैं और वही आत्मा को इष्ट फल देने वाला ध्यान कहलाता है। इस सन्दर्भ में एक अन्य श्लोक भी परम्परागत रूप से प्राप्त होता है, जिसमें योग, ध्यान, समाधि, धीरोध, स्वान्तनिग्रह एवं अन्तःसंलीनता को पर्यायवाची कहा गया है-

'योगो ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृताः बुधैः॥[१०]

ये सभी शब्द अर्थतः किञ्चित् भिन्न होने पर भी एकाग्रचिन्ता निरोध रूप होने से पर्यायवाची कहे गये हैं।

अर्धमागधी जैन आगमों में योग के स्थान पर प्रायः ध्यान शब्द का प्रयोग हुआ है, किन्तु निर्युक्तियों के परिशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि योग एवं ध्यान में किञ्चित् अन्तर होने पर भी आगे चलकर दोनों एकार्थक बन गये हैं।[11] हाँ इतना अवश्य है कि ध्यान के प्रथम दो भेद आर्त एवं रौद्र योग रूप नहीं हैं, केवल अन्तिम के दो भेद धर्म एवं शुक्ल ध्यान को ही योग रूप कहा गया है।

जैनाचार्य त्रैविद्य सोमदेव ने योग के आठ अंगों का वर्णन किया है-

'संयमो नियमश्चैव करणं च तृतीयकम्।
प्राणायामः प्रत्याहारः समाधिर्धाणा तथा॥
ध्यानं चेतीह योगस्य ज्ञेयमष्टांगकं बुधैः।[१२]

संयम, नियम, करण, प्राणायाम, प्रत्याहार, समाधि, धारणा एवं ध्यान को विद्वानों ने योग के आठ अंग कहे हैं।

उक्त आठ अंग वे ही हैं जो पतञ्जलि ने योगसूत्र में परिगणित किये हैं। हाँ, इनमें किञ्चित् क्रमपरिवर्तन अवश्य है तथा कुछ नाम परिवर्तन भी है। पतञ्जलिकथित यम के स्थान पर संयम और आसन के स्थान पर करण शब्द का प्रयोग हुआ है तथा मोक्षमार्ग में ध्यान साक्षात् मोक्ष का कारण माने जाने के कारण उसे अन्त में रखा गया है। त्रैविद्य सोमदेव आगे लिखते हैं-

इस समस्त अंगों के द्वारा किया गया योग प्राणियों की मुक्ति के लिए होता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पाँच व्रत योग के प्रकरण में संयम कहे जाते हैं। शौच, तप, संतोष, स्वाध्याय और देवस्मरण ये पाँच नियम हैं। करण आसन को कहते हैं। श्वासोच्छ्वास की स्थिरता प्राणायाम है तथा विषयों से इन्द्रियों की निवृत्ति करना प्रत्याहार है। संसार का नाश करने वाले वाक्यों का चिन्तन करना समाधि है। स्थिरता के कारण को ध्यान कहते हैं तथा पदार्थ के चिन्तन में चित्त का लगाना धारणा है। ध्यान चाहे स्थूल हो या सूक्ष्म हो, साकार हो या निराकार हो, ध्येय पर चित्त का स्थिर हो जाना ध्यान का कारण होता है। संयमादि अष्टांग योग है। यह सर्वातिशयसम्पन्न ध्यान कल्याण का कारक है।[13]

षट्खण्डागम की आचार्य वीरसेन स्वामी द्वारा रचित धवला टीका में ध्यान के प्रकरण में मात्र धर्मध्यान एवं शुक्लध्यान इन दो ध्यानों का ही वर्णन किया गया है[14], जबकि अन्यत्र प्रायः आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यान इन चार ध्यानों का वर्णन उपलब्ध होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि संवर और निर्जरा के कारणभूत तप का प्रकरण होने से आचार्य वीरसेन स्वामी ने धर्म एवं शुक्ल इन दो ध्यानों का ही कथन किया है। उन्होंने संसार परिभ्रमण के कारणभूत होने से आर्तध्यान एवं रौद्रध्यान का कथन नहीं किया है। तत्त्वार्थसूत्र, ध्यानशतक, ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन आदि ग्रन्थों में ध्यान के चार भेद करके आदि के दो आर्त एवं रौद्र ध्यानों को संसार का कारण तथा अन्त के दो धर्म एवं शुक्ल ध्यानों को मोक्ष का कारण प्रतिपादित किया है। यथा -

'आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि। परे मोक्षहेतू।'[१५]

'अट्टं रुद्दं धम्मं सुक्कं झाणाइं तत्थ अंताइं।

णिव्वाणसाहणाइं भवकारणमट्टरुद्दाइं।।'[१६]
'स्यातां तत्रार्तरौद्रे द्वे दुर्ध्यानेऽत्यन्तदुःखदे।
धर्मशुक्ले ततोऽन्ये द्वे कर्मनिर्मूलनक्षमे।।'[१७]
'आर्तं रौद्रं च दुर्ध्यानं वर्जनीयमिदं सदा।
धर्मं शुक्लं च सद्ध्यानमुपादेयं मुमुक्षुभिः।।'[१८]

आर्तध्यान और रौद्रध्यान वस्तुतः दुर्ध्यान हैं। वास्तविक ध्यान तो धर्मध्यान और शुक्लध्यान ही हैं। अतः जो ध्यान कर्मों के संवर एवं निर्जरा के कारण बनते हैं, वे तो अन्तिम दो ही हैं। योगसाधना में भी ये दो ही प्रयोज्य हैं।

कतिपय अर्वाचीन ग्रन्थों में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ एवं रूपातीत इन चार अन्य ध्यानों का भी वर्णन मिलता है।[19] इनका निर्देश भगवती आराधना, मूलाचार, ध्यानशतक आदि योग या अन्य ध्यानविषयक ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। अर्धमागधी आगमों में भी इनका निर्देश नहीं किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वृहद्द्रव्यसंग्रह में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्तिदेव ने जिन परमेष्ठीवाचक अनेक पदों के ध्यान का वर्णन किया है, उन पदों में पिण्डस्थ आदि ध्यानों के बीज खोजे जा सकते हैं। ध्यान के लिए प्रमुख रूप से तीन तत्त्वों का होना आवश्यक है- ध्याता, ध्येय और ध्यान। श्री शुभचन्द्राचार्य के अनुसार ध्याता का स्वरूप इस प्रकार है-

'मुमुक्षुर्जन्मनिर्विण्णः शान्तचित्तो वशी स्थिरः।
जिताक्षः संवृतो धीरो ध्याता शास्त्रे प्रशस्यते।।'[२०]

मुमुक्षु, जन्म से निर्वेद युक्त, शान्तचित्त, वशी (संयमी), स्थिर, जितेन्द्रिय, संवरयुक्त एवं धीर ध्याता ही शास्त्र में प्रशंसनीय होता है। ध्यान के आलम्बन को ध्येय कहते हैं तथा एकाग्र चिन्तन का नाम ध्यान है।

कर्मसिद्धान्त

कर्मसिद्धान्त भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। सभी भारतीय धार्मिक परम्परायें अपने-अपने ढंग से कर्म की महत्ता को स्वीकार करके कर्मसिद्धान्त का प्रतिपादन करती है। डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी लिखते हैं-

'कर्मफल का सिद्धान्त भारतवर्ष की अपनी विशेषता है। पुनर्जन्म का सिद्धान्त खोजने का प्रयत्न अन्यान्य देशों के मनीषियों में भी पाया जा सकता है, परन्तु इस कर्मफल का सिद्धान्त और कहीं भी नहीं मिला।'[21]

प्राच्यविद्या के सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक ए.बी. कीथ ने रायल एशियाटिक सोसायटी के जरनल में एक बड़ा ही चिन्तनपरक आलेख लिखा था। वे लिखते हैं -

'भारतीयों के कर्मबन्ध का सिद्धान्त निश्चय ही अद्वितीय है। संसार की समस्त जातियों से उन्हें यह सिद्धान्त अलग कर देता है। जो कोई भी भारतीय धर्म और साहित्य को जानना चाहता है, वह उक्त सिद्धान्त को जाने बिना अग्रसर नहीं हो सकता है।'[22]

यतः विभिन्न दार्शनिकों की आत्मविषयक अवधारणायें भिन्न-2 हैं, अतः कर्मसिद्धान्त की मान्यता में मतवैभिन्य होना अस्वाभाविक नहीं है। तथापि पुनर्जन्म की सिद्धि के लिए वैदिक, बौद्ध एवं जैन सभी धार्मिकों ने कर्मसिद्धान्त को स्वीकार किया है। विभिन्न दार्शनिकों ने कर्म के पर्यायवाची के रूप में पृथक्-पृथक् शब्द स्वीकार किये हैं। यथा -

जैन	-	कर्म
बौद्ध	-	वासना, अविज्ञप्ति।[23]
वेदान्त	-	अविद्या, माया।[24]
सांख्य-योग	-	आशय, क्लेश।[25]
न्याय-वैशेषिक	-	धर्माधर्म, संस्कार, अदृष्ट।[26]
मीमांसक	-	अपूर्व।[27]

जैनदर्शन के अनुसार कर्म एक स्वतन्त्र तत्त्व है। आचार्य देवचन्द्र लिखते हैं- **'कीरइ जीएण हेउहि, जेणत्तो भण्णए कम्मं।'**[२८] अर्थात् जिन कारणों से जीव कुछ करता है, वह कर्म है। कर्म मात्र संस्कार नहीं है, अपितु वह जीवकृत है। परमात्मप्रकाश में स्पष्टतया कहा गया है-

'विसयकसायहिं रंगियहिं, जे अणुया लग्गंति।
जीवपएसहँ मोहियहँ, ते जिण कम्म भणंति।।'[२९]

अर्थात् आत्मा की राग-द्वेष रूप क्रिया से रंजित होकर जो पुद्‌गल कर्मपरमाणु आत्म-प्रदेशों के साथ बद्ध हो जाते हैं, उन्हें जिनेन्द्र भगवन्त

कर्म कहते हैं। जैसे तपाया गया लोहे का गोला पानी में डालने पर चारों ओर के पानी को अपनी ओर खींच लेता है, वैसे ही आत्मा भी राग-द्वेष के वशीभूत होकर कर्म पुद्गलों को अपनी ओर खींच लेता है। अथवा आत्मा की राग-द्वेष रूप क्रिया से जो कर्मयोग्य पुद्गल परमाणु चुम्बक की तरह आकृष्ट होकर आत्मप्रदेशों के साथ बंध जाते हैं, वे कर्म कहलाते हैं। वस्तुतः मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग से जो किया जाता है, वह कर्म है। ये पांचों ही बन्ध के कारण है, किन्तु बन्ध में कषाय (राग-द्वेष) की मुख्य भूमिका है, क्योंकि जब जीव कषाययुक्त होने के कारण कर्म के योग्य पुद्गल परमाणुओं को ग्रहण करता है तभी बन्ध होता है। आचार्य उमास्वामी ने स्पष्टतया कहा है-

'मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः।
सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान्पुद्गलानादत्ते स बन्धः'।[३०]

कर्म के मुख्यतः दो भेद हैं- द्रव्य कर्म और भाव कर्म।[31] सांसारिक जीव के राग-द्वेष आदि रूप विभाव परिणाम भाव कर्म कहलाते हैं तथा उन विभाव परिणामों से आत्मा के साथ जो कार्मण वर्गणायें चिपक जाती हैं, वे द्रव्य कर्म हैं। इन दोनों में निमित्त-नैमित्तिक रूप द्विमुख सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध सन्तति की अपेक्षा से संसारी जीवों के अनादि है, किन्तु कोई विशिष्ट कर्म अनादि नहीं है। इनका सम्बन्ध बीज एवं वृक्ष की तरह या मुर्गी और उसके अण्डे की तरह समझना चाहिए। कर्म के कारण ही संसार में विषमता/विविधता दृष्टिगोचर होती है।[32]

आत्मा और कर्म दोनों अनादि हैं। प्रतिक्षण संसारी जीव नवीन कर्म बांधता रहता है। ऐसा एक भी क्षण नहीं है जब जीव कर्मबन्ध न करता हो। इस दृष्टि से यद्यपि कर्म सादि भी है तथापि कर्मसन्तति का आत्मा के साथ अनादि काल से सम्बन्ध है।[33] एक क्षण भी आत्मा पूर्णतया सभी कर्मों से मुक्त नहीं हुआ है। कनकोपल की तरह आत्मा और कर्म का अनादि सम्बन्ध होने पर भी वह अनन्त नहीं है। अनादि अनन्त ही हो ऐसा सार्वत्रिक नियम नहीं है। स्वर्ण एवं उपल का, दुग्ध एवं घृत का अनादि सम्बन्ध है तथापि पृथक्-पृथक् हो जाने से यह अनन्त नही है। अनादिकालीन कर्मों का अन्त हो सकता है, तप एवं संयम के

द्वारा नये कर्मों का बन्धन रुक जाता है तथा आत्मा मुक्त बन जाता है। कहा भी गया है कि-

'खवित्ता पुव्वकम्माइं, संजमेण तवेण य।
सव्वदुक्खपहीणट्ठा, पक्कमन्ति महेसिणो।।[३४]

विपाक (कर्मफल) की दृष्टि से कर्म दो प्रकार हैं- शुभ एवं अशुभ या पुण्य एवं पाप अथवा कुशल एवं अकुशल। इन उभयविध कर्मों का उल्लेख वैदिक[35], बौद्ध[36] और जैन[37] तीनों परम्पराओं में हुआ है।

भारतीय कर्मसिद्धान्त कहता है कि कृतकर्म का फल अवश्य ही भोगना पड़ता है- **'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।'**[३८] यह हो सकता है जीव ने जो अच्छा या बुरा कर्म किया है, उसका फल इसी जन्म में न मिलकर जन्म-जन्मान्तर में प्राप्त हो।

महात्मा बुद्ध धम्मपद में कहते हैं-

'न अन्तलिक्खे न समुद्दमज्झे, न पव्वतानं विवरं पविस्स।
न विज्जते सो जगतिप्पदेसो, यत्थट्ठितो मुञ्चेय्य पापकम्मा।।[३९]

चाहे अन्तरिक्ष में चले जाओ, समुद्र में घुस जाओ या पर्वत की गुफाओं में प्रवेश कर जाओ, किन्तु पृथिवी पर ऐसा कोई भी स्थान नहीं है, जहाँ पाप कर्म जीव का साथ छोड़ दे।

वैदिक मतानुयायी सिहलन मिश्र ने यही बात अपने शान्तिशतक काव्य में कही है-

'आकाशमुत्पततु गच्छतु वा दिगन्त-
मम्भोनिधिं विशतु तिष्ठतु वा यथेष्टम्।
जन्मान्तरार्जितशुभाशुभकृन्नराणां
छायेव न त्यजति कर्म फलानुबन्धि।।[४०]

आकाश में उड़ जाओ अथवा दिशाओं के छोर तक चले जाओ, समुद्र में घुस जाओ अथवा इच्छानुसार कहीं भी रहो। जन्म-जन्मान्तर में जो शुभ या अशुभ कर्म किये हैं, उनके फल तो छाया के समान कभी भी साथ नहीं छोड़ते हैं।

जैन धर्म की भी यह दृढ़ मान्यता है कि जीव ने जो कर्म बांधा है, उसे इस जन्म में या आगामी जन्मों में भोगना ही पड़ता है। भगवतीसूत्र

में कहा गया है -

'परलोककडा कम्मा इह लोए वेइज्जंति।
इहलोककडा कम्मा इह लोए वेइज्जंति।'[४१]

श्री कुन्दकुन्दाचार्य भी लिखते हैं-

'जीवा पुग्गलकाया, अण्णोण्णा गाढगहणपडिबद्धा।
काले विजुज्जमाणा, सुहदुक्खं दिंति भुंजंति।।'[४२]

जीव और कर्मपुद्‌गल परस्पर प्रगाढ़ रूप से गहन मिले हुए हैं। समय पर वे पृथक-पृथक् भी हो जाते हैं। तब तक कर्म सुख-दुःख देता है और जीव को वह भोगना पड़ता है।

यद्यपि जैन, बौद्ध एवं वैदिक तीनों परम्परायें यह मानती हैं कि व्यक्ति को अपने द्वारा किये गये शुभाशुभ कर्मों का फल भोगना पड़ता है, तथापि वैदिक परम्परा में यह मान्यता है कि ईश्वर व्यक्ति के पापों या अशुभ फलों को अन्यथा रूप कर सकता है। व्यक्ति स्वयं अपना स्वामी नहीं है। महर्षि व्यास कहते हैं-

'अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुःखयोः।
ईश्वरप्रेरितो गच्छेत्स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा।।'[४३]

यह अज्ञानी प्राणी अपने सुख-दुःख का स्वामी नहीं है। ईश्वर की इच्छा से वह स्वर्ग या नरक जा सकता है।

वैदिकों का उक्त कथन जैनों को मान्य नहीं है। उनके अनुसार आत्मा अपना उत्थान-पतन का स्वयं कर्ता है। आचार्य अमितगति का कथन है-

'स्वयं कृतं कर्म यदात्मना पुरा
फलं तदीयं लभते शुभाशुभम्।
परेण दत्तं यदि लभ्यते स्फुटं
स्वयं कृतं कर्म निरर्थक तदा।।'[४४]

अपने पूर्वकृत कर्मों का ही शुभाशुभ फल हम भोगते हैं। यदि अन्य के द्वारा दिया गया फल भोगें तो हमारे स्वयं के द्वारा किया गया कर्म निरर्थक हो जायेगा।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब कृत कर्म का फल अवश्य ही

भोगना पड़ता है तो योगसाधना या ध्यानसाधना की क्या भूमिका है? यहाँ ध्यातव्य है कि जिन कर्मों का आत्मा ने बंध कर लिया है, वे अवश्य ही उदय में आते हैं। उदय में आने पर वे कर्म अपनी मूल प्रकृति के अनुसार फल देते हैं। कर्म की मूल प्रकृतियाँ आठ हैं- ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय। इनमें ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार कर्म आत्मा के अनुजीवी गुणों का घात करते हैं, अत: घातिकर्म कहलाते हैं तथा शेष वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र चार कर्म जीव के अनुजीवी गुणों का घात नहीं करते हैं, अत: अघातिकर्म कहलाते हैं। इन आठ कर्मों को दृष्टान्त के रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है-

1. ज्ञानावरण	-	मुख पर ढँका वस्त्र
2. दर्शनावरण	-	द्वारपाल
3. वेदनीय	-	मधुलिप्त खड्ग
4. मोहनीय	-	मदिरा
5. आयु	-	हलि (खोड़ा)
6. नाम	-	चित्रकार
7. गोत्र	-	कुम्भकार
8. अन्तराय	-	भण्डारी

कहा भी गया है-

'पडपडिहारसिमज्जा हलिचितकुलालभंडयारीणं।
जह एदेसिं भावा तहवि य कम्मा मुणेयव्वा।।'[४६]

कर्मों की मूल प्रकृतियों में उलटफेर नहीं हो सकता है, किन्तु उत्तर प्रकृतियों के सम्बन्ध में यह नियम पूर्णत: लागू नहीं होता है। एक कर्म की उत्तर प्रकृति उसी कर्म की उत्तर प्रकृति के रूप में परिवर्तित हो सकती है। यह बात भी सर्वत्र लागू नहीं है। जैसे दर्शन मोहनीय चारित्र मोहनीय के रूप में या चारित्र मोहनीय दर्शन मोहनीय के रूप में संक्रमित नही हो सकती है। दर्शन मोहनीय की सम्यक्त्व वेदनीय प्रकृति का मिथ्यात्व वेदनीय प्रकृति के रूप में या मिथ्यात्व वेदनीय प्रकृति का सम्यक्त्व वेदनीय प्रकृति के रूप में संक्रमण नहीं होता है। आयु कर्म की

उत्तर प्रकृतियों का भी परस्पर संक्रमण नहीं होता है। तत्त्वार्थवार्तिक में कहा गया है-

'अनुभवो द्विधा प्रवर्तते स्वमुखेन परमुखेन च । सर्वासां मूलप्रकृतीनां स्वमुखेनैवानुभवः। उत्तरप्रकृतीनां तुल्यजातीयानां परमुखेनापि भवति। आयुदर्शनचारित्रमोहवर्ज्यानाम्। न हि नरकायुमुखेन तिर्यगायुर्मनुष्यायुर्वा विपच्यते। नापि दर्शनमोहश्चारित्रमोहमुखेन चारित्रमोहो वा दर्शनमोहमुखेन।'[47]

कर्मों की उत्तरप्रकृतियों के संक्रमण में योगसाधना की महनीय भूमिका है। इसी प्रकार पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति एवं अनुभाग के उत्कर्षण एवं अपकर्षण में तथा नियत समय से पूर्व कर्मों की उदीरणा में भी योगसाधना या ध्यानसाधना सक्षम है। कर्मों के विद्यमान रहते हुए उन्हें उदय में आने के लिए अक्षम बना देना उपशमन है। कर्मों के उपशमन में भी योगसाधना कारगर हो सकती है। अतः कहा जा सकता है कि कर्मों की उत्कर्षण, अपकर्षण, संक्रमण, उदीरणा एवं उपशमन अवस्थाओं से योगसाधना का निकट का सम्बन्ध है। ध्यानसाधना (योगसाधना) अर्थात् ध्यान की परिपूर्णता ही कर्ममुक्ति का साक्षात् कारण है।

संदर्भ :

1. पातञ्जल योगसूत्र, 1.2
2. श्रीमद्भगवद्गीता, 2.48
3. संयुत्तनिकाय शैकोद्देश टीका (जैन परम्परा में ध्यान का स्वरूप पृ. 36 से उद्धृत)
4. धवला, 1.1.1
5. तत्त्वार्थवार्तिक, 7.13
6. तत्त्वार्थसूत्र, 6.1
7. पञ्चसंग्रह, गाथा 88
8. तत्त्वार्थवार्तिक 6.1
9. तत्त्वानुशासन, 60-61
10.तत्त्वानुशासन की टीका में से उद्धृत
11. स्थानांगसूत्र 4.1, समवायांगसूत्र 4, उत्तराध्ययनसूत्र 30-35 आदि।
12. समाधिसार, 133-134
13. समाधिसार, 135-140
14. धवला पुस्तक 13 पृ. 70
15. तत्त्वार्थसूत्र, 9. 28-29
16. ध्यानशतक, 5
17. ज्ञानार्णव 25.21
18. तत्त्वानुशासन 34
19. द्रष्टव्य- भावसंग्रह (देवसेन), योगसार (योगीन्दुदेव)
20. ज्ञानार्णव, 4.6
21. अशोक के फूल, पृ. 67
22. वही, पृ. 67 से उद्धृत
23. अभिधर्मकोश परिच्छेद 4
24. ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य 2.1.14

25. योगदर्शनभाष्य, 1.5, 2.3, 12-13 आदि
26. न्यायभाष्य, 1.1.2
27. मीमांसासूत्र शाबरभाष्य, 2.1.5
28. कर्मबन्ध, प्रथम, गाथा।
29. परमात्मप्रकाश, 1.62
30. तत्त्वार्थसूत्र, 8.1-2
31. गोम्मटसार कर्मकाण्ड
32. 'कम्मुणा उवाही जायइ।'- आचारांगसूत्र, 3.1
'कामादिप्रभवश्चित्रं कर्मबन्धानुरूपतः।' - आप्तमीमांसा
33. 'जो खलु संसारत्थो जीवो तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो होदि गदिसुगदी।।
गदिमधिगदस्स देहो देहादो इंदियाणि जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो रागो व दोसो वा।।
जायदि जीवस्सेवं भावो संसारचक्कवालम्मि।
इदि जिणवरेहिं भणिदो अणादिणिधणो सणिधणो वा।।' - पञ्चास्तिकाय
34. उत्तराध्ययनसूत्र, 25-45
35. वृहदारण्यकोपनिषद्, 3.2.13, सांख्यकारिका 44, योगसूत्र 2.14, योग्यभाष्य, 2.12
36. विशुद्धिमग्ग, 17.88
37. 'शुभः पुण्यस्याशुभः पापस्य।' - तत्त्वार्थसूत्र, 6.3
38. पञ्चतन्त्र (विष्णु शर्मा)
39. धम्मपद, 9.12
40. शान्तिशतक, श्लोक 82
41. भगवतीसूत्र
42. पञ्चास्तिकाय, गाथा 67
43. महाभारत, वन पूर्व अध्याय 30 श्लोक 28
44. द्वात्रिंशिका, श्लोक 30
45. 'आद्यो ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाः।' -तत्त्वार्थसूत्र, 8.4
46. गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा 21
47. तत्त्वार्थसूत्रवार्तिक, 8.22

- अध्यक्ष, अ. भा. दि. जैन विद्वत्परिषद
429, पटेलनगर, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

सम्यग्दर्शन के अनायतन : एक चिन्तन

-डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती'

सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी कहा गया है। इससे ही मोक्षमार्ग का प्रारम्भ होता है। देव-शास्त्र-गुरु एवं धर्म पर श्रद्धा सम्यग्दर्शन के लिए जरूरी है। **'मोक्खपाहुड'** में आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने लिखा है कि-

हिंसारहिए धम्मे अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।[१]

अर्थात् हिंसादि रहित धर्म, अठारह दोष रहित देव, निर्ग्रन्थ प्रवचन अर्थात् मोक्षमार्ग व गुरु इनमें श्रद्धा होना सम्यग्दर्शन है।

आचार्य श्री समन्तभद्र ने रत्नकरण्डश्रावकाचार में सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए कहा कि-

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रिमूढापोढमष्टांग सम्यग्दर्शनमस्मयम्।।[२]

अर्थात् सत्यार्थ देव-शास्त्र और गुरु; इन तीनों का आठ अंग सहित, तीन मूढ़ता और आठ मद रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहा जाता है।

आचार्य श्री उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है कि-**''तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्''**[३] अर्थात् अपने-अपने स्वभाव में स्थित तत्त्वार्थ के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। तत्त्व सात हैं-

'जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्।'[४]

अर्थात जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष; ये सात तत्त्व हैं। 'मोक्खपाहुड' में तत्त्वरुचि को भी सम्यग्दर्शन कहा है- **''तच्चरुई सम्मत्तं।''**[५]

श्री कार्तिकेय स्वामी ने सम्यग्दृष्टि को परिभाषित करते हुए कहा है-

णिज्जियदोसं देवं सव्वजिणाणं दयावरं धम्मं।
वज्जियगंथं च गुरुं जो मण्णदि सो हु सद्दिट्ठी।।[६]

अर्थात् जो वीतराग अरहन्त को देव, दया को उत्कृष्ट धर्म और निर्ग्रन्थ को गुरु मानता है, वही सम्यग्दृष्टि है।

सम्यग्दर्शन को बनाये रखने के लिए 'आयतन' हैं और जिनसे सम्यग्दर्शन के विपरीत आचरण देखा जाता है वे अनायतन हैं। द्रव्यसंगह टीका में आया है कि-"सम्यक्त्वादिगुणानामायतनं गृहमावास आश्रय आधारकरणं निमित्तमायतनं भण्यते तद्विपक्षभूतमनायतनमिति।'[7] अर्थात् सम्यक्त्वादिगुणों का आयतन घर-आवास-आश्रय (आधार) करने का निमित्त, उसको आयतन कहते हैं और उससे विपरीत अनायतन है।

आयतन को परिभाषित करते हुए आचार्य श्री कुन्दकुन्द ने बोधपाहुड में लिखा है कि-

मणवयणकायदव्वा आसता जस्स इंदिया विसया।
आयदणं जिणमग्गे णिद्दिट्ठं संजय रूवं।।
मय राय दोस मोहो कोहो लोहो य जस्स आयत्ता।
पंचमहव्वयधरा आयदणं महरिसी भणियं।।
सिद्धं जस्स सदत्थं विसुद्धझाणस्स णाणजुत्तस्स।
सिद्धायदणं सिद्धं मुणिवरसहस्स मुणिदत्थं।।[८]

अर्थात् मन-वचन-काय रूप द्रव्य तथा इन्द्रियों के विषय जिससे सम्बन्ध को प्राप्त हैं अथवा जिसके अधीन हैं, ऐसे संयमी मुनि का शरीर जिनागम में आयतन कहा गया है। मद, राग, द्वेष, मोह, क्रोध और लोभ जिसके अधीन हैं तथा जो पंच महाव्रतों को धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे गये हैं।

विशुद्धध्यान से सहित एवं केवलज्ञान से युक्त जिस श्रेष्ठ मुनि के निजात्मस्वरूप सिद्ध हुआ है, अथवा जिन्होंने छहद्रव्य, साततत्त्व, नवपदार्थ अच्छी तरह जान लिये हैं उन्हें सिद्धायतन कहा है। इसकी व्याख्या करते हुए श्री श्रुतसागर सूरि ने कहा है कि- हृदय के मध्य में आठ पांखुरी के कमल के आकार वस्तु स्वरूप के विचार में सहायक जो मानस द्रव्य है वह मन कहलाता है। हृदय आदि आठ स्थानों के आश्रित जो वचन हैं

अथवा वचन-शक्ति से युक्त जो पुद्गल है वे वचन द्रव्य कहलाते हैं। आठ अंग और अनेक उपांगों से युक्त मुनि का जो शरीर है वह काय द्रव्य है। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियाँ हैं। इनके स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द ये पांच विषय हैं। ये विषय यथासंभव शक्ति रूप तथा व्यक्ति रूप होते हैं। इस प्रकार मन-वचन-काय रूप द्रव्य तथा स्पर्श आदि इन्द्रिय-सम्बन्धी जिनके अपने आपके सम्बन्ध को प्राप्त हैं अर्थात् परपदार्थ से हटकर आत्मा से सम्बन्ध रखते हैं अथवा 'आयत्ता' पाठ की अपेक्षा ये सब जिनके स्वाधीन हैं, ऐसे संयत अर्थात् संयमी मुनि का सचेतन शरीर जिनागम में आयतन कहा गया है।

मद आठ प्रकार का होता है जैसा कि श्री समन्तभद्र महाकवि ने कहा है-

ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धि तपो वपुः।
अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥

अर्थात् ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीर, इन आठ का आश्रय कर अहंकार करने को निर्मद ऋषि मद कहते हैं। राग प्रीति को कहते हैं। द्वेष अप्रीति स्वभाव को कहते हैं। स्त्री, पुत्र तथा मित्र आदि के स्नेह को मोह कहते हैं। रोष रूप स्वभाव को क्रोध कहते हैं, मूर्च्छा रूप परिणाम अर्थात् परिग्रह को ग्रहण करने का जो स्वभाव है उसे लोभ कहते हैं। चकार से माया का ग्रहण होता है, दूसरे को ठगने का जो स्वभाव है, उसे माया कहते हैं। ये सब मद आदि विकार जिस महर्षि के-आचार्य, उपाध्याय और साधु; इन तीन भेद रूप मुनि के अधीन हैं-स्वीकार अथवा अस्वीकार करने के योग्य हैं। जो अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच महाव्रतों को अथवा रात्रिभोजन त्याग के साथ छह महाव्रतों को धारण करने वाले हैं, ऐसे महर्षि आयतन कहे गये हैं। ये महर्षि ही सम्मुख-गमन करने योग्य हैं तथा दर्शन, स्पर्शन और वन्दना के योग्य हैं।

इनके सिवाय अन्य लिंगों को धारण करने वाले जटाधारी, पाशुपत, एकदण्ड अथवा तीन दण्ड को धारण करने वाले, मिथ्यादृष्टि होकर शिर मुड़ाने वाले, एक शिखा रखने वाले, दिगम्बर नामधारी, पशुयज्ञ करने

वाले दीक्षित, अध्वर्यु, उद्‌गाता, होता, अथर्ववेद के ज्ञाता, व्यास, स्मार्त तथा जैनाभास आदि साधु न सामने जाने के योग्य हैं, न दर्शन करने के योग्य हैं और न अभिवादन, नमस्कार करने योग्य हैं-

प्रश्न- जैनाभास कौन है ?

उत्तर- **गोपुच्छिकः श्वेत वासो द्राविडो यापनीयकः।**
निष्पिच्छश्चेति पंचैते जैनाभासाः प्रकीर्तिताः॥

अर्थात् गोपुच्छिक, शेतवासस्, द्राविड, यापनीयक और निष्पच्छ- ये पाँच जैनाभास कहे गये हैं।

यद्यपि ये मयूर-पिच्छ के धारक हैं तो भी संशय मिथ्यादृष्टि होने के कारण नमस्कार करने के योग्य नहीं हैं, क्योंकि संशय मिथ्यादृष्टि होने के कारण मिथ्यादृष्टि ही माने जाते हैं।[9]

आयतन स्थान को कहते हैं। जो सद्‌गुणों का स्थान हैं वही जिनागम में आयतन नाम से प्रसिद्ध है। परम वैराग्य से युक्त सद्‌गुरुओं के सिवाय नाना वेशों को धारण करने वाले पाखण्डी साधु आयतन नहीं हैं, वे नमस्कार के योग्य नहीं हैं। द्रव्यसंग्रह टीका में अनायतन का स्वरूप बताते हुए कहा है कि- अथानायतनषट्‌कं कथयति। मिथ्यादेवो, मिथ्योदेवाराधको, मिथ्यातपो, मिथ्यातपस्वी, मिथ्यागमो, मिथ्यागमधराः पुरुषाश्चेत्युक्तलक्षणमनायतनषट्‌कं। अर्थात् अब छह अनायतनों का कथन करते हैं- मिथ्यादेव, मिथ्यादेवों के सेवक, मिथ्यातप, मिथ्यातपस्वी, मिथ्याशास्त्र और मिथ्याशास्त्रों के धारक; इस प्रकार के छह अनायतन सरागसम्यग्दृष्टियों को त्याग करने चाहिए। चारित्तपाहुड गाथा 6 की टीका में श्री श्रुतसागर सूरि षट् अनायतन कौन-कौन हैं; इस विषय में कहते हैं कि-

कुदेवगुरुशास्त्राणां तद्‌भक्तानां गृहे गतिः।
षडायतनमित्येवं वदन्ति विदितागमाः॥

प्रभाचन्द्रस्त्वेव वदति- मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्राणि त्रीणि त्रयश्च तद्वन्तः पुरुषाः षडनायतनानि। अथवा असर्वज्ञः 1 असर्वज्ञायतनं, 2 असर्वज्ञज्ञानं, 3 असर्वज्ञज्ञानसमवेतपुरुषः, 4 असर्वज्ञानुष्ठानं, 5 असर्वज्ञानुष्ठानसमवेतपुरुष श्चेति।

अर्थात् कुदेव, कुगुरु व कुशास्त्र के तथा इन तीनों के उपासकों के घरों में आना-जाना, इनको आगमकारों ने षडनायतन; ऐसा नाम दिया है। प्रभाचन्द्र आचार्य ऐसा कहते हैं कि- मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र; ये तीन तथा इन तीनों के धारक अर्थात् मिथ्यादृष्टि, मिथ्याज्ञानी व मिथ्या आचारवान् पुरुष; यह छह अनायतन हैं। अथवा 1. असर्वज्ञ, 2. असर्वज्ञदेव का मन्दिर, 3. असर्वज्ञ ज्ञान, 4. असर्वज्ञ ज्ञान का धारक पुरुष, 5. असर्वज्ञज्ञान के अनुकूल आचार, 6. उस आचार के धारक पुरुष; यह छह अनायतन हैं।[10]

'छहढाला' में पं. दौलतराम जी ने लिखा है कि-

कुगुरु कुदेव कुवृष सेवक की, नहिं प्रशंस उचरे हैं।
जिन मुनि जिन श्रुत बिन, कुगुरादिक तिन्हें न नमन करे हैं।[११]

अर्थात् खोटे गुरु, खोटे देव और खोटे धर्म तथा इनके सेवकों की प्रशंसा नहीं करना चाहिये। जिनेन्द्र भगवान दिगम्बर मुनि और जिनवाणी के अतिरिक्त जो कुगुरु आदि हैं; उन्हें कभी नमस्कार नहीं करना चाहिए।

छह अनायतन का स्वरूप-

1. कुगुरु अनायतन- रागी, द्वेषी, मिथ्यावेषी कुगुरुओं को गुरु मानना; यह कुगुरु अनायतन है।
2. कुदेव अनायतन- अठारह दोषों से युक्त, रागी, द्वेषी कुदेवों को देव मानना; कुदेव अनायतन है।
3. कुवृष अनायतन- हिंसा युक्त खोटे धर्म में धर्म मानना कुवृष अर्थात् कुधर्म अनायतन है।
4. कुगुरु सेवक अनायतन- कुगुरुओं की सेवा करने वालों की प्रशंसा करना कुगुरु सेवक अनायतन है।
5. कुदेव सेवक अनायतन- कुदेव सेवकों की सेवा करने वालों की प्रशंसा करना कुदेव सेवक अनायतन है।
6. कुधर्म सेवक अनायतन- कुधर्म सेवकों की सेवा करने वालों की प्रशंसा करना कुधर्म सेवक अनायतन है।

अभिधान-राजेन्द्रकोश में यह गाथा उद्धृत की गयी है-

सावज्जमणाययणं असोहिठाणं कुसीलसंसग्गि।
एगट्ठा होंति पया एए विवरीय आययणा।।[१२]

।।अभिधान राजेन्द्र कोष।।

अर्थात् जिस स्थान पर खोटा कार्य करने हेतु जनता एकत्रित होती है; ऐसे पाप युक्त अशुद्धि के स्थान को अनायतन कहते हैं और इसके विपरीत स्थान आयतन कहलाते हैं। जो जीव इन अनायतनों को मानता है वह सच्चा सम्यग्दृष्टि या जिनधर्म पालक नहीं हो सकता। कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-319 में कहा गया है कि-

दोस-सहियं पि देवं जीव-हिंसाइ-संजुदं धम्मं।[13]
गथासत्तं च गुरुं जो मण्णदि सो हु कुद्दिट्ठी।।

अर्थात् जो दोष सहित देव को, जीव हिंसा आदि से युक्त धर्म को और परिग्रह में फँसे हुए गुरु को मानता है वह मिथ्यादृष्टि है।

भव्यजनों को सम्बोधित करते हुए कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-319 तथा 320 में कहा गया है कि-

ण य को वि देदि लच्छी ण को वि जीवस्स कुणदि उवयारं।
उवयारं अवयारं कम्मं पि सुहासुहं कुणदि।।
भत्तीए पुज्जमाणो विंतर-देवो वि देदि जदि लच्छी।
तो किं धम्म कीरदि एवं चिंतेइ सद्दिट्ठी।।[14]

अर्थात् न तो कोई जीव को लक्ष्मी देता है और न कोई उसका उपकार करता है। शुभाशुभ कर्म ही जीव का उपकार और अपकार करते हैं। सम्यग्दृष्टि विचारता है कि यदि भक्तिपूर्वक पूजा करने से व्यन्तर देवी-देवता भी लक्ष्मी दे सकते हैं तो फिर धर्म करने की क्या आवश्यकता है ?

पं. श्री मेधावी विरचित धर्मसंग्रहश्रावकाचार में कुदेवों के विषय में चर्चा करते हुए कहा है कि-

अतः संसारिणो जीवा यादृशास्तादृशा अमी।
वाक्यं प्रमाणमेतेषां कुतः स्वपरवंचकम्।।
दृग्मोहवशतः कश्चित्प्रमाणयति तद्वचः।
विषकुंभादसौ मूढः सुधां पातुं समीहते।।[15]

अर्थात् इस कारण जैसे संसारी जीव हैं उन्हीं के समान ये (मिथ्यादृष्टि-स्वयं को देव कहने वाले) भी हैं फिर अपने और दूसरे जीवों को ठगने वाले इनके वचनों को कौन प्रमाण मानेगा? यदि कोई दर्शनमोह के अधीन होकर कुदेवों के वचनों को प्रमाण मानता है तो समझना चाहिए कि वह मूर्खात्मा विष के घट से अमृत के पीने की इच्छा करता है।

वर्तमान में ऐसा देखा जाता है कि आयतन और अनायतन; दोनों को एक ही स्थान पर समकक्ष विराजमान कर दिया जाता है। जैसे- अरहन्त देव के साथ स्वर्ग के देव। यह स्थिति उचित नहीं है। इस तरह धर्म ग्रन्थों के नाम पर संसार पोषक राग-द्वेष युक्त ग्रन्थों का प्रकाशन कर उन्हें जिनवाणी के साथ विराजमान कर दिया जाता है। यह स्थिति उचित नहीं है। दिगम्बर वेशधारी वीतरागी गुरु ही आयतन हैं। जबकि आज ऐसे भी दिगम्बर वेशी साधु देखने में आ रहे हैं जो परिगह से युक्त हैं, अपने ही बनाए मठों में वर्षों से रह रहे हैं, आरम्भ के कार्यों में संलग्न हैं, धन, पैसादि का लेन-देन करते हैं, आचार-विचार में हीनता स्पष्ट दिखाई देती है और कोई कोई तो स्पष्ट कहते हैं कि हम जैन संत नहीं, जन संत हैं, ऐसे तथाकथित साधु की यदि कोई सेवा-सुश्रूषा करता है तो वह कुगुरु सेवक अनायतन की श्रेणी में ही आयेगा।

कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि हम तो सभी धर्मों को मानते हैं, सभी देवों को मानते हैं, सभी गुरुओं को मानते हैं, सभी के वचन-प्रवचन सुनते हैं, हमें तो भीड़ में मजा आता है; ऐसे लोगों को स्पष्ट जान लेना चाहिए कि वे अनायतन से ही जुड़े हुए हैं और मिथ्यादृष्टि हैं। इन्हें वैनयिक मिथ्यादृष्टि की श्रेणी में रखा जायेगा। हमें स्पष्ट याद रखना चाहिए कि हम उन देव-शास्त्र-गुरु के आराधक बनें जो दोष रहित हैं, रत्नत्रय से युक्त हैं। इसी में हमारा कल्याण निहित है।

हम करें वंदना उनकी जो वंदन योग्य बने हैं।
वीतरागता से पूरित जो राग-द्वेष हने हैं।
तन से मन से और वचन से आतम ही को ध्याते,
उनकी आराधन करने पर उन जैसे बन जाते॥

संदर्भ :

1 आचार्य श्री कुन्दकुन्द : मोक्खपाहुड, गाथा-90
2. आचार्य श्री समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक-4
3. आचार्य श्री उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र 1/2
4. वही, 1/3
5. मोक्खपाहुड, गाथा-38
6. कार्तिकेय स्वामी : कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा-317
7. द्रव्यसंग्रह टीका, 41/6
8. बोधपाहुड, गाथा, 5-7
9. वही, गाथा, 5-7 की श्रुतसागर सूरि कृत टीका, पृ. 144-147
10. चारित्तपाहुड, गाथा-6 की श्रुतसागर सूरि कृत टीका, पृ. 66
11. पं. दौलतराम जी : छहढाला, ढाल 3, पद्य 14
12. अभिधान-राजेन्द्रकोश, भाग-1, पृ. 310
13. कार्तिकेय स्वामी : कार्तिकेयानुप्रेक्षा, गाथा 318
14. वही, गाथा-319, 320
15. पं. श्री मेधावी : धर्मसंग्रहश्रावकाचार, चतुर्थ अधिकार, श्लोक 19-20, पृ. 41

महामंत्री- श्री अ.भा.दि.जैन विद्वत्परिषद,
एल-65, न्यू इन्दिरानगर, बुरहानपुर (म.प्र.)

श्रमण संस्कृति की प्राचीनता एवं ऐतिहासिकता

- आचार्य राजकुमार जैन

अध्यात्म प्रधान श्रमण संस्कृति जिसे भारत की मूल संस्कृति कहा जाता है भारत में प्राचीनकाल से प्रवहमान विभिन्न मूल संस्कृतियों में अन्यतम है। पुरातात्त्विक साक्ष्यों, शिलालेखीय उद्धरणों, भाषा वैज्ञानिक अन्वेषणों, वैदिक वाङ्मय तथा प्राचीन साहित्य के अध्ययन-अनुशीलन के आधार पर अनेक विद्वानों ने इस तथ्य को स्वीकार किया है कि आर्यों के आगमन से पूर्व भारत में जो संस्कृति विद्यमान और प्रचलित थी उसका सीधा सम्बन्ध श्रमण या आर्हत् संस्कृति से है। श्रमण संस्कृति अपनी जिन विशेषताओं के कारण गरिमा मण्डित है उनमें श्रम, संयम, त्याग जैसे संस्कारों तथा आध्यात्मिक एवं नैतिक मूल्यों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। श्रमण संस्कृति में प्रारम्भ से ही मानवीयता, समानता, आत्म विकास, गुण पूजा, कर्मफल, मुक्ति, परलोक आदि के विषय में गम्भीर चिन्तन और मनन किया गया है।

ऐसा माना जाता है कि भारतीय संस्कृति अनेक संस्कृतियों का मिश्रण है और उस भारतीय संस्कृति में श्रमण संस्कृति की नींव इतनी गहरी है कि उसके आद्यंश को खोज पाना सम्भव नहीं है। श्रमण संस्कृति यद्यपि आध्यात्मिक संस्कृति के रूप में जानी जाती है, तथापि अभ्युदय एवं नि:श्रेयस दोनों ही उसके साध्य के आधार हैं जिसकी चरम परिणति मुक्ति या मोक्ष में है। अपने स्व-पर कल्याणकारी स्वरूप के कारण श्रमण संस्कृति को जो श्रेष्ठता एवं उत्कृष्टता प्राप्त है वह किसी अन्य संस्कृति को प्राप्त नहीं है। यह बात अलग है कि इस देश में कालान्तर में जिन संस्कृतियों ने जन्म लिया उनमें सर्वाधिक रूप से विकसित संस्कृति मात्र श्रमण संस्कृति ही है जिसका स्वरूप हजारों वर्ष व्यतीत हो जाने के बाद आज भी अक्षुण्ण है। उसका कारण सम्भवत: यह है कि इसमें व्यक्ति को प्रधानता दी गई है और यही उसकी विशिष्टता है, क्योंकि व्यक्ति स्वकृत

कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है, वह स्वयं अपने भाग्य का निर्माता और स्वकृत कर्मों के फल को भोगता है-"अप्पा कत्ता विकत्ता य सुहाण य दुहाण य।" व्यक्ति प्रधानता के क्षेत्र की व्यापकता है। व्यक्ति की स्वतंत्रता तक और यही व्यक्ति स्वातन्त्र्य अहिंसा का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रक्षा ही अहिंसा के मूल में निहित रही है। व्यक्ति स्वातन्त्र्य की रक्षा ही अहिंसा के मूल में निहित रही है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का एक अन्य अर्थ है - व्यक्ति की समानता। वस्तुत: यदि देखा जाय तो प्रत्येक व्यक्ति की अपनी स्थिति, गौरव और महत्त्व है। अत: न कोई हीन है और न कोई विशिष्ट- "णो हीणो, णो अइरिते।" व्यक्ति प्रधान है और वह समाज एवं देश की महत्त्वपूर्ण इकाई है। वही व्यक्ति पारस्परिक सम्बन्धों को सुदृढ़ आधार प्रदान करता है। परिणाम स्वरूप परिवार और समाज का निर्माण होता है, जबकि उन सम्बन्धों के विच्छेद की परिणति विराग या संन्यास को जन्म देती है। वह विराग ही श्रमण संस्कृति का मूल है।

आध्यात्मिक एवं आत्मवादी होने के कारण श्रमण संस्कृति ने भारतीय जन जीवन को अमूल्य देन दी है। निवृत्ति परक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए तथा इस परिभ्रमण शील संसार से आत्मा की मुक्ति के लिए जितना जोर श्रमण संस्कृति ने दिया है उतना किसी अन्य संस्कृति ने नहीं दिया। श्रमण के लिए आत्मा की मुक्ति मुख्य लक्ष्य है, अन्य कार्य गौण हैं। वस्तुत: यदि देखा जाय तो ये दोनों ही तत्त्व एक-दूसरे के पूरक हैं। मोक्ष की प्राप्ति आत्मा को ही होती है। अत: आत्मा का मुख्य लक्ष्य है- मोक्ष की प्राप्ति और आत्मा की प्रवृत्ति मोक्षाभिमुख करने के लिए साधुजन सतत प्रयत्नशील रहते हैं। तदर्थ द्विविध कार्यों की अपेक्षा रहती है:- (1) समस्त कर्मों का संपूर्णत: विनाश या क्षय कर मोक्ष की प्राप्ति और (2) तपश्चरण आदि क्रियाओं के द्वारा कर्मों का क्षय करके आत्मशुद्धि पूर्वक मोक्ष प्राप्ति। ये दोनों ही श्रेणियाँ क्रमश: निवृत्ति एवं प्रवृत्ति मूलक हैं। दोनों का उद्देश्य एक ही है- निष्कर्ष बन जाना। भेद है केवल अनुष्ठान का या प्रक्रिया में। प्रथम अनुष्ठान है कर्म का पूर्णत: परित्याग और द्वितीय अनुष्ठान है कर्म शोधन पूर्वक उसका क्षय।

श्रमण संस्कृति जो भारत की मूल संस्कृति से सम्बन्धित है उसे अब से कुछ दशकों पूर्व तक किसी अन्य धर्म या संस्कृति की एक शाखा बतलाकर उसकी उपेक्षा की जाती रही है। जब ये सिन्धु घाटी, मोहन जोदड़ो एवं हड़प्पा से प्राप्त प्राग्वैदिक सभ्यता के साक्ष्य प्राप्त हुए, साथ ही वैदिक साहित्य के परिशीलन से उसमें उपलब्ध आर्येतर परम्पराओं की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ तब से पाश्चात्य एवं सत्यान्वेषी भारतीय मनीषियों ने श्रमण संस्कृति के स्वतंत्र अतिस्तत्व तथा उसकी प्राचीन गौरवपूर्ण परम्परा को एक स्वर से स्वीकृत किया। विशाल वैदिक साहित्य में उल्लिखित व्रात्य, अर्हत, यदि, हिरण्यगर्भ, वातरसना-मुनि, केशी, शिश्नदेव, पणि आदि तथा इसी तरह के अन्यान्य शब्द एवं अनेक तीर्थंकरों के नाम और उनके प्रति आदरपूर्ण शब्दों में रचित सूक्त एवं ऋचायें स्पष्ट ही श्रमण संस्कृति के उत्कर्ष का द्योतन करती है।

आर्य एवं द्रविड सभ्यता एवं संस्कृति के सम्बन्ध में इतिहासकारों एवं विशेषज्ञों का मत है कि जब वैदिक आर्य पश्चिमोत्तर सीमा से भारत में प्रविष्ट हुए, उन्हें यहां जिन लोगों से पाला पड़ा वे शिश्नदेव, व्रात्य और वातरसना मुनियों की उपासना करते थे। उनकी सभ्यता अत्यन्त समुन्नत और विकसित थी। इतिहासकारों ने उसे द्रविड सभ्यता का नाम दिया। इस सभ्यता के दर्शन हमें सिन्धु-घाटी के मोहन-जोदड़ो और हड़प्पा में मिलते हैं। इस सभ्यता को नागर-सभ्यता भी कहा जाता है। नागर सभ्यता से नगर नियोजन की उप विकसित परम्परा का आशय लिया जाता है जो इन नगरों में उत्खनन के परिणाम-स्वरूप हमें देखने को मिलती है।

भारत के मूल निवासी जिनमें द्रविड मुख्य थे, आर्यों की अपेक्षा कहीं अधिक सभ्य, सुशिक्षित और उन्नत थे। ज्ञान, ध्यान एवं योग तप आदि क्रियाएं उनके जीवन में सम्मिलित थीं। वे चतुर कृषक एवं पटु कलाकार थे। वे जीव एवं जगत् के विषय में अनेक मौलिक दार्शनिक चिन्तन रखते थे। उनका आर्यों पर प्रभाव पड़ा। भाषा, कला, स्थापत्य, नगर संयोजना और अन्य क्षेत्रों में भी उनका ज्ञान अधिक विकसित था। आर्यों ने द्रविड़ों को हराकर दक्षिण में खदेड़ दिया और उत्तर भारत में अपना राज्य स्थापित करके अपने को उच्च और विकसित घोषित कर

दिया। भारत के मूल निवासियों के मुकाबले में उन्होंने अपने को अच्छा मान लिया। हालाँकि मूल भारतीयों की नागरिक सभ्यता आर्यों की सभ्यता की तुलना में कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी और उन्नत थी। यह तथ्य अब सिन्धु घाटी सभ्यता के मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में प्राप्त अवशेषों से पूर्णतया स्थापित हो चुका है।

आर्य सभ्यता का प्राचीनतम ग्रंथ ऋग्वेद ईसा पूर्व बारह सौ वर्ष के आस-पास की रचना माना जाता है, जबकि सिंधु सभ्यता कम से कम पच्चीस सौ वर्ष पूर्व की तो प्रमाणित हो ही चुकी है।

आर्यों ने भारत के मूल निवासियों को हराकर उनके नगरों को ध्वस्त कर दिया। उन्हें असुर, असभ्य, काला, नीच, दास, दानव और राक्षस तक कहना शुरू कर दिया। जब धीरे-धीरे आर्यों का राज्य कुछ प्रदेशों में स्थिर हुआ और वे मूल निवासियों के साथ घुल-मिल गये तो दोनों संस्कृतियों का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ना प्रारम्भ हुआ और इस प्रकार सांस्कृतिक आदान-प्रदान का क्रम प्रारंभ हुआ। वस्तुत: जब भी दो संस्कृतियां लम्बी अवधि तक एक-दूसरे के सम्पर्क में रहती हैं तो परस्पर प्रभाव ग्रहण करने की स्वाभाविक प्रक्रिया भी शुरू हो ही जाती है। अत: यहाँ के मूल निवासी भी आर्यों के रहन-सहन और व्यवहार आदि के तौर-तरीके ग्रहण करने लगे। आर्य लोग केवल यज्ञशालाओं में ही आपस में मिल बैठते थे जबकि भारतीयों के मिलन-स्थल नदियों के किनारे हुआ करते थे। धीरे-धीरे यज्ञ और तीर्थ दोनों मिल गये। यज्ञों के स्थान पर द्रविड़ों के प्रभाव से मूर्ति पूजा ग्रहण की गई। द्रविड़ देवता आर्यों के देवताओं में सम्मिलित हो गये। उनके गुण एवं स्वभाव तथा नाम भी आर्य बना दिये गये। इस प्रकार के संगम से एक संयुक्त संस्कृति का शुभारम्भ हुआ। वैदिक आर्यों का धर्म प्रकृति के तत्त्वों की पूजा और पेशा-पशुपालन था, वे अच्छे धनुर्धारी थे। वे महत्त्वाकांक्षी भी थे और उसी भावना से उत्प्रेरित होकर उन्होंने भारत की ओर प्रयाण किया था। उनका प्रथम संघर्ष सीमा प्रान्त में हुआ। वहाँ उन्होंने विजितों को दास बनाया और उनके मुखिया का नाम सुदास रखा, जिसका वर्णन ऋग्वेद में है। इनका प्रथम उपनिवेश आज का पश्चिमी पाकिस्तान था। वहाँ वे बड़े-2 यज्ञ करते,

सोम पीते, गीत गाते तथा आनन्द से जीवन व्यतीत करते थे। ऋग्वेद के अध्येता इस तथ्य को जानते हैं कि इस समय तक वैदिक आर्यों का अधिकार सप्त सिंधु देश तक ही था। उनकी संस्कृति उच्च वर्ग के लिए पृथक् थी और दासों के लिए पृथक् थी। सम्भवतः जाति व्यवस्था का जन्म यहीं हुआ है और कालपुरुष की कल्पना कर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र की उसके सिर, छाती, उरु और पैरों में स्थापना कर जाति को अपरिवर्तनीय बना दिया।

मूल भारतीय संस्कृति में मानवीय समानता, आत्मविकास, गुणपूजा, परलोक, कर्मफल आदि पर अधिक जोर दिया जाता था जो सर्वथा स्वाभाविक था। जैनधर्म के बीसवें तीर्थंकर मुनिसुव्रत के काल में भी इस संस्कृति के मानने वालों को 'व्रात्य' कहा गया। बाद में उनको 'व्रषण' कहा गया। उन्हें अयज्वन, क्रव्याद आदि भी कहा जाता था, किन्तु जब वे उनकी तपस्या, आचार-विचार, अहिंसा, सत्य आदि से अधिक प्रभावित हुए तब उन्होंने उनका नाम श्रमण रखा। ''श्रमण'' शब्द का सर्वप्रथम उल्लेख हमें ''माण्डूक्योपनिषद्'' में मिलता है। उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्राग्वैदिक काल में अनेक आर्येतर जातियां थीं, जिनकी समुन्नत और सुसंस्कृत परम्पराएं थीं, वे वातरसना, शिश्नदेव, व्रात्य आदि को मानती थी जिनके विषय में वेदों से विशेष जानकारी प्राप्त होती है। फिर भी भारत की इन मूल प्राचीन परम्पराओं की उपेक्षा भी कुछ इतिहासकारों ने कम नहीं की थी। इसलिए प्रो. हापकिन्स ने ठीक ही लिखा है कि भारत की धार्मिक क्रान्ति के अध्ययन में जो विद्वान् अपना सारा ध्यान आर्य जाति की ओर ही लगा देते हैं और भारत के समस्त इतिहास में द्रविड़ों ने जो बड़ा भाग लिया है उसकी उपेक्षा कर देते हैं वे महत्त्व के तथ्यों तक पहुंचने से रह जाते हैं।

शतपथ ब्राह्मण में ही तप से विश्व की उत्पत्ति बतलाई है। प्रतिदिन अग्नि होत्र करना एक प्रधान कर्म था। इसकी उत्पत्ति की कथा इस प्रकार बतलाई गई है-

''प्रारम्भ में प्रजापति एकाकी था। उसकी अनेक होने की इच्छा हुई। उसने तपस्या की। उसके मुख से अग्नि उत्पन्न हुई; चूंकि सब

देवताओं में अग्नि प्रथम उत्पन्न हुई, इसी से उसे 'अग्नि' कहते हैं। उसका यथार्थ नाम अग्नि है। मुख से उत्पन्न होने के कारण अग्नि का भक्षक होना स्वाभाविक था, किन्तु उस समय पृथ्वी पर कुछ भी नहीं था। अत: प्रजापति को चिन्ता हुई। तब उसने अपनी वाणी की आहुति देकर अपनी रक्षा की। जब वह मरा तो उसे अग्नि पर रखा गया, किन्तु अग्नि ने उसके शरीर को ही जलाया। अत: प्रत्येक व्यक्ति को अग्नि होत्र करना चाहिए।'' यदि नया जीवन प्राप्त करना चाहते हैं तो अग्नि होत्र करो।

ऋग्वेद का पहला मंत्र है ''अग्निमीडे पुरोहितम्। यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नयातमस्।'' अग्नि देवों के पुरोहित हैं। पुरोहित का अर्थ है- ''आगे रखा हुआ''। अग्नि में आहुति देकर ही देवों को तुष्ट किया जा सकता है।

ब्राह्मण ग्रंथों के काल में यज्ञों का प्राधान्य रहा। उनके पश्चात् आरण्यकों का समय आता है। देवता विशेष के उद्देश्य से द्रव्य का त्याग ही यज्ञ है-यह आरण्यकों को मान्य नहीं है। ब्राह्मण ग्रंथों का सर्वोच्च लक्ष्य स्वर्ग था और उसकी प्राप्ति का मार्ग था यज्ञ, किन्तु आरण्यकों में यह बात नहीं है। तैत्तिरीय आरण्यक में ही प्रथम बार ''श्रमण'' शब्द 'तपस्वी' के अर्थ में आया है।

ऋग्वेद के संकलयिता ऋषि अरण्यवासी ऋषियों से भिन्न थे। वे अरण्य में नहीं रहते थे। वैदिक साहित्य में ''अरण्य'' शब्द के जो अर्थ पाए जाते हैं उनसे इस पर प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेद में गांव के बाहर की बिना जुती जमीन के अर्थ में 'अरण्य' शब्द का प्रयोग हुआ है। शतपथ ब्राह्मण में (5-3-35) में लिखा है- ''अरण्य में चोर बसते हैं।'' बृहदारण्यक (5-11) में लिखा है कि मुर्दे को अरण्य में ले जाते हैं, किन्तु छान्दोग्य उपनिषद् (8/5/3) में लिखा है कि अरण्य में तपस्वी जन निवास करते हैं।

विद्वानों का मत है कि जब वैदिक आर्य पूरब की ओर बढ़े तो यज्ञ पीछे रह गए और यज्ञ का स्थान तप ने ले लिया, किन्तु तप जो स्वीकार करने पर भी आर्य देवताओं के पुरोहित अग्नि को नहीं छोड़ सके। अत: पंचाग्नि तप प्रवर्तित हुआ। भगवान् पार्श्वनाथ को गंगा के तट पर पंचाग्नि

तप तपने वाले ऐसे ही तपस्वी मिले थे।

चार आश्रमों की व्यवस्था भी चिन्त्य है। ब्राह्मण को ब्रह्मचारी और गृहस्थ के रूप में जीवन बिताने के बाद संन्यासी हो जाना चाहिए- यह नियम वैदिक साहित्य में नहीं मिलता। पौराणिक परम्परा के अनुसार राज्य त्यागकर वन में चले जाने की प्रथा क्षत्रियों में प्रचलित थी।

कविकुल गुरु कालिदास ने रघुवंश में रघुओं का वर्णन करते हुए कहा है-

शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्धके मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥

अर्थात् शैशवकाल में विद्याभ्यास करते हैं, यौवन में विषय भोग भोगते हैं, वृद्धावस्था में मुनिवृत्ति अर्थात् वानप्रस्थाश्रम में रहते हैं और अन्त में योग के द्वारा शरीर त्याग करते हैं।

गौतम धर्मसूत्र (8/8) में एक प्राचीन आचार्य का मत दिया है कि वेदों को तो एक गृहस्थाश्रम ही मान्य है। अथर्ववेद और ब्राह्मण ग्रंथों में ब्रह्मचर्याश्रम का, विशेषतः उपनयन का विधान है, किन्तु चार आश्रमों का उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में है। वाल्मीकि रामायण में किसी संन्यासी के दर्शन नहीं होते, सर्वत्र वानप्रस्थ मिलते हैं।

लोकमान्य तिलक ने अपने गीता रहस्य में लिखा है- वेद, संहिता और ब्राह्मणों में संन्यास को आवश्यक नहीं कहा। उल्टे जैमिनी ने वेदों का यही स्पष्ट मत बतलाया है कि गृहस्थाश्रम में रहने से ही मोक्ष मिलता है। (दृष्टव्य है वेदान्तसूत्र 2, 4, 17, 20) और उनका यह कथन कुछ निराधार भी नहीं है, क्योंकि कर्मकाण्ड के इस प्राचीन मार्ग को गौण मानने का प्रारम्भ उपनिषदों में ही पहले पहल देखा जाता है। उपनिषदकाल में ही यह मत अमल में लाने लगा कि मोक्ष पाने के लिए ज्ञान के पश्चात् वैराग्य से कर्म संन्यास करना चाहिए।''

किन्तु प्राचीन उपनिषदों में वही पुरानी ध्वनि मिलती है। शतपथ ब्राह्मण (13, 4-1) में लिखा है- 'एतद् वै जरामर्थ सत्रं यद् अग्निहोत्रम्' अर्थात् जब तक जियो अग्नि अग्निहोत्र करो। ईशावास्योपनिषद् में कहा है- 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीवेषत् शतं समाः।' अर्थात् एक मनुष्य को

अपने जीवन भर कर्म करते हुए सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करनी चाहिए। बोधायन और आपस्तम्ब सूत्रों में भी गृहस्थाश्रम को ही मुख्य कहा है। स्मृतियों की भी कुछ ऐसी ही स्थिति है। मनुस्मृति में संन्यास आश्रम का कथन करके भी अन्य आश्रमों की अपेक्षा गृहस्थाश्रम को ही श्रेष्ठ कहा है।

इसके विपरीत जैनधर्म के अनुसार श्रमण धर्म को अपनाये बिना मोक्ष की प्राप्ति सम्भव नहीं है। गृहस्थ धर्म मुनि धर्म का लघु रूप है और जो मुनिधर्म को पालन करने में असमर्थ होता है वह गृहस्थधर्म का पालन करता है।

पं. आशाधर ने कहा है-

त्याज्यानजस्त्रं विषयान् पश्यतोऽपि जिनाज्ञया।
मोहात्त्यक्तुमशक्तस्य गृहिधर्मोऽनुमन्यते॥

जो जिनदेव के उपदेशानुसार संसार के विषयों को त्याज्य जानते हुए भी मोहवश छोड़ने में असमर्थ है उसे गृहस्थ धर्म का पालन करने की अनुमति दी जाती है।

जैनधर्म के पांच व्रत प्रसिद्ध हैं- अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इनका सर्वदेश पालन श्रमण करते हैं और एकदेश पालन गृहस्थ करता है। अतः श्रमणों के व्रतों को महाव्रत और गृहस्थों के व्रतों को अणुव्रत कहते हैं। भगवान् ऋषभदेव से लेकर महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों ने गृहवास छोड़कर श्रमणधर्म को अंगीकार किया था। अतः श्रमण संस्कृति की परम्परा सुदीर्घकाल से सम्भवतः अनादि काल से चली आ रही है, उसकी ऐतिहासिकता एवं प्राचीनता विद्यमान साक्ष्यों और प्रमाणों से सुस्पष्ट है।

******

निदेशक-जैनायुर्वेद साहित्यानुसन्धान केन्द्र,
राजीव काम्पलेक्स के पास, अहिंसा मार्ग,
इटारसी (म.प्र.) 461111

Dignity of man in Jainism

Prof. B.R. Dugar

The central themes of Jain Philosophy are non-violence, non-absolutism and non-possession. Nonviolence being the core - principle, all other virtues emerged out of it and strengthens autonomy of life of every being. Non-absolutism strengthens the thought of every being and non-possession strengthens the interdependence of all existence.

If you feel that every soul is autonomous, you will never trample on its right to live. If you feel that every person is a thinking person, you will not trample on her or his thoughts. If you feel that you owe nothing and no one, you will not trample and exploit the planet or your neighbor. These are the values that can care the dignity of a man and can save humanity as well from deadly acts of war, economic exploitation and environmental destruction.

A significant contribution of Jain philosophy is that it recognises the dignity of all living beings and not of human dignity alone. Non-duality of the self and the other living beings has been explained in the Acharanga Sutra (5.100)

You are indeed he whom, you intend to hurt.
You are indeed he who, you intend to govern.
You are indeed he who, you intend to torture.
You are indeed he who, you intend to enslave.
You are indeed he who, you intend to kill.

It is also mentioned in Dasavealiyam Sutra (4.9) that he who treats living being as self and view-them with equanimity...escapes from the bondage of evil deeds.

Jainas also announced that all souls are similar, i.e. the faculty of accomplishing highest self-evolution equally lies innate in all the souls (every soul is potentially divine). This principle

here has clarified the position that “soul is supreme soul’’ i.e. there is no separate entity like creator. But the very soul when it accomplishes the highest evolution by disciplined conduct, actives the supreme status. The power of manifestation of self into absolute is in the man itself. Because of this excellence of man as proclaimed in Jain religion, God having all worldly power becomes quite unimportant. It is needless to mention that to achieve the absolute good man has been given importance in compassion to other living beings or even to god & Goddess. To achieve the goal of human dignity Jainism advocates establishing social equality. Against the glaring practices of social discrimination Jaina forged their opposition and gave full freedom to one and all without discrimination of caste, creed, sex and colour. In this way the society as envisaged by Lord Mahavira, was a society where social stratification was not hereditary and where complete freedom was granted to the man to change to the class of their own aptitude. As mentioned in Acharanga Sutra (2.49): “soul is neither high nor low, one should not therefore covet status’’. The worldly soul (living beings) transmigrates from higher to lower pedigree and vice-versa; therefore, truly speaking, he is neither low nor high. In other words, the distinction of class is only arbitrary. It has been also said in Uttaradhayayan Sutra (25.29-31): “One does not become a ¹rama´a by tonsure, nor a Brahamin by chanting the sacred syllable “om’, nor a Muni by living in the caves, nor a *Tapasa* by wearing clothes of grass and bark. One becomes a monk by equanimity, a Brahaman by chastity, a Muni by knowledge and a Tapas by penance’’.

In other words a man does not become great by birth, but he becomes great by his deeds. In this manner Jainism refutes casteism and class system and advocates for the dignity of man.

Jainism recognises the principle of interdependence also. It has been mentioned in Jaina scriptures that everyone and everything is interconnected as part of the living Earth. We are bound together in a web of mutuality. We need each other to survive and flourish - humans and all of nature. We are not alone

and are surrounded & sustained at all moments by the miracle of evolution and the great mystery of life. Therefore, we should respect all living beings. Through respect for all life, we can begin to restore our relationship with all living beings including man and nature and free ourselves from our narrow prejudices. The principle of "live and let live' also symbolizes that every being should so much restrict and limit his activity that he may not come into clash with any other's life and treat all others like his soul. When this dignity of self-soul as similar to other souls springs forth, then that man becomes vigilant to his responsibilities and turns affectionate and tender hearted to all the beings. Dr. L.M. Singhvi, Former High-Commissioner of India in U.K. says (in Jain Declaration on Nature): "the concept of universal interdependence underpins the Jain doctrine of knowledge, known as *Anekantavada* or the doctrine of manifold aspects. This doctrine trains mind to give due respect to the feelings and ways of life of other persons and communities. It makes one tolerant towards others' point of view thereby promoting interpersonal relation as well as dignity of an individual''. "Jain cosmology recognizes the fundamental natural phenomenon of symbiosis or mutual dependence. ..... The ancient Jain scriptural aphorism ParasparopgrahoJivanam (all life is bound together by mutual support and interdependence) is refreshingly contemporary in its premise and perspective. ..... Life is viewed as a gift of togetherness, accommodation and assistance in a universe timing with interdependent constituents.'' Therefore everyone should be respected.

To maintain the dignity of man, Jainism applied non-violence in a positive way, that is, in the direction of increasing the welfare of human being as well as other living beings. Jainism always appealed to the people to bear good intentions about the property of others, to show active interest in the welfare of the needy persons, and to take steps to ameliorate the miserable condition of afflicted living beings including insects, birds, animals and human beings. This approach to lessen the miseries

of men includes vrata i.e. vow of *aparigraha*. *Aparigraha* involves avoiding the fault of *parigraha* which consists in desiring more than what is needed by an individual. Accumulating even necessary articles in large numbers, expressing wonder at the prosperity of others, excessive greed and changing the proportion of existing possessions are all forms of *parigraha*. The vow of *Aparigraha* is very noteworthy as it indirectly aims at economic equalization and eradication of poverty by peacefully preventing undue accumulation of wealth in individual hands.

It has been also said by Acharya Bhikshu (Anukampa 7.10-27) - man should not be means to acquiring wealth or other things. His dignity should be maintained. On utilitarian grounds a person should not be grouped as rich or poor and minority or majority because of his force and independent existence. Acharanga Sutra says (2.49): “”frequently a soul is born with high, frequently with low - status. So it is neither high nor low. One should not, therefore, covet status’’. “Knowing this truth about status, who would speak of his status, who would be proud of it and who would remain attached to a particular thing or object?’’ Acharya Mahaprajna says (AcharangaBhashyam, Sutra 49): “”knowing that he himself as well as others have passed through high and low pedigrees, why should one uphold the position of pride? What should one covet for? This doctrine of pedigree relates to the caste, power beauty, acquisition and fortune. The doctrine of pride originates from the imaginary views of one’s personal qualifications and merits. One has already experienced all this in the past. Why should, therefore, one feel elated on getting to a high position or feel depressed when relegated a low status?’’ Such type of living and thinking pattern can get rid of the problem of dignity.

References:

1. AcharangaBhashya, Forwarded by GanadhipatiTulsi, Commentator Acharya Mahaprajna, Jain VishvaBharati, Ladnun, 2001
2. Dasavealiyam, - VacanaPramukha, Acharya Tulsi, Editor and Commentator Muni Nathmal, Jain VishvaBharati, Ladnun, 2nd edition, 1974

3. Uttaradhyayan, VacanaPramukha, Acharya Tulsi, Editor and Commentator Muni Nathmal, Jain VishvaBharati, Ladnun
4. Jain Declaration on Nature, Dr. L.M. Singhvi
5. Bhikshu Vicar Darshan, Acharya Mahaprajna, Jain VishvaBharati, Ladnun,
6. Jainism: An Indian Religion of Salvation, HelmuthvorsGlasenapp, MotilalBanarsidass, Delhi, 1992
7. Jain VidyaAurVigyan, Prof. M.R. Gelra, Jain VishvaBharati Institute, Ladnun, 2005
8. Threshold 2000: Critical Issues and spiritual values for a Global Age, Gerald O. Barxey, Conexus Press, 2000

- Deptt. of Nonviolence & Peace,
Jain Vishva Bharti Institute,
Ladnun-341306 (Rajasthan)

जैन पुरातत्त्व में वीर छबीली टीले की कलाकृतियों का योगदान

- डॉ० संगीता सिंह

जैनधर्म एवं संस्कृति की एतिहासिकता अत्यन्त प्राचीन है। छठीं शताब्दी ई0पू0 में गंगा-यमुना के दोआब के उर्वर भूमि में महावीर स्वामी के संरक्षण में जैनधर्म एवं संस्कृति ने नये कीर्तिमान स्थापित किये एवं जनमानस में अपनी लोकप्रियता स्थापित की। उत्तर प्रदेश की भूमि का निर्माण मुख्यत: वर्ष पर्यन्त प्रवाहित होने वाली दो नदियों गंगा-यमुना के द्वारा जल के साथ बहाकर लाई गई मिट्टी के फलस्वरूप सम्पन्न हुआ। उत्तर प्रदेश में आगरा से 36 किलोमीटर दूर पश्चिम में फतेहपुर-सीकरी स्थित है। पर्वत श्रेणियों की ऊँचाई वहाँ के आस-पास के सतह से 150 फुट है। पूर्व की ओर झुकी होने के साथ-साथ फतेहपुर-सीकरी की पर्वत चोटी अपने शिखर पर कुछ-कुछ समतल है। यहाँ सीकरी झील स्थित है। यहाँ यमुना नदी की एक उपसरिता ऊटेन गंगा भी प्रवाहित होती है। फतेहपुर-सीकरी से पाँच किलोमीटर की परिधि में झील के किनारे वीर छबीली टीला स्थित है। यहाँ से प्राप्त कलाकृतियों का जैन पुरातत्त्व में महत्त्वपूर्ण योगदान है।

महाभारत में इस क्षेत्र का अन्य नाम 'सेका' का भी उल्लेख किया गया है। यहाँ से प्राप्त एक जैन सरस्वती की प्रतिमा के अभिलेख में 'सेक्रिक्या' उत्कीर्ण है। अत: सम्भव है कि मध्यकालीन नाम सीकरी भी इसी स्रोत से लिया गया होगा। यहाँ के मूल निवासी राजपूत भी सिकरवार कहलाते हैं। फतेहपुर-सीकरी में झील के किनारे स्थित वीर-छबीली टीले की जैन प्रतिमाओं की उपलब्धि प्राचीन इतिहास, संस्कृति, कला एवं पुरातत्त्व के क्षेत्र में एक नया अध्याय जोड़ती है।

फतेहपुर-सीकरी का पुरातात्त्विक उत्खनन कार्य समय-समय पर होता रहा है किन्तु जैन शिल्प कला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण उत्खनन

1999-2000 ई0 में डॉ0 धर्मवीर शर्मा-पुरातत्त्वविद् आगरा मण्डल, आगरा के निर्देशन में हुआ। परिणाम-स्वरूप जैनधर्म से सम्बन्धित सर्वाधिक पुरासम्पदा उपलब्ध हुई। वीर-छबीली टीले से शुंग, कुषाण और गुप्तकालीन प्रतिमाएं एवं अन्य पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। छठवी से ग्यारहवीं शताब्दी तक यह क्षेत्र अत्यधिक समृद्ध था।

उत्खनन स्थल वीर-छबीली टीले के उत्खनन में 34 तीर्थंकर प्रतिमाएं कायोत्सर्ग तथा पद्मासन मुद्रा में प्राप्त हुई हैं। सभी प्रतिमाएं भग्नावस्था में है। कुछ प्रतिमाओं को जोड़ा (Restorate) गया है। छः प्रकार के रंगों वाले बलुआ पाषाण से प्रतिमाएं निर्मित हैं- रक्तिम, नील, श्वेत, श्याम, स्वर्ण एवं पीत। सभी प्रतिमाएं सुदृढ़ हैं और ये 7वीं से 11वीं सदी में निर्मित हुई हैं। ध्यातव्य हो कि सभी प्रतिमाएं श्वेताम्बर सम्प्रदाय की हैं।

१. कायोत्सर्ग तीर्थंकर :-

मानव द्वारा निर्मित गड्ढ़े से पाँच आदम कद (Life size) कायोत्सर्ग मुद्रा की जिन मूर्तियां उत्खनन से प्राप्त हुई हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार है-

(क) यह श्वेताम्बर प्रतिमा प्रथम तीर्थकर 'आदिनाथ' की है। इस प्रकार की प्रतिमा को जिन-चौबीसी भी कहते हैं। यह स्वर्ण वर्णीय बलुआ पत्थर से निर्मित है। यह प्रतिमा मस्तक विहीन तथा कायोत्सर्ग मुद्रा में है। यह जिन दिगम्बर नहीं बल्कि वस्त्र 'काती-काच्छिनी' (एक विशेष प्रकार का वस्त्र अधोवस्त्र है) धारण किए है, साथ ही इसमें एक मजबूत अद्भुत गाँठ और एक लोगो प्रदर्शित है। आसन में 'वृषभ' का अंकन है एवं अभिलेख उत्कीर्ण है जिसके अनुसार प्रतिमा का निर्माण वि0स0 1034/ 977 ई0 में हुआ।

(ख) यह विशिष्ट प्रतिमा तीसरे तीर्थंकर 'सम्भवनाथ' की है। उपयुक्त प्रतिमा कला के अतिरिक्त इसके परिकर में चौदह ध्यानस्थ जिन प्रतिमाएं अंकित हैं जिनमें से एक पार्श्वनाथ की प्रतिमा है जो सर्फणों के साथ प्रदर्शित है। आसन में लांछन 'अश्व' एवं अभिलेख उत्कीर्ण है जिसमें वि0स0 1034 अर्थात सन् 982 ई0 अंकित है।

(ग) सोलहवें जिन शान्तिनाथ की यह प्रतिमा स्वर्ण रंग की कायोत्सर्ग मुद्रा में है। आसन में लांछन 'हिरण' का अंकन है। यह भी श्वेताम्बर मूर्ति है।

(घ) सत्रहवें तीर्थंकर कुन्थुनाथ की प्रतिमा पीत वर्णीय है। मुख, ग्रीवा एवं सिर का लगभग आधा भाग सुरक्षित है और आधा भाग खण्डित है। दाया हाथ स्कन्ध से ही अलग है, किन्तु अवशेष स्पष्ट है, बांया हाथ भुजा से खण्डित है। उक्त प्रतिमाओं की भाँति यह भी कटि में 'काती-काच्छिनी' (धोती) से युक्त है। आसन में लांछन 'छाग' या 'बकरा' का अंकन है।

(ड़) वीर-छबीली टीले से प्राप्त यह पाँचवी जिन चौबीसी कायोत्सर्ग मुद्रा की मूर्ति अत्यन्त विशिष्ट है। प्रतिमा में मूलनायक ऋषभ हैं। दोनों हाथ खण्डित हैं, शेष प्रतिमा पूर्णावस्था में है। परिकर पूर्णरूपेण विकसित हैं। जिन त्रिछत्र से सुशोभित हैं। अन्य कलागत विशेषताएं उक्त प्रतिमाओं की भाँति हैं। आसन में वृषभ एवं अभिलेख अंकित हैं।

२. ध्यानस्थ तीर्थंकर :-

वीर-छबीली टीले के उत्खनन में प्राप्त प्रमुख ध्यानस्थ तीर्थंकर मूर्तियों का वर्णन इस प्रकार है।

(क) यह ध्यानस्थ प्रतिमा मस्तक विहीन है। आसन में दोनों किनारों पर सिंह का अंकन है, मध्य में कमल है जिसके ऊपर आसन है।

(ख) दूसरी प्रतिमा भी खण्डित है और लांछन एवं अभिलेख रहित है परिकर में दो ध्यानस्थ जिन अंकित हैं।

(ग) तीसरी प्रतिमा भी ध्यानस्थ है, परन्तु खण्डित है। यह भी लांछन एवं अभिलेख रहित है। यह भी लगभग 10 वीं शती ई0 की हैं।

(घ) चतुर्थ प्रतिमा का ऊपरी भाग प्राप्त हुआ है, परिकर की दीवार में चार ध्यानी जिनों का अंकन है। यह लगभग 10वीं शती0 ई0 की है।

(ड.) यह प्रतिमा भी लांछन एवं 'श्रीवत्स' रहित है, जिन शान्त मुद्रा में हैं। परिकर में चारों ओर लगभग चौदह ध्यानी जिनों का अंकन है।

(च) यह ध्यानस्थ प्रतिमा भी खण्डित है। वक्ष पर श्रीवत्स का अंकन हैं। यह लांछन रहित है।

(छ) इस प्रतिमा का मस्तक, पाद तथा आसन क्षतिग्रस्त हैं। वक्ष पर 'श्रीवत्स' का अंकन है।

(ज) यह बिम्ब भी ध्यानावस्था में है। प्रतिमा खण्डित है, किन्तु स्कन्ध पर केश के अवशेष हैं, जिससे इंगित होता है कि यह प्रतिमा प्रथम तीर्थंकर 'ऋषभनाथ' की है। यह नीले रंग की बलुआ प्रस्तर की ध्यानस्थ प्रतिमा है। यह सिर विहीन एवं वक्ष तक खण्डित है। इसका रूपायन भी लगभग दसवीं शती ई. में हुआ है।

(झ) यह प्रतिमा भी मस्तक विहीन बलुआ पत्थर से निर्मित है। स्कन्ध पर केश के अवशेष से ज्ञात होता है कि यह ऋषभनाथ की प्रतिमा है। अभिलेखानुसार 'आनन्द सुत' और 'क्वचा सेठ' इन दो श्रावकों ने वि.सं. 1091/1034 ई0 में इसकी स्थापना करवाई थी।

(ञ) यह खण्डित एवं अभिलिखित प्रतिमा है इसकी स्थापना वि0 सं. 1091 में अर्थात् 1034 ई. में 'पपासुत' और 'धनपाल महिचला' ने करवाई थी।

यक्षी मूर्ति शिल्प :-

वीर छबीली टीले उत्खनन से तीन यक्षी-प्रतिमाएं भी प्राप्त हुई हैं, जिनकी पहचान उनके वाहनों इत्यादि के माध्यम से की गई है, जो इस प्रकार हैं :-

(क) प्रथम मूर्ति अम्बिका की है, जो बाइसवें जिन नेमिनाथ की यक्षी है। अम्बिका आमवृक्ष के नीचे बैठी हैं। नासिका और मुख खण्डित है, देवी सिंह पर विराजमान हैं।

(ख) दूसरी प्रतिमा भी अम्बिका की है, देवकोष्ठ के भीतर यक्षी उत्कीर्ण हैं। अभिलेखानुसार इसका निर्माण काल 7वीं-8वीं शती है।

(ग) तीसरी प्रतिमा बारहवें तीर्थंकर वासुपूज्य की यक्षी चण्डी, प्रचण्डी, अजिता अथवा चन्द्रा की है यक्षी 'अश्व' पर विराजमान है। यह श्वेत धब्बे से युक्त लाल बालुआ पत्थर से निर्मित है यह अभिलिखित है यह भी 7वीं शती0 ई0 में निर्मित हुई है।

सरस्वती मूर्ति शिल्प :-

फतेहपुर-सीकरी के उत्खनन स्थल 'वीर-छबीली' टीले के उत्खनित जैन पुरातत्त्व में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पुरातात्त्विक मूर्ति जैन श्रुत देवी सरस्वती की है। यह सौन्दर्य में अद्वितीय है। इस प्रतिमा का एक अन्य नाम 'वीर-छबीली' भी है। हाथों को छोड़कर सभी अंग लगभग सुरक्षित हैं। दोनों एड़ी का भाग भंगित है, किन्तु प्राप्य है। यह त्रिभंग मुद्रा की प्रतिमा स्तम्भ परिकर के भीतर आसन पर खड़ी है।

सरस्वती के मस्तक के दोनों ओर परिकर में दो ध्यानी तीर्थंकर स्थित हैं। यह सरस्वती की प्रतिमा ऊपर से नीचे तक आभूषण युक्त है। देवी चतुर्भुज धारिणी आभामण्डल युक्त है, किन्तु दो हस्त खण्डित हैं। यह प्रतिमा बलुआ पत्थर द्वारा निर्मित है। इसके ऊपर श्वेत वर्ण का ओप (Point) प्रलेपित है। अभिलेखानुसार इसकी स्थापना सन् 1010 ई0 में 'संचामर' और 'भल्लिक्य' गोत्र वाले सेठों द्वारा की गई, जिसमें 'अहिल्या' भी नाम है। सम्भवत: आहिल शिल्पी था, जिसने प्रतिमा को गढ़ा था। इस प्रतिमा का कला और पुरातत्त्व के क्षेत्र में अद्वितीय स्थान है।

अन्य मूर्ति-शिल्प :-

खण्डित सिर :- वीर-छबीली टीले से तीर्थंकर के तीन खण्डित मस्तक भी प्राप्त हुए हैं जिनका वर्णन इस प्रकार है-

(क) इस मस्तक का अग्रभाग खण्डित है, जिससे कुछ भी स्पष्ट नहीं होता है। ग्रीवा में तीन वलय स्पष्ट अंकित हैं।

(ख) यह मस्तक भी बलुआ पत्थर द्वारा निर्मित है। मुख-मण्डल गोल है।

(ग) इस तीर्थंकर मस्तक के ऊपर सात सर्फण हैं, जिससे यह स्पष्ट होता है कि यह सुपार्श्वनाथ की प्रतिमा है। परिकर की दीवार में दो जिन अंकित हैं।

(घ) वास्तुखण्ड में अंकित तीर्थंकर :- यह वास्तु खण्ड पिरामिडीय आकार अथवा मन्दिर के आकार का है। देवकोष्ठ के भीतर अशोक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ मुद्रा में तीर्थंकर अवस्थित हैं। ध्यानस्थ मुद्रा के दोनों ओर दो जिन कोयोत्सर्ग मुद्रा में उत्कीर्ण हैं। आसन में अभिलेख अंकित है।

(ङ) तीर्थंकर :- इसी स्थल से पुरुष मूर्ति प्राप्त हुई है जो अत्यन्त आकर्षक है इसके दोनों हस्त और कटि के नीचे का भाग खण्डित है। इस प्रतिमा में उष्णीष, लम्बे कर्ण, श्रीवत्स, अर्द्धनिमीलित नेत्र और मुद्रा किसी तीर्थंकर प्रतिमा के होने का संकेत देती है? उक्त प्रतिमा स्थानीय पाषाण बलुआ पत्थर द्वारा निर्मित है।

(च) जैन युगलिया :-_यह युगल मूर्ति गौरिक वर्णीय बलुआ पत्थर से निर्मित है। स्त्री-पुरुष दोनों ललितासन मुद्रा में बैठे हैं। पुरुष का मुख भंग है। स्त्री प्रसन्न मुद्रा में है। स्त्री की गोद में शिशु का अंकन है। स्त्री का शरीर सौष्ठव मोहक है। स्त्री का केश-विन्यास उत्तम है। सिर पर 'बोरला' (Hair Band) बंधा है। छः शिशु क्रीड़ावस्था में प्रदर्शित हैं।

(छ) श्राविका :-_इस श्राविका मूर्ति के कटि के नीचे का भाग खण्डित है। यह अंजलिबद्ध मुद्रा में है। लम्बी नाक और ओष्ठ पतले हैं। यह आभूषणमय है। कर्ण में कुण्डल, ग्रीवा में हार, भुजाओं में बाजूबन्द, हाथ में कड़े, कमर में करधनी धारण किये सुशोभित हो रही है। यह प्रतिमा भी बलुआ प्रस्तर द्वारा निर्मित है।

मूर्ति अभिलेख :-

उत्खनन से चौदह अभिलेख प्राप्त हुए हैं। ये अभिलेख प्रस्तर की मूर्तियों के आसन में उत्कीर्ण है जो निम्न है -

१. **मूर्ति का नाम** - ऋषभदेव की कायोत्सर्ग प्रतिमा

मूल अभिलेख- 'ओ (सिद्धम्) सं0 1034? आषाढ़ वदि '

हिन्दी अनुवाद वि.सं. 1034 आषाढ़ कृष्ण पक्ष नवमी (977 ई.) को इसकी स्थापना करवाई।

२. **मूर्ति का नाम**- श्रुत देवी जैन सरस्वती

मूल अभिलेख-'ओं (सिद्धम्) संवत्सहस्रे सप्तषष्ठे सैकरिक्य श्रीवाज्राम राज्ये सांतिविमलाचार्यवसतौ वैसाखस्य सुद्धनवम्यां संचामरभाल्लिक्य शेष्ठीभिः (गैष्ठीभिः) स्रीसरस्वती संस्थापिता आहिलेन चं

हिन्दी अनुवाद- 'ओं (सिद्धम्) वि0 सं0 1067 बैशाख शुक्ल पक्ष की नवमी (1010 ई0) के दिन सीकरी के निवासी श्री वज्राम' के राज्य में

शांति विमलाचार्य की बस्ती में 'संचामर' और 'भाल्लिक्य' गोत्र सेठों के द्वारा श्री सस्स्वती की प्रतिमा स्थापित करवाई गई, और 'आहिल' ने भी।

३. मूर्ति का नाम- ऋषभनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा

मूल अभिलेख- 'ओ' (सिद्धम्) ।। सं0 1039 जेष्ठसुदि ।। रवौस्वातिनक्षत्रे श्री रिषभदेव प्रतिमा श्री विमलाचार्य संताने देवरराजपरम श्राद्धस्तपत्नी (श्रावकस्तत्पत्नी) च धनपती नवती ताभ्यां कारितेति।। वि. स. 1039 ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष एकादशी (982 ई.) रविवार के दिन स्वाति नक्षत्र में श्री ऋषभदेव जैन तीर्थंकर की प्रतिमा की स्थापना श्री विमलाचार्य की संतान (शिष्य) परम श्राद्ध देवराज और उसकी पत्नी 'धनपती' ने करवायी।

४. मूर्ति का नाम- सम्भवनाथ की कार्योत्सर्ग प्रतिमा

मूल अभिलेख- 'ओ' (सिद्धम्)।। सं0 1039 ज्येष्ठसुदि ।। रवौ स्वातिनक्षत्र श्री संभव तीर्थंकर प्रतिमा श्री विमलचार्य संताने देव राजपरम श्रावकस्तत्पत्नी च धनपति ताभ्यां कारितेति।

हिन्दी अनुवाद- वि0 सं0 1039 ज्येष्ठ शुक्ल पक्ष एकादशी (982 ई0) रविवार के दिन स्वाति नक्षत्र में श्री संभवनाथ जैन तीर्थंकर की प्रतिमा की स्थापना श्री विमलाचार्य की सन्तान (शिष्य) देवराज परम श्रावक और उसकी पत्नी धनपति ने करायी।

५. मूर्ति का नाम- ध्यानस्थ तीर्थंकर की प्रतिमा के आसन में अंकित

मूल अभिलेख- संवत् 1091 पपासुत धनपाल महिचला कारितेयं।।

हिन्दी अनुवाद- वि. सं. 1091 (1034 ई0) को पपासुत? और 'धनपाल महिचला' ने इस प्रतिमा की स्थापना करवाई।

६. मूर्ति का नाम- ध्यानस्थ 'ओं' (सिद्धम्) संवत् तीर्थंकर की प्रतिमा के आसन में अंकित

मूल अभिलेख- 'ओं' (सिद्धम्) संवत् 1069 रामसुतभोई-देवयाभ्या (सो?) इदेव कारितेय

हिन्दी अनुवाद- 'ओं' (सिद्धम्) संवत् 1069 (1034 ई0) में रामसुत और 'भाईदेवी' ने यह प्रतिमा स्थापित करवाई।

७. मूर्ति का नाम- ध्यानस्थ तीर्थंकर की प्रतिमा के आसन में अंकित

मूल अभिलेख- संवत् 1031 आणंदा (द) सुतक्वचा सेद्व स्रावकाभ्यां (धापकाधारी) कारितेयम्

हिन्दी अनुवाद- वि. सं. 1031 (974 ई0) को 'आनन्दसुत' और क्वचा सेठ इन दोनों श्रावकों ने इस प्रतिमा की स्थापना करवाई।

८. मूर्ति का नाम- ध्यानस्थ तीर्थंकर की प्रतिमा के आसन में अंकित

मूल अभिलेख- सं 1001.... लवसुत रा नेदेल्हेत्रे संपायो माया (सं0 19) माधसु 1 श्री माधव सूतरा देल्हण श्री.. वि.सं. 1001 (944ई0) में ... लवसुत......

हिन्दी अनुवाद- इस अभिलेख में मात्र समय का अंकन वि.सं. 1001 अर्थात् 944 ई0 ही स्पष्ट हैं।

९. मूर्ति का नाम- ध्यानस्थ तीर्थंकर के आसन में अंकित

मूल अभिलेख- 'इजा बरी करावा आ सुराणंदपनिसहजा' करावीत छ महठ (करावी प्र)

हिन्दी अनुवाद- 'इजावरी ने स्थापना करवाई। आनन्द की पत्नी सहजा' ने स्थापना करायी हैं। महठ.....? इस अभिलेख में समय एवं शासक का नाम उत्कीर्ण नहीं हैं।

१०. मूर्ति का नाम- तीर्थंकर शांतिनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा के आसन में अंकित

मूल अभिलेख- 'देमू (नू) पतनी ताहिणी स्रावकि गि सांतिनाथ प्रतिमा करावित्छ (करावि छ)

हिन्दी अनुवाद- 'देमू की पत्नी 'ताहिण" श्राविका ने शान्तिनाथ प्रतिमा की स्थापना करवाई है।

११. मूर्ति का नाम- तीर्थंकर कुन्थुनाथ की कायोत्सर्ग प्रतिमा के आसन में अंकित

मूल अभिलेख- 'संराणंद केरो' री इ जासपइ कुंथु प्रतिमा करावीत छे।

हिन्दी अनुवाद- 'सुरानन्द केरोई जासपई' श्राविका ने कुंथुनाथ की प्रतिमा की स्थापना करवाई। इसमें भी काल का अंकन नहीं है।

१२. मूर्ति का नाम- तीर्थंकर वासुपूज्य की यक्षिणी प्रचण्डा के मूर्ति के आसन में अंकित

मूल अभिलेख- ज्यासधर पतनी जसवाई धिवणी जा (ज्या) नी स्य.. कराविता जासधार पतनी जस म.....(ध गिधणी जा नी कई प)

हिन्दी अनुवाद- ज्यासधर की पत्नी 'जसवाई' और........ ने इस प्रतिमा की स्थापना करवाई। इसमें भी कुल एवं वंश का अंकन नहीं किया गया है।

१३.मूर्ति का नाम- नेमिनाथ की यक्षिणी अम्बिका की मूर्ति के आसन में अंकित

मूल अभिलेख- 'देमु (भेड़) पत्नी ज्याविणी स्रावकिखि सुविधमुणित्यवाइ (पिणिजाइ) कशवित्छे (कशापित्ये)

हिन्दी अनुवाद- 'देमु' की पत्नी 'ज्याविणी' श्राविका ने सुविधि 'मुनि ज्यवाई प्रतिमा की स्थापना करवाई। इसमें भी काल एवं वंश के नाम का अंकन नहीं किया गया है।

१४. मूर्ति का नाम- एक खण्डित प्रतिमा पर अंकित है यह अभिलेख

मूल अभिलेख- (सुरा) आणं (नं) दपतनी.......... (सहजा) 'सुतवी'

हिन्दी अनुवाद- आनन्द की पत्नी सुतवी ने इस प्रतिमा की स्थापना करवाई। इसके अतिरिक्त इसमें कुछ भी उत्कीर्ण नहीं है।

इस प्रकार उत्खनन से चौदह अभिलेख प्राप्त हुए हैं जो जैन प्रतिमाओं के आसन में अंकित हैं। वीर-छबीली टीले के उत्खनन से प्राप्त अभिलेख नागरी लिपि, संस्कृत और अपभ्रंश भाषा में रचित हैं। मात्र 5 अभिलेखों में तिथि का अंकन है। मात्र एक अभिलेख में सरस्वती के आसन में स्थान का नाम, आचार्य शासक एवं अन्य सूचनाएँ ज्ञात होती हैं। अभिलेख एवं मूर्तियों से ज्ञात होता है कि जैन मन्दिर में सर्वाधिक मात्रा में 10 वीं 11वीं शताब्दी में प्रतिमाएं निर्मित हुई थीं। इससे यह स्थल जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण केन्द्र रहा होगा। वर्तमान में एक समीपस्थ गाँव का नाम ''जैनपुरा'' भी है। इस प्रकार जैन पुरातत्त्व से बीर-छबीली टीले को एक नई पहचान प्राप्त हुई।

सन्दर्भ सूचीः

1. घोष, ए0, जैन कला एवं स्थापत्य, भाग-1 भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1975

2. जैन, हीरालाल, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, भोपाल, 1962

3. तिवारी, मारूतिनन्दन प्रसाद, जैन प्रतिमा विज्ञान, वाराणसी, 1981

4. भट्टाचार्य, बी0सी0, दि0 जैन आइक्नोग्राफी, लाहौर, 1939

5. रावत, बी0सी0, उत्तर प्रदेश में जैन प्रतिमा कला, नई दिल्ली, 2010

6. रावत, बी0सी0, जैन मूर्ति शिल्प, रायबरेली, 2008

7. शाह, यू0पी0, जैन मूर्ति स्वामी, जैन सत्य प्रकाश वर्ष, अंक 5-60

8. शर्मा, धर्मवीर, ऑर्कितयोलॉजी ऑव फतेहपुर सीकरी, नई, दिल्ली, 2007

9. सिद्दीकी, डब्ल्यू, एच0 फतेहपुर सीकरी, आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑव इण्डिया, जनपथ, नई दिल्ली, 1998

10. स्मिथ, बी0ए0, दि. जैन स्तूप एण्ड अदर ऐन्टीक्विटीज ऑव मथुरा, इलाहाबाद, 1901

प्रवक्ता- प्राचीन इतिहास,
ग्राम्यॉंचल महिला विद्यापीठ,
गंगापुर, बाबपुर, वाराणसी (उ.प्र.)

लेखकों से अनुरोध

आप सभी से अनुरोध है कि आप अपने हिन्दी के आलेख **वाकमैन चाणक्य** अथवा **कृतिदेव** फोन्ट में जिसका साइज 16 एवं अंग्रेजी के आलेख **टाइम्स न्यू रोमन** अथवा **एरियल** फोन्ट के साइज 12 में ही प्रेषित करें। ऐसा करने से समय की बचत और अशुद्धियों का निवारण आसान हो सकेगा। आपका आलेख 8-10 पेज से ज्यादा नहीं होना चाहिए। आलेखों की सॉफ्ट कॉपी पीडीएफ फाइल के साथ आप वीर सेवा मन्दिर के ईमेल virsewa@gmail.com पर भेज सकते हैं।

- संपादक

Mystical Powers in Jainism

- Dr. Samani Aagm Prajna

Mysticism is a word of very uncertain connotation. Though it is defined as "Belief in union with the divine nature by means of ecstatic contemplation, and in the power of spiritual access to domains of knowledge closed off to ordinary thought. Also applied derogatorily to theores that assume occult qualities or agenceis of which no empriical or rational account can be offered."[1] When we analyzed the difinition we find the most focusting point in the definition of mysticism that- ***"The incidents or events where no empirical or rational accounts can be offered."*** In every religion either it is Vedic or Jainism, Buddhism or Christianity or Islamic-some factors related to mstical experiences and mystical powers are found, where no rational explanations can be given still they cannot be denied. Hence, it would be better to make it clear that mystical power and magic, both are not one. There are some poeres, which are acquired from god directly or be some spiritual practices at the purification of soul and that which cannot be accomplished by highest intellect and optimum hard work. Those powers are mystical powers. Sometimes it may happen that the upholder of such mystical powers, misuse it or shows miracle through it. If so, then as a result he is liable for atonement or due to this he may loose that power (*Labdhi*) too. On the other hand, magic are the skills, developed though handsome practices. Those Practices re not necessarily spiritual.

Ultimately, mystical powers should not be confused with magic. In the present paper an attempt has been made to present mystical powers found in Jainism with special reference to va yaka Niryukti.

Concept of Labdhi in Jainism-

Mystical powers are technically called as 'labdhi' in Jaiism. It is also called *ddhi, sidhi or yogaja viba.* It is the excellence, which is not found in ordinary people. In Jain scriptures-two-ways are described to attain the mystical powers.

(a) Due to elimination of karmas- One can attain these supernatural power or mystical power due to destruction-cum-subsidence (*k ayopa ama*) or destruction (*k aya*) of the relevat karma-s. That is, by natural purity one attains these powers.

(b) Due to spiritual practices- One can attain these powers through spiritual practices like penance, medita tion, mantras, etc. One has to obtain these powers by special effort.

Even Ghera a sa hita, mentions five years ways to attain these siddhis, such as *janmaja* (by birth), au adhaja (by medicines), *mantraja* (by mantras), *tapaja (*by penance) and *samadhija* (by deep concentration or meditation.[2] So, the former, *janmaja* can be said as powers obtained naturally and last four can be categoried under the second one (i.e.) the power obtained due to spiritual practices.

Possessor of Mystical Powers-

All cannot attain these mystical powers. Only highly spiritually developed male and female can attain these powers. But due to certain limitations of physical strenght of the body, female are not capable to attain all the pwers. According to Jainism one

should posses the following characteristics to gain these powers. They are :

(a) Intensive studies of scriptures,

(b) Sefl-restraint (not necessary to be a monk or nun),

(c) Vigilance,

(d) Purity and less passionatencess.

In Jain scriptures, we come across a story of carya Sth labhadra. Under the guidance of carya Bhadrabahu he was learning the 14p. rvas on Nepal hills. Once he was meditating in the cave. He came to knew that his sisters are coming to meet him. He took the form of lion. His sisters, when entered the cave were frightened to see lion. They inquired it from a and came to know that it was non-else but her brother. In order to show off his knowledge he presented such miracle. This is called 'remissness' (*pramada*) in Jainism, As an atonement to this, a denied to impart further knowledge. This all emphasis that one should not take such forms or use such powers or skills to entertain or show miracles. This story represents that by intensive study of scripture one can attain these powers.

Types of *Labdhi*-

First of all we get round about 60 names of labdhi holder in pra *navyakara* a S tra[3.] va yaka Niryukti[4] mentions 17 types of *labdhi*, while Vi e ava yaka Bha ya[5] states 20 kind of *labdhi*. Though it states 20, but on the other hand, in the verse it also stated they are unlimited (*aparimita*). In the present paper some of the *labdhis* are explained in detail. During the study of various kinds of labdhis we come across some labdhis having more or less same peculiarity. On the basis of their peculiarities they can be classified from various points of views. I have classified it under three heads:

(1) Diseases curing point fo view,

(2) Knowledge point of view,

(3) Others.

Labdhi

Curing Desease	**Knowledge of Point of View**	**Others**
1. ***amar a***	***avadhi***	***k rasrava***
2. vipru a	***mana paryava***	***g tasrava***
3. le ma	***kevali***	***ak amahanasa***
4. jalla	***ko habuddhi***	***pulaka***
5. sarva	***bijabuddhi***	***a vi a***
6. gandha	***padanusar buddhi***	***cara a***
7.	***vyanjana***	***vaikriya***
8.	***sambhinna rota***	***tejo***

1. Diseases Curing Point of View

One who possesses these labdhis like *ama sa, vipur a, le ma, jalla* can cure the deseases by his touch (*ama a*), dirt f of body or cough (le ma) or spit, etc. The person having sarva *labdhi* can cure all the types of diseases. Morever, it is also said that the dirt of any part from the whole body of this labdhi holder can be used as medicine. Further, in *Gandha labdhi* the part of the body, of this labdhi holder like hair, nail etc, became fragnant and by that part one can cure the diseases. In *Uttaradhyayana Niryukti* ve come across a story of Cakravart Santkumar. The Kind Sanatkumar was a handsome personality on the earth. Once Indra praised about his beauty in th eheaven. Two celestial being become jealous about him and came to see him. Due to pride, sanatkumar lost his beauty. Later, he become a monk and suffered from 16 diseases. Once a celestial being appeared in the form of vaidya (doctor) and said that he can cure his disease. At that time Sanatkumar said, " I am having the power that

by my own spit I can cure all the diseases but I am not curing it because I want to shed off my *karma-s* by tolerating it." In this way, Jain scriptures points out that though man possessed labdhis, they were not using it everywhere or anywhere (in ordinary conditions)

2. Knowledge Point of View

Here, the possessor acquires such labdhis by destruction or destruciton-cum-subsidence of knowledge obscuring karma (*jnanavar iya karma*) acqures such *labdhis.*

The first *labdhis* is avadhi. It is a kind of an extra-sensory perception. By this one can know all the material object within a limit he has acquired the labddhi. Secondly, *mana paryava* one who holds this labdhi can know another's mind. The same kind of mystical power is found in *Patanjali's yoga dar ana*.[6] The one who knows all the substances with its modes directly and even simultaneously is called as *kevali* (omniscient). This knowledge can be compared with *pratibha jnana of yoga dar ana,*[7] where ones knows everything by this intuitive knowledge. In ko thabddhi labdhi, as the pulses kept in containers remain safe, similarly, person holding this labdhi remember all the s tra (verse) and artha (meaning), learned from his *acarya*. His knowledge is never destroyed. Whatever he leams he remebers it as it is. Likewise, one who has *bijabuddhi* and *padanusari* i buddhi can respectively know all the remaining meaning and *s tra* if they know the part of it. The *ga dharas* the great disciples of *tirtha kara* holds bijabuddhi. In *vyanjana labdhi* one can know the missing word or alphabet in the sentence or a word. The last is *sambinna rotopalabdhi.* It is very special kind of labdhi. In this, one can hear the word, see the form (color), smell the odour, taste the taste and feel the touch thourgh any part of his body or the whole body. The part or the whole body can be compared to crystal. As

crystal reflects the color, what is mirrored in it similarly, the part or whole body becomes tranparent and can know any sensual-object presented to it. In other words, it can be said that sence-organs (rota) mutually attain operational identity or oneness. That is to say, the auditory organ (ear), on account of such *labdhi* can operate as ocular organ (eye) and vice-versa. *va yaka* C r i depicts some other achievements of this *labdhi* like-

One who holds this *labdhi* can distinctly take cognizane of the diverse sounds, produced simultaneously by the army of the *cakravarti* (universal sovereign), which is spread over the region measuring 12 yojanas. (1 yojana=7.88miles)

One who holds this *labdhi* can take cognizance of all the five objects of senseorgans through any one sense-organ of the body.

One who holds this *labdhi* can take cognizance of all the five object of senseorgans thourgh all the principal and secondary organs of the body.

One who holds this *labdhi* can distinctly take cognizance of the diverse sound (notes), produced simultaneously by all the musical instruments played in the army of the *cakravarti.*

One who holds this *labdhi* can decipher diverse types of sound simultaneously produced (by diverse sources) in accordance with thier individual property (qualities). The similar kind of mystical power is found in *patanjalayoga dar ana*.[8] It states that one can distinctly know the cries of all beings if he concentrates distinctively on word, object and idea.

3. Other

There are some *labdhis,* which have different qualities. Like, in *k irasrava labdhis,* the voice of the possessor of this *labdhi* becomes as sweet as mild, Person holding *g tasrava labdhi,* his speech is as soft as ghee. In *ak i amahanasa,* the

alms brought by this *labdhi* holder in never ending or is endless. He can satisfy the appetite of numbers of monks. Ultimately, that food ends only when he, himself have it. In pulaka labdhi one attains the prosperity of Indra (god). Thereafter in *a vi a,* as an engry poisonous snake kills the man by its hissing similarly such labdhi holder can kills other if he gets engry. C ra a labdhi is such that one attains the skill to fly in order to move from one place to another. About vaikriya labdhi it is sand that one can take vivid forms as he wish. He can become short, tall, fat, etc. Any from as per his wish. This labdhi can be compared with the siddis such as a ima, laghima, mahima of yoga dar ana. Among these, the last *labdhi* is *tejo-labdhi*, Through this labdhi one can burnt into ashes anything situated within the range of hundreds of *yojanas* (1 yojana - 7.88 miles). This power can be utilized both for giving a curse and granting a boon. There are two kinds of *tejo-labdhi* (i.e.) (a) hot, (b) cold. In *Bhagavat S tra,* we come across an incident where Lord *Mahavira,* due to compassion used this labdhi to protect Gau alaka. Muni Vai yayana, teased by *Gau alaka* become angry and projected hot *tejo-labddhi* on him. In order to save him, Lord Mahavira, used cold *tejo-labdhi* to vercome the effect of hot tefo-labddhi. At last, when *Gau alaka* was saved he asked Lord Mahavira, how one could attian this labdhi, Lord *Mahavira* replied "The person who undertakes penance, for continuous two-two days fasting upto six months and while breaking the fast he has to take just one fist pulses (m ga) and a sip of water. Even during his penance he has to abseve atapana (i.e. to stand behind the sun during the day) with hands folded up in the sky.[9]

In this way, we saw numbers of labdhis in Jainism. They are such powers, where one cannot give rational explanation how and why it occurs happens. Even one cannot deny these pow-

ers. They are result of spiritual development and inner purity. They are and that's why mysticis.

Reference :

1. Simon Blackburn, Oxford Dictionary of Philosophy, Oxford University press, New York, 1996.

2. A a gayoga Rahasya Ghera a Sa hita, Ramkrishna Sharma, Randhir Prakashan, Haridvara, 1995, P.2, 8-29

3. pra navyakara a S tra, 6.6

4. va yaka niryukti of carya Bhadrabahu (ed.) Samani Kusumprajnaji, Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun, 2011

5. Vi e ava yaka Bha ya of Jinabhadraga i, Divya Darshan Trust, Mumbai, 1982.

6. Patanjala Yogadar ana, Pratyayasaya Parcitaj ana, 3.19

7. Pata jala Yogadar ana, Pratibhatva Saryam, 3.33.

8. Ibid, "abdartha pratyaya a ....." 3.17

9. Bhagava (A gasutta i-II) synod chief cara Tuls, (ed.) carya Mahaprajna, Jain Vishva Bharati Institute, Ladnun, 1992, 15.70

- Asstt. Proff. in Jainology & comparative
Religions and Philosophy,
Vishva Bharati University, Ladnun (Raj)

अहिच्छत्रा का पुरातात्त्विक वैभव

- लाल बहादुर सिंह

ईसा पूर्व छठी शताब्दी के सोलह महाजनपदों में से पंचाल महाजनपद एक था। उसमें वर्तमान उत्तरप्रदेश का रूहेलखण्ड और उसका समीपवर्ती क्षेत्र सम्मिलित था। पंचाल का विस्तार उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में चंबल और यमुना नदियों तक तथा पूर्व में गोमती नदी तक था। उसके पश्चिम में शूरसेन तथा उत्तर-पश्चिम में कुरू महाजनपद थे। गंगा नदी पूरे पंचाल महाजनपद को दो भागों में बाँटती थी। गंगा नदी के उत्तर में उत्तर पंचाल की राजधानी अहिच्छत्रा थी तथा दक्षिण में दक्षिण पंचाल की राजधानी काम्पिल्य थी। अहिच्छत्रा की पहचान वर्तमान बरेली से 32 कि.मी. दूर रामनगर से की गयी है। वहाँ के अहिच्छत्रा गाँव के समीप प्राचीन नगर के अवशेष मिले हैं।[1]

जिला बरेली उ.प्र. में आँवला स्टेशन से रामनगर ग्राम 18 कि.मी. दूर है। यही अहिच्छेत्र तीर्थस्थान है। आधुनिक रामनगर में अक्षांश 28.5 तथा 79.255^0 में स्थित है। यहाँ पहुँचने के लिए रेल द्वारा बरेली से आँवला आना पड़ता है। आँवला रेलवे स्टेशन से अहिच्छेत्र तक 16 कि. मी. दूर अहिच्छत्रा के प्राचीन दुर्ग के ध्वंसावशेष बिखरे हुए हैं। जो वर्तमान में 'आदिकोट' के नाम से विख्यात है। इस कोट के विषय में जनश्रुति है कि उसे राजा आदि ने बनवाया। कहते हैं कि यह अहीर था। एक दिन जब वह किले की भूमि पर सो रहा था तब उसके ऊपर एक नाग ने छाया कर दी थी। पांडवों के गुरू द्रोणाचार्य ने उसे इस अवस्था में देखकर भविष्यवाणी की थी कि वह एक दिन राजा बनेगा। आगे चलकर यह भविष्यवाणी सच निकली।

वैदिक साहित्य में अहिच्छत्रा का प्राचीन नाम 'परिचक्रा' मिलता है।[2] संभवत: उस समय नगर का स्वरूप चक्राकार या गोलाकार रहा हो। पुराणों में 'पंचाल' जनपद का नाम पड़ने के पीछे कुछ इस प्रकार की कहानी है- ''यहाँ के राजा भृम्यश्व (जो अजामीठ की छठी पीढी में थे)

के पाँच लड़के थे। इन पांचों लड़कों में यह राज्य बांटा गया।[3] यहाँ पर जिस समय भगवान् पार्श्वनाथ तप में लीन थे तब उनके पूर्व जन्म के बैरी कमठ के जीव ने जो उस समय संवर नामक देव की पर्याय में था, भगवान के ऊपर घोर उपसर्ग किया गया, किन्तु भगवान जरा भी विचलित नहीं हुए। भगवान् की कुमारावस्था के समय उन्होंने वाराणसी में गंगातट पर मरणासन्न नाग को णमोकार मंत्र सुनाया था जिसके प्रभाव से समता पूर्वक मरणकर वे धरणेन्द्र पद्मावती नामक देव देवी हुए और उन्होंने उस भयानक उपसर्ग से रक्षा हेतु अपने नागफण का छत्र लगाकर अपनी कृतज्ञता प्रगट की तभी से इस स्थान का नाम अहिच्छत्र प्रसिद्ध हो गया।[4] इसी स्थान पर भगवान् को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ और धर्मसभा रूप समवसरण की रचना हुई। दूसरे मतानुसार 'पंचाल' नाम इसलिए पड़ा कि यहाँ कृवि, तुर्वशु, काशिन, अजय और सोमक ये पांच जन समुदाय रहते थे। ऋग्वेद में कृवि प्रधान थे। ऋग्वेद में 'कृवि' शब्द तो आता है पर पंचाल नहीं,[5] परन्तु यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, आरण्यकों तथा उपनिषदों में देश तथा उसमें निवास करने वाले लोगों के लिए 'पंचाल' नाम पाया जाता है।[6] रामनगर तथा उसके पास से प्राप्त कई अभिलेखों में अहिच्छत्र नाम आया है। इलाहाबाद जिले के पभोसा नामक स्थान की गुफा में भी 'अहिच्छत्र' नाम खुदा है। यह लेख शुंगकालीन है। राज्य संग्रहालय लखनऊ में एक अत्यन्त बैठी घिसी प्रतिमा की चरण-चौकी पर दो पंक्तियों का अभिलेख है। प्रथम पंक्ति के अंत में अहिच्छत्रा प्रारंभिक कुषाणयुगीन ब्राह्मी में उत्कीर्ण है। दूसरी अभिलिखित यक्ष प्रतिमा भी उल्लेखनीय है। प्रोफेसर के. डी. वाजपेयी द्वारा खोज इस पर अहिच्छत्रा में फारगुल विहार होने का उल्लेख है।[7]

जैन ग्रन्थों में अधिकतर 'अहिच्छत्र' नाम मिलता है। 'विविध तीर्थ कल्प' नामक जैन ग्रन्थों के अनुसार नगर का पुराना नाम 'संख्यावती' था और वह कुरू जांगल प्रदेश की राजधानी थी। इस ग्रन्थ में उल्लेख है कि एकबार पार्श्वनाथ भगवान् यहाँ ठहरे हुए थे। कमठ नामक दानव ने उनके ऊपर वर्षा की झड़ी लगा दी। नागराज धरणेन्द्र ने सपत्नीक पार्श्वनाथ की अपने फणरूपी छत्र से रक्षा की। इस प्रकार अहि (सर्प)

फण बन जाने से 'संख्यावती' के स्थान पर अहिच्छत्रा या अहिच्छत्र नाम प्रसिद्ध हुआ।[8]

अहिच्छत्र का पार्श्वनाथ से सम्बन्ध मात्र साहित्य से न होकर एक अभिलेखीय साक्ष्य से भी प्रमाणित होता है। कटारी खेड़ा नामक टीले से प्राप्त एक स्तम्भ पर उत्कीर्ण है यह लेख। इस मंदिर का निर्माण गुप्तकाल में हुआ। लेख के प्राप्ति स्थान के पास पार्श्वनाथ जी का आधुनिक मंदिर है। कटारी खेड़ा से अनेक प्राचीन जैन मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। बौद्ध साहित्य में भी अहिच्छत्र के नामकरण के सम्बन्ध में जैन कथा से मिलती जुलती पायी जाती है।[9] रामायण, अर्थशास्त्र, बौद्ध तथा जैन साहित्य पुराण ग्रन्थों, स्वप्नवासवदत्ता, हर्षचरित, कादम्बरी, नैषधचरित आदि में 'पंचाल' के विवरण मिलते हैं। उनसे यह पता चलता है कि पहले वहाँ राजतंत्रीय शासन व्यवस्था थी, बाद में गणतंत्र स्थापित हुआ। चीन यात्री फाह्यान और ह्वेनसांग के यात्रा विवरणों में भी पंचाल के अहिच्छत्रा और कन्नौज का उल्लेख हुआ है।[10]

नंद और मौर्य शासकों के समय पंचाल का क्षेत्र उनके साम्राज्य का एक अभिन्न अंग रहा। मौर्यों के पश्चात ई0पू0 दूसरी शती से लगभग 350 ई0 तक पंचाल के भूभाग पर विभिन्न शासकों ने स्वतंत्र रूप से राज्य किया। इसकी पुष्टि उन शासकों के सिक्कों से होती है। वहाँ के एक आरम्भिक राजा बंगपाल का नाम पभौसा के लेख में मिलता है।[11] वह लेख बंगपाल के पौत्र असाढ सेन का है। यहाँ से प्राप्त सिक्कों से ज्ञात होता है कि ई.पू. 200 से लेकर लगभग 50 ई.पू. तक अहिच्छत्र पर गुप्त, पाल तथा सेन नामवाले राजाओं ने राज्य किया। यहाँ पर मित्रवंश के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं। इन सिक्कों पर सामने की ओर पंचाल जनपद के तीन चिन्ह और नीचे राज्य का नाम ब्राह्मी में पीछे आसन पर देवी या देवता की मूर्ति तथा कटघरे में वृक्ष मिलता है। ये सभी सिक्के गोलाकार हैं। मित्रवंशी राजाओं के सिक्के अहिच्छत्र के अतिरिक्त आँवला, बदायूँ तथा रूहेलखण्ड के कई स्थानों में मिलते हैं।[12]

उत्तर भारत में कुषाणों के काल में विविध व्यवसाय और वाणिज्य के केन्द्र बने। राजगृह से आने वाले व्यापारिक मार्ग पर काशी, कौशाम्बी,

मथुरा, अहिच्छत्रा, तक्षशिला आदि नगर स्थित थे। गुप्तकाल के बाद अहिच्छत्रा का विशेष वृत्तान्त नहीं मिलता है। ई. की सातवीं सदी में पंचाल प्रदेश वर्धनवंशी हर्षवर्द्धन के साम्राज्य में सम्मिलित था। उस समय में चीनी यात्री ह्वेनसांग के अनुसार अहिच्छत्रा लगभग तीन मील के फैलाव में था। चीनी यात्री ने वृत्तान्त में लिखा है कि यहाँ के निवासी सत्यनिष्ठ थे और उन्हें धर्म और विद्याभ्यास से बड़ा प्रेम था। यहाँ उस समय 10 संघाराम थे जिनमें समितीय संस्था के हीनयान संप्रदायी 1000 भिक्षु निवास करते थे। नौ देवमंदिर भी थे जिनमें पाशुपत मत के मानने वाले 300 साधु रहते थे। ह्वेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि अहिच्छत्र में बौद्ध मतावलम्बी लोग काफी संख्या में थे। ईस्वी की 9वीं शती के प्रारम्भ में कन्नौज प्रतिहार वंश के राजाओं का प्रभुत्व रहा। उ0प्र0 के मुरादाबाद जिले के सम्भल शहर से अमरोहा निवासी तौफीक अहमद कादरी चिश्ती ने लगभग ढाई वर्ष पूर्व एक ठठेरे से 10 कि0ग्रा0 भारवाला और 25 मि0मी0 मोटा लम्बाई में दोहरा मुड़ा हुआ 60 से0मी0 से 61.5 से.मी. लम्बा और 48.5 से.मी. चौड़ा 'ताम्रपत्र' प्राप्त किया था जिसका वाचन डॉ. बुद्धि रश्मिमणि एवं इन्दुधर द्विवेदी (ए.एस.आई. दिल्ली) ने किया था। ताम्रलेख में अहिच्छत्रा भुक्ति (रामनगर, बरेली) जो प्रतिहार साम्राज्य का एक प्रदेश था उसके एक मंडल और विषय का नाम गुणपुर मिलता है। जो सम्भवतः बदायूँ जिले का तहसील मुख्यालय गुन्नौर है। रूहेलखण्ड का यह इलाका प्राचीन जनपद के अन्तर्गत था और इस क्षेत्र में प्रतिहारों के शासन की स्थापना के बाद नए नगर भी बसे होंगे।[13]

ग्यारहवीं सदी में इसी नगर में जैन महाकवि वाग्भट्ट ने नेमि निर्वाण-काव्य की रचना की। 14वीं सदी में आचार्य जिनप्रभ सूरि ने अहिच्छत्रा की यात्रा की थी। कौशाम्बी नरेश के निकटतम वंशज वसुपाल नृप ने अहिच्छत्रा में भगवान् पार्श्वनाथ के एक भव्य मंदिर का निर्माण कराया था। जैन तीर्थंकरों की गुप्तकालीन मूर्तियां भी अहिच्छत्रा में काफी संख्या में प्राप्त हुईं, जो लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। कौशाम्बी नरेश के राज्य में प्रभासगिरि (पभौसा) पर अनेक जैन मुनियों के निवास के लिए गुफाओं का निर्माण कराया। इससे विदित होता है कि अहिच्छत्रा जैन

मतावलम्बियों का महत्त्वपूर्ण तीर्थ है। इनके अतिरिक्त मातृदेवियों की प्रतिमाएं, ईंटें, मनके एवं मृणपात्र भी अहिच्छत्र के लखनऊ संग्रहालय में सुरक्षित हैं। श्री जिनेश्वर दास संग्रह में भी है। इनमें गुप्तयुगीन धनुर्धारिणी विशेष उल्लेखनीय है।[14] इस प्रकार अहिच्छत्र से ई.पू. 300 से लेकर 1100वीं सदी तक के पुरातात्त्विक कलावशेष उपलब्ध हुए हैं, जिसे डॉ. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी (पूर्व सहायक-निदेशक राज्य संग्रहालय) लखनऊ ने काफी परिश्रम से प्रदर्शित किया जो आज अहिच्छेत्र कला प्रेमियों के लिए धरोहर के रूप में सुरक्षित है।

संदर्भ :

1. पंचाल के प्राचीन सिक्के- डॉ. संतोष कुमार वाजपेयी, पंचाल खण्ड-7, 1994
2. शतपथ ब्राह्मण 13, 5, 4, 7
3. इन पांचों के नाम पुराणों में विभिन्न रूप में मिलते हैं भागवत 6, 21, विष्णुपुराण 16.4
4. पन्नालाल जैन, उ0प्र0 में जैन तीर्थ एवं स्थल।
5. मैकडानल तथा कीथ वैदिक इंडेक्स जिल्द 1, पृ. 469
6. शतपथब्राह्मण (13,1,4,7)में आया है कि पंचाल लोगों की प्रारम्भिक संज्ञा 'कृषि' थी।
7. डॉ. विनीत पाल, उत्तर भारत का ऐतिहासिक नगर अहिच्छत्रा-प्राचीन तीर्थ जीर्णोद्धार 2002 नवम्बर
8. के. डी. वाजपेयी ए न्यू इंस्क्राइब्ड यक्ष इमेज फ्राम अहिच्छत्रा- जर्नल आफ यू.पी. हिस्टॉरिकल सोसायटी 1950, पृ. 112
9. जिनप्रभ सूरि रचित विविध तीर्थकल्प (सिन्धी जैन ग्रन्थमाला) पृ. 14
10. पंचाल के प्राचीन सिक्के, डॉ. संतोष कुमार वाजपेयी, प्रवक्ता सागर वि.विद्यालय (खण्ड-7) 1994
11. सरकार दिनेशचन्द्र सिलेक्ट इंन्स क्रिप्सन वियरिंग आन इंडियन हिस्ट्री एण्ड सिविलिजेशन 1965, पृ. 97
12. राज्य संग्रहालय लखनऊ में इस प्रकार के पर्याप्त सिक्के हैं।
13. प्रतिहार सम्राट नागभट्ट द्वितीय का ताम्रपत्र लेख- डॉ. बुद्धरश्मि मणि एवं इन्दुधर द्विवेदी पंचाल खण्ड-7, 1994 पृष्ठ-23
14. जे. 684, जे 685, जे 686 लखनऊ संग्रह
15. 46-13 राज्य संग्रहालय लखनऊ (डा. शैलेन्द्र कुमार रस्तोगी)

- संग्रहाध्यक्ष (से.नि.) केन्द्रीय संग्रहालीय गूजरीमहल,
64ए, कृष्ण विहार, न्यू दर्पण कालोनी, हरिदर्शन पीठ मंदिर के पास
पोस्ट-रामकृष्ण पुरी, ठाटीपुर, ग्वालियर-474011 (म.प्र.)

आचार्य कुन्दकुन्द की दृष्टि में श्रमणों के षडावश्यक

- डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

जैन आचार मीमांसा में मुनियों के आचार के अन्तर्गत षडावश्यकों का बहुत अधिक महत्त्व है। आध्यात्मिक विकास के लिए प्रतिदिन अवश्य-करणीय क्रियाओं एवं कर्तव्यों को आवश्यक (आवस्सय) कहते हैं। 'अवश' शब्द का सामान्य अर्थ है अकाम, अनिच्छु, स्वतन्त्र,[1] रागद्वेषादि तथा इन्द्रियों की पराधीनता से रहित होना।

आवश्यक का स्वरूप :

आचार्य कुन्दकुन्द तो यहाँ तक कहते हैं कि यह आवश्यक कर्मों का नाशक, योग और निर्वाण (निर्वृत्ति) का मार्ग है ही, साथ ही ये आत्मा में रत्नत्रय का आवास कराते हैं।[2] आचार्य वट्टकेर मूलाचार में कहते हैं कि जो रागद्वेष आदि विकारों के वशीभूत नहीं होता, वह 'अवश' है तथा उस अवश का आचरण या कर्तव्य आवश्यक कहलाता है।[3]

नियमसार की टीका में आचार्य पद्ममल के अनुसार निरन्तर स्ववश में रहना ही निश्चय आवश्यक कर्म है। मुनि सदैव अन्तर्मुखता के कारण अन्यवश नहीं हैं, परन्तु साक्षात् स्ववश हैं। उस व्यावहारिक क्रिया प्रपञ्च से पराङ्.मुख जीव को स्वात्माश्रित-निश्चयधर्मध्यानप्रधान परम आवश्यक कर्म है।[4]

आचार्य कुन्दकुन्द आवश्यक का लक्षण निर्धारित करते हुए कहते हैं-

आवासं जइ इच्छसि अप्पसहावेसु कुणदि थिरभावं।
तेण दु सामण्णगुणं संपुण्णं होदि जीवस्स।। (नि. गा. 147)

अर्थात् यदि तू आवश्यक को चाहता है तो तू आत्म स्वभावों में

स्थिर भाव करता है, उससे जीव का सामायिक गुण सम्पूर्ण होता है।

यहाँ आचार्य कुन्दकुन्द का अभिप्राय यह है कि आत्म स्वभावों में स्थिरता ही आवश्यक है। प्रश्न उठता है कि सामायिक आदि षट् आवश्यकों का जो कथन है वह क्या है? वास्तव में जो षट्-आवश्यक बाह्य रूप से मुनिराजों के कहे हैं वे व्यवहार से हैं; जो अवश्य करणीय हैं, किन्तु उन बाह्य क्रिया रूप जो षडावश्यक कहे हैं उनका उद्देश्य भी 'स्ववश' है अर्थात् आत्म स्वभावों में लीनता है और यदि आत्म स्वभावों में लीनता नहीं है तो वे व्यावहारिक क्रिया मात्र हैं उनका कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता। बाह्य षडावश्यक का उद्देश्य है कि वह आन्तरिक आवश्यक को प्राप्त हो इसीलिए आचार्य कुन्दकुन्द ने दृढ़तापूर्वक जिस ग्यारहवें अधिकार में आवश्यक का कथन किया है उसका नाम 'निश्चय-परमावश्यक' दिया है। संस्कृत टीकाकार ने गाथा-147 की संस्कृत टीका में ऐसा अभिप्राय व्यक्त किया है। आवश्यक कर्म किसको होता है यह समझाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं -

परिचत्ता परभावं अप्पाणं झादि णिम्मलसहावं।
अप्पवसो सो होदि हु तस्स दु कम्मं भणंति आवासं।।[5]

अर्थात् जो परभाव को परित्याग कर निर्मल स्वभाव वाले आत्मा को ध्याता है, वह वास्तव में आत्मवश है और उसे आवश्यक कर्म कहते हैं।

यहाँ वास्तव में साक्षात् स्ववश परमजिनयोगीश्वर का स्वरूप कहा है।[6]

स्व-वश रूपी आवश्यक में रहने वाले मुनि की तुलना टीकाकार ने सर्वज्ञ-वीतराग से की है-

''सर्वज्ञवीतरागस्य स्ववशस्यास्य योगिनः।
न कामपि भिदां क्वापि तां विद्मो हा जडा वयम्।।''[7]

अर्थात् सर्वज्ञ-वीतराग में और इस स्ववश योगी में कभी कुछ भी भेद नहीं है, तथापि अरे रे! हम जड़ हैं कि जो उनमें भेद मानते हैं।

इसीलिए इस प्रकार के आवश्यक से युक्त श्रमण अन्तरात्मा है और आवश्यक रहित श्रमण वह बहिरात्मा है।[8]

''आवासण जुत्तो समणो सो होदि अंतरंगप्पा।
आवासयपरिहीणो समणो सो होदि बहिरप्पा॥''

टीकाकार एक श्लोक के माध्यम से कहते हैं कि जो जीव स्ववश है वह जीवन्मुक्त है, जिनेश्वर से किंचित् न्यून है, अर्थात् उसमें जिनेश्वर देव की अपेक्षा बस थोड़ी-सी कमी है।[9]

अन्यवश का स्वरूप :

जो स्ववश में नहीं है वह अन्यवश में है। अत: उसके आवश्यक नहीं है। इसका स्वरूप समझाते हुए आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं-

'वट्टदि जो सो समणो अण्णवसो होदि असुहभावेण।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवस्सयलक्खणं ण हवे॥[१०]

अर्थात् जो अशुभ भाव सहित वर्तता है वह श्रमण अन्यवश है, इसलिए उसे आवश्यक स्वरूप कर्म नहीं है।

'जो चरदि संजदो खलु सुहभावे सो हवेइ अण्णवसो।
तम्हा तस्स दु कम्मं आवासयलक्खणं ण हवे॥'[११]

अर्थात् जो जीव संयत रहता हुआ वास्तव में शुभ भाव में चरता-प्रवर्तता है, वह अन्यवश है, इसीलिए उसे आवश्यक स्वरूप कर्म नहीं है।

आचार्य कुन्दकुन्द तो यहाँ तक भी कह रहे हैं कि जो मुनि द्रव्य-गुण-पर्यायों में (अर्थात् उनके विकल्पों में) मन को लगाता है, वह भी अन्यवश है।[12]

'दव्वगुणपज्जयाणं चित्तं जो कुणइ सो वि अण्णवसो।'[१३]

''पर जीवों का विकल्प (चिन्ता) भी संसार ही है। अत: स्ववश के अलावा जो कुछ भी है सारा ही अन्यवश है।

षडावश्यक :

षडावश्यकों के नाम वो भी एक साथ गाथाओं के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्द ने किसी भी ग्रन्थ में किये हों ऐसा मेरे पढ़ने में तो नहीं आया, किन्तु प्रसंगानुकूल आवश्यकतानुसार छहों आवश्यकों के वास्तविक स्वरूप की चर्चा आचार्य कुन्दकुन्द ने अनेक स्थलों पर की है। नियमसार

में इन आवश्यकों के आन्तरिक वास्तविक स्वरूप की चर्चा अत्यन्त गहराई के साथ आचार्य कुन्दकुन्द ने व्याख्यायित की है।

आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में सप्तम षडावश्यकाधिकार में इन षडावश्यकों के बाह्य व्यावहारिक स्वरूप का सम्यक् विश्लेषण अत्यन्त व्यवस्थित रूप से किया है। वे इन आवश्यकों के नाम भी क्रमशः व्यक्त करते हैं-

सामाइय चउवीसत्थव वंदणयं पडिक्कमणं।
पच्चक्खाणं च तहा काउस्सग्गो हवदि छट्ठो॥ (मू.गा.१५)

अर्थात् सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान, और छठा कायोत्सर्ग- ये छह आवश्यक हैं।

आचार्य वट्टकेर इस अधिकार के आरम्भ में ही प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं पूर्व प्रचलित आचार्य परम्परा के अनुसार और आगम के अनुरूप संक्षेप में यथाक्रम से आवश्यक निर्युक्ति को कहूँगा-

आवासयणिज्जुत्ती बोच्छामि जहाकमं समासेण।
आयरियपरंपराए जहागदा आणुपुव्वीए॥ (मू.गा. २)

यहाँ देखने योग्य यह भी है कि षडावश्यकों में जो प्रारम्भ के चार आवश्यक हैं, वे अंगबाह्य (अनंगश्रुत) श्रुत के 14 भेदों में से प्रारम्भ के चार भेद रूप ज्यों के त्यों हैं।

गोम्मटसार के श्रुतज्ञानमार्गणा के अन्तर्गत अंगबाह्य श्रुत के चौदह भेदों का वर्णन है-

''सामाइयचउवीसत्थयं तदो वंदणा पडिक्कमणं।
वेणइयं किदियम्मं दसवेयालं च उत्तरज्झयणं॥
कप्पववहारकप्पाकप्पियमहकप्पियं च पुंडरियं।
महापुंडरीयणिसिहियमिदि चोद्दसमंगबाहिरयं॥

अंगबाह्यश्रुत के चौदह भेद हैं- सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वन्दना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्पव्यवहार, कल्पाकल्प्य, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका। (गो.जीव.गा.368)

दिगम्बर परम्परा में अंगबाह्य श्रुत के ये अंग उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु उसकी विषयवस्तु श्रुतपरम्परानुसार दिगम्बर जैनाचार्यों ने अपने

स्वरचित ग्रन्थों में की है।

जिन षडावश्यकों का क्रम से उल्लेख हमें मूलाचार में मूल रूप से प्राप्त होता है, उन्हीं षडावश्यकों का क्या स्वरूप आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने साहित्य में वर्णित किया है? उसकी प्रस्तुति करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है।

(१) सामायिक :

आत्मा के समता परिणाम में स्थिर हो जाने को सामायिक कहते हैं। 'समय एव सामायिकम्'- (सर्वार्थसिद्धि 7/21) यहाँ आचार्य अमृतचन्द्र ने समय शब्द का अर्थ 'आत्मा' किया है। समयसार की गाथा 154 की टीका में आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं-

'समयसारभूतं सामायिकम्'

सामायिक प्रथम आवश्यक है। प्रवचनसार में तो श्रमण का लक्षण ही यही कर दिया कि जो सुख दुःख में समान रहे वही श्रमण है।

'समणो सम सुह दुक्खो।' (प्रवचनसार-गा.१४)

इसी समता परिणाम की चारित्र हेतु अनिवार्यता बतलाते हुये मोक्षपाहुड में आचार्य कुन्दकुन्द कहते हैं कि निन्दा और प्रशंसा, दुःख और सुख तथा शत्रु और मित्र में समभाव से ही चारित्र होता है-

'णिंदाए य पसंसाए दुक्खे य सुहएसु य।
सत्तूणां चेव बंधूणं चारित्तं समभावदो॥' (मो.पा. ७२)

नियमसार के परमसमाधि अधिकार में आचार्य कुन्दकुन्द सामायिक का वास्तविक स्वरूप समझाते हुए कहते हैं-

'विरदो सव्वसावज्जे तिगुत्तोपिहिदिंदिओ।
तस्स सामायिगं ठाइ इदि केदलिसासणे॥' (नि.गा.१२५)

अर्थात् जो सर्वसावद्य में विरत है, जो तीन गुप्ति वाला है और जिसने इन्द्रियों को निरुद्ध किया है उसे सामायिक स्थायी है ऐसा केवली के शासन में कहा गया है।

इस प्रकार लगातार आठ गाथाओं के माध्यम से आचार्य कुन्दकुन्द ने वास्तविक शाश्वत सामायिक का स्वरूप बतलाया है, जिसका संक्षिप्त

वर्णन निम्नानुसार है-

उसे सामायिक स्थायी (शाश्वत) है -

1. जो स्थावर अथवा त्रस सर्व जीवों के प्रति समभाव वाला है। (गा.126)
2. जो संयम में, नियम में और तप में आत्मा के समीप है। (गा.127)
3. जिसे राग या द्वेष विकृति उत्पन्न नहीं करता। (गा. 128)
4. जो आर्त्त या रौद्र ध्यान को नित्य वर्जता है। (गा. 129)
5. जो पुण्य तथा पाप रूप भाव को नित्य वर्जता है। (गा. 130)
6. जो हास्य, रति, अरति, शोक, जुगुप्सा, भय और सर्व वेद को नित्य वर्जता है। (गा.131-132)
7. जो धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान को नित्य ध्याता है। (गा. 133)

इस प्रकार सामायिक को परमसमाधि के साथ जोड़कर देखा गया है और शाश्वत सामायिक का लक्षण ही परमसमाधि किया गया है-

'परमसमाधि लक्षणं शाश्वतं सामायिकव्रतं भवतीति।' (गा.133, संस्कृत टीका)

जो इस समता परिणाम से रहित हैं उनको कोई लाभ नहीं होता इस बात को भी आचार्य कुन्दकुन्द इसी अधिकार में कहते हैं-

'किं काहदि वणवासो कायकलेसो विचित्त उववासो।
अज्झयमौणपहुदी समदारहियस्स समणस्स॥ (नि.गा. १२४)

अर्थात् वनवास, कायक्लेश रूप अनेक प्रकार के उपवास, अध्ययन, मौन आदि कार्य समता रहित श्रमण को क्या करते हैं? (क्या लाभ करते हैं?) अर्थात् कुछ नहीं करते।

प्राय: सामायिक पाठ तक ही सामायिक को सीमित मान लिया जाता है। अत: शाश्वत सामायिक के लक्षण रूप परमसमाधि को वचनोच्चारण की क्रिया से भी ऊपर उठकर देखने की बात कही गयी है-

'वयणोच्चारणकिरियं परिचत्ता वीयरायभावेण।
जो झायदि अप्पाणं परमसमाही हवे तस्स॥ (नि.गा.१२२)

अर्थात् वचनोच्चारण की क्रिया परित्याग कर वीतराग भाव से जो आत्मा को ध्याता है, उसे परमसमाधि है।

यद्यपि अशुभ से बचने के लिए वचनों के द्वारा स्तवनादि परम

जिन योगीश्वर को भी करने योग्य है, किन्तु परमार्थ से (निश्चय से) प्रशस्त-अप्रशस्त समस्त वचन सम्बन्धी व्यापार करने योग्य नहीं है। (नियम. गाथा 122 की संस्कृत टीका)

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने सामायिक आवश्यक के अन्तर्गत 'शाश्वत सामायिक' का स्वरूप समझाने का प्रयास किया है।

(२) चतुर्विंशति स्तव :

इस आवश्यक की खोज यदि आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में देखनी हो तो हमारी दृष्टि दशभक्ति संग्रह पर जाती है। जहाँ तीर्थंकर भक्ति सिद्धभक्ति, श्रुतभक्ति, चारित्र भक्ति, योगि भक्ति, आचार्य भक्ति, निर्वाण भक्ति, पंच परमेष्ठि भक्ति से सम्बन्धित गाथायें रची गयीं हैं।

तीर्थंकर भक्ति का पाठ प्रथम गाथा में इस प्रकार होता है-

थोस्सामि हं जिणवरे तित्थयरे केवली अणंतजिणे।
णरपवरलोयमहिए विहुयरयमले महप्पण्णे॥ गाथा-१॥

अर्थात् जो कर्मशत्रुओं को जीतने वालों में श्रेष्ठ हैं, केवलज्ञान से युक्त हैं, अनन्त-संसार को जीतने वाले हैं, लोकश्रेष्ठ चक्रवर्ती आदि जिनकी पूजा करते हैं, जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण नामक रजरूपी मल को दूर कर दिया है तथा जो महाप्राज्ञ (उत्कृष्ट ज्ञानवान्) हैं ऐसे तीर्थंकरों की स्तुति करूँगा। **स्तवनं स्तुतिः भजनं भक्तिः** इस व्युत्पत्ति के अनुसार उपासना को भक्ति कहते हैं। 'पूज्यानां गुणेष्वनुरागी भक्तिः' पूज्य पुरुषों के गुणों में अनुराग होना भक्ति है। यह भक्ति का वाच्यार्थ है।

मूलाचार में आचार्य वट्टकेर ने चतुर्विंशति स्तव का वर्णन करते समय जिनवर भक्ति से पूर्वसंचित कर्मों का क्षय हो जाता है- ऐसा कहा है- **'भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।**

(मूला. गाथा 7/68)39

नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने परम भक्ति अधिकार में भक्ति के वास्तविक स्वरूप को प्रकट किया है। वे प्रारम्भ में ही कहते हैं जो श्रावक या श्रमण रत्नत्रय की भक्ति करता है उसे निर्वृत्ति भक्ति (निर्वाण की भक्ति) है-

'सम्मत्तणाणचरणे जो भत्तिं कुणइ सावगो समणो।
तस्स दु णिव्वुदिभत्ती होदि त्ति जिणेहि पण्णत्तं॥ (नियम. १३४)

इस प्रकार परम भक्ति की अपेक्षा 'निर्वृत्ति भक्ति' अर्थात् निर्वाण भक्ति को सर्वोत्तम मानते हैं। तीर्थंकरों की भक्ति को वे व्यवहार से निर्वाणभक्ति कहते हैं-

'मोक्खंगयपुरिसाणं गुणभेदं जाणिऊण तेसिंपि।
जो कुणदि परमभत्तिं ववहारणएण परिकहियं॥'

जो जीव मोक्षगत पुरुषों का गुणभेद जानकर उनकी भी परमभक्ति करता है, उस जीव को व्यवहार नय से निर्वाणभक्ति कही है।

इसके साथ-साथ यहाँ पर आचार्य योगभक्ति को भी अति महत्त्वपूर्ण मानते हैं। चतुर्विंशतिस्तव में जो वचन रूप क्रिया है वह तो व्यवहार से है, किन्तु निश्चय से 'ऋषभादि महावीर पर्यन्त जो इन परमयोगियों ने जिस योग की उत्तम भक्ति करके निर्वृत्तिसुख को प्राप्त किया उस योग की उत्तम भक्ति को तू धारण कर- ऐसा अभिप्राय आचार्य यहाँ व्यक्त करते हैं-

'उसहादिजिणवरिंदा एवं काऊण जोगवरभत्तिं।
णिव्वुदिसुहभावण्णा तम्हा धरु जोगवरभत्तिं॥' (निय.गा.140)

विपरीत अभिनिवेशों का जो त्याग करके जैन कथित तत्त्वों में आत्मा को लगाता है, उसका निजभाव वह योग है। (नि.गा. 139) जो साधु रागादि के परिहार में आत्मा को लगाता है, सर्व विकल्पों के अभाव में आत्मा को लगाता है वह ही योगभक्ति वाला है। (नि.गा.137-138)

पञ्चास्तिकाय में आचार्य कुन्दकुन्द ने व्यवहार भक्ति को मोक्ष का साक्षात् कारण नहीं माना है। वे कहते हैं-

सपयत्थं तित्थयरं अभिगदबुद्धिस्स सुत्तरोइस्स।
दूरतरं णिव्वाणं संजमतवसंपओत्तस्स॥ (पञ्चा. 170)

अर्थात् जीव, अजीव आदि नवपदार्थों तथा तीर्थंकर आदि पूज्य पुरुषों में जिसकी भक्ति रूप बुद्धि लग रही है उसको मोक्ष बहुत दूर है, भले ही वह आगम का श्रद्धानी और संयम तथा तपश्चरण से युक्त क्यों न हो।

इतनी बड़ी बात कहने के तुरन्त बाद आचार्य यह भी कहते हैं कि जो अरहन्त, सिद्ध, जिनप्रतिमा और जिनशास्त्रों का भक्त होता हुआ उत्कृष्ट संयम के साथ तपश्चरण करता है वह नियम से देवगति ही प्राप्त करता है। (पञ्चा.गा. 171)

किन्तु जब मोक्ष का प्रश्न आता है तब वे यही कहते हैं कि जो पुरुष निष्परिग्रही और निर्मल होकर परमात्म स्वरूप में भक्ति करता है वह मोक्ष को प्राप्त होता है। (पञ्चा.गा. 169)

समयसार में भी स्तवन का प्रसंग है जो शुद्धदृष्टि से व्याख्यायित है। वहाँ आचार्य स्पष्ट कहते हैं कि जिस प्रकार नगर का वर्णन करने से राजा का वर्णन किया हुआ नहीं होता उसी प्रकार शरीर के गुणों का स्तवन होने पर केवली के गुण स्तुत नहीं होते (समय.गा.30)

शरीर के गुण का स्तवन निश्चय नय से ठीक नहीं है, क्योंकि शरीर के गुण केवली के गुण नहीं हैं। जो केवली के गुणों की स्तुति करता है वही यथार्थ में केवली की स्तुति करता है।

तं णिच्छये ण जुंजदि ण सरीरगुणा हि होंति केवलिणो।
केवलिगुणे थुणदि जो सो तच्चं केवलिं थुणदि॥ (समय.गा.29)

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने द्वितीय आवश्यक का वास्तविक स्वरूप व्याख्यायित किया है।

(३) वंदन :

इस तृतीय आवश्यक को लेकर आचार्य कुन्दकुन्द काफी गम्भीर हैं। आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार में जहाँ एक तरफ वन्दना के भेद प्रभेद प्रक्रिया आदि का व्यवस्थित बाह्य रूप दिखाया है, वहीं आचार्य कुन्दकुन्द ने वंदना किसे करें और क्यों करें, किसे ने करें? और क्यों न करें? इसका विवेचन अष्टपाहुड में विभिन्न गाथाओं के माध्यम से किया है। मूलाचार में भी पार्श्वस्थ मुनियों की वन्दना का निषेध है (मू.गा. 7/93) और कहा है कि-

'समणं वंदेज्ज मेधावी संजदं सुसमाहिदं।
पंचमहव्वदकलिदं असंजमदुगंछयं धीरं॥'

अर्थात् असंयम से रहित, महाव्रतों से सहित, धीर तथा एकाग्रचित

वाले संयत मुनि की वन्दना करो।

यहाँ हम आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में इस प्रकरण को देखेंगे। उन्होंने वन्दनीय और अवन्दनीय का किस प्रकार विवेचन किया है।

वन्दनीय :

आचार्य कुन्दकुन्द ने किन साधुओं की वन्दना करनी चाहिए उसकी चर्चा करते हुए सूत्रपाहुड में लिखा है-

पंचमहव्वयजुत्तो तिहिं गुत्तिहिं जो स संजदो होई।
णिग्गंथमोक्खमग्गो सो होदि हु वंदणिज्जो य॥ (सूत्रपाहुड-20)

जो पाँच महाव्रत और तीन गुप्तियों से सहित है वही संयत-संयमी मुनि होता है और जो निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग को मानता है वही वन्दना करने योग्य है।

बोधपाहुड में वे कहते हैं -

जे चरदि सुद्धचरणं जाणइ पिच्छेइ सुद्धसम्मत्तं।
सा होइ वंदणीया णिग्गंथा संजदा पडिमा॥ (बोधपाहुड-११)

जो निरतिचार चारित्र का पालन करते हैं, जिनश्रुत को जानते हैं, अपने योग्य वस्तु को देखते हैं तथा जिसका सम्यक्त्व शुद्ध है, ऐसे मुनियों का निर्ग्रन्थ शरीर जंगम प्रतिमा है। वह वन्दना करने योग्य है। प्रवचनसार में गुणाधिक मुनियों के प्रति कैसी प्रवृत्ति होनी चाहिए यह कहते हैं-

दिट्ठा पगदं वत्थू अब्भुट्ठाणप्पधारणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वोत्ति उवदेसो॥ (प्रव.गा.3/61)

अर्थात् निर्ग्रन्थ रूप से धारक उत्तम पात्र को देखकर जिनमें उठकर खड़े होने की प्रधानता है ऐसी क्रियाओं से प्रवृत्ति करना चाहिए, क्योंकि गुणों के द्वारा आदर विनयादि विशेष करना योग्य है ऐसा अरिहन्त भगवान् का उपदेश है।

आगे इस वन्दना की प्रक्रिया का भी वर्णन करते हुए कहते हैं कि इस लोक में निश्चय पूर्वक अपने से अधिक गुण वाले महापुरुषों के लिए उठकर खड़े होना, आइये-आइये आदि कहकर अंगीकार करना, समीप में बैठकर सेवा करना, अन्नपानादि की व्यवस्था कराकर पोषण करना, गुणों की प्रशंसा करते हुए सत्कार करना, विनय से हाथ जोड़ना तथा नमस्कार

करना योग्य कहा है।

'अब्बुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं।

अंजलिकरणं पणमं भणिदं इह गुणाधिगाणं हि।।' (प्रवच.गा.3/62)

तथा आगे कहते हैं जो आगम के अर्थ में निपुण हैं तथा संयम तप और ज्ञान से सहित हैं ऐसे मुनि ही निश्चय से अन्य मुनियों के द्वारा उठकर खड़े होने योग्य, सेवा करने योग्य तथा वन्दना करने योग्य हैं-

'अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उपासेया।

संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं।। (प्रवच.गा.3/63)

दर्शन पाहुड में यह भी कहा कि जो गुणी मनुष्यों के गुण का वर्णन करते हैं वे वन्दनीय हैं-

दंसणणाणचरित्ते तवविणये णिच्चकालं सुपसत्था।

एदे दु वंदणीया जे गुणवादी गुणधराणं।। (दंसणपाहुड-23)

जो मुनि दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तपो विनय में सदा लीन रहते हैं तथा अन्य गुणी मनुष्यों के गुणों का वर्णन करते हैं वे वन्दनीय हैं, नमस्कार करने के योग्य हैं।

आगे वे तपस्वियों को वन्दनीय कहते हैं-

वंदामि तव समण्णा सीलं च गुणं च बंभचेरं च।

सिद्धिगमणं च तेसिं सम्मत्तेण सुद्धभावेण।। (दर्शनपाहुड-28)

मैं उन मुनियों को नमस्कार करता हूँ जो तप से सहित हैं। साथ ही उनके शील को, गुण को, ब्रह्मचर्य को और मुक्तिप्राप्ति को भी सम्यक्त्व तथा शुद्धभाव से वन्दना करता हूँ।

अवन्दनीय :

आचार्य कुन्दकुन्द मोक्षपाहुड में मिथ्यादृष्टि जीव की मान्यता बतलाते हुए कहते हैं-

सपरावेक्खं लिंगं राई देवं असंजयं वंदे।

माणइ मिच्छादिट्ठी ण हु मण्णइ सुद्धसम्मत्तो।। (मोक्षपाहुड-93)

स्व और पर की अपेक्षा से सहित लिङ्ग को तथा रागी और असंयत देव की वन्दना करता हूँ। ऐसा मिथ्यादृष्टि जीव मानता है, शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव नहीं।

दर्शन पाहुड में वे स्पष्ट कहते हैं-

'असंजदं ण वंदे वच्छविहीणोवि सो ण वंदिज्ज।' (दंसण-26)

अंसयंमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए और जो वस्त्र रहित होकर भी असंयमी है वह भी नमस्कार के योग्य नहीं है।

जो सम्यग्दर्शन से रहित है उसकी वन्दना नहीं करना चाहिए-

'दंसणहीणो ण वंदिव्वो' (दर्शनपाहुड-2)

यह तो आचार्य कुन्दकुन्द की स्पष्ट आज्ञा है, किन्तु हम जैसे अधिकांश कहीं लाज के करण, कहीं भय के कारण या कहीं झूठे सम्मान के लिए अन्यत्र भी वन्दना करने लगते हैं। उसके लिए आचार्य कहते हैं-

कुच्छियदेवं धम्मं कुच्छियलिंगं च वंदए जो दु।
लज्जाभयगारवदो मिच्छादिट्ठी हवे सो हु॥

(मो.पाहुड-92)

जो लज्जा, भय और गारव से कुत्सित देव, कुत्सित धर्म और कुत्सित लिङ्ग की वन्दना करता है, वह मिथ्यादृष्टि होता है।

वंदना के सन्दर्भ में उनका स्पष्ट मानना है-

ण वि देहो वंदिज्जिइ ण वि य कुलो ण वि य जाइसंजुतो।
को वंदामि गुणहीणो ण हु सवणो णेव सावओ होइ॥

(दंसणपाहुड-27)

न शरीर की वंदना की जाती है, न कुल की वन्दना की जाती है, किस गुणहीन की वंदना करूँ? क्योंकि गुणहीन मनुष्य न मुनि है और न श्रावक ही है।

गुणवान् को गुणहीन की वन्दना नहीं करना चाहिए- इस अभिप्राय को प्रवचनसार में इस प्रकार कहा है-

'अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता हवंति पब्भट्टचारित्ता॥' (प्र.3/67)

अर्थात् जो मुनि, मुनि पद में स्वयं अधिक गुणवाले होकर गुणहीन मुनियों के साथ वन्दनादि क्रियाओं में प्रवृत्त होते हैं अर्थात् उन्हें नमस्कारादि करते हैं वे मिथ्यात्व से युक्त तथा चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।

इस प्रकार अनेक संदर्भ और भी वन्दना आवश्यक के भेद-प्रभेदों के सन्दर्भ में आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में खोजे जा सकते हैं। यहाँ प्रमुखता से ही विषय को प्रस्तुत किया गया है।

(४) प्रतिक्रमण :

यह चतुर्थ आवश्यक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आचार्य कुन्दकुन्द ने नियमसार में परमार्थ प्रतिक्रमण अधिकार की रचना की है। वे कहते हैं कि 'भेदाभ्यास होने पर जीव मध्यस्थ हो जाता है इसलिए चारित्र होता है। उसी चारित्र को दृढ़ करने के निमित्त से मैं प्रतिक्रमणादि कहूँगा। (नियम. गाथा-82)

व्यवहार में प्रतिक्रमण का क्या स्वरूप है? उसका वर्णन तो आचार्य वट्टकेर 'मूलाचार' में करते ही हैं। अतः आचार्य कुन्दकुन्द अपनी रचनाओं में 'परमार्थ प्रतिक्रमण' अर्थात् निश्चय प्रतिक्रमण का स्वरूप इसीलिए बताने का प्रयत्न करते हैं, क्योंकि उसके बिना व्यवहार प्रतिक्रमण भी कार्यकारी नहीं होता है।

प्रतिदिन किये जाने वाले वचनमय प्रतिक्रमण से ऊपर उठने की चर्चा वे करते हैं-

मोत्तूणवयणरयणं रागादीभाववारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि तस्स दु होदित्ति पडिकमणं।। (नियम.83)

अर्थात् वचन रचना को छोड़कर रागादि भावों का निवारण करके जो आत्मा को ध्याता है, उसे प्रतिक्रमण होता है। इसी प्रकार आगे की गाथाओं में निम्नलिखित प्रकार से वर्णन है-

वह जीव प्रतिक्रमणमय होने से प्रतिक्रमण कहलाता है-

(1) जो विराधन को विशेषतः छोड़कर आराधना में वर्तता है। (नि.84)
(2) जो अनाचार छोड़कर आचार में स्थिर भाव करता है। (निय.85)
(3) जो उन्मार्ग को छोड़कर जिनमार्ग में स्थिर भाव करता है।(नि.86)
(4) जो साधु शल्यभाव छोड़कर निःशल्य भाव से परिणमित होता है। (नियम.87)
(5) जो साधु अगुप्तिभाव छोड़कर त्रिगुप्तिगुप्त रहता है। (नियम.88)
(6) जो आर्त्त रौद्र ध्यान छोड़कर धर्म अथवा शुक्लध्यान को ध्याता है।

(नि.89)
(7) जो मिथ्यादर्शनज्ञानचारित्र निरवशेष रूप से छोड़कर रत्नत्रय भाता है। (नियम.90)

आगे आचार्य कहते हैं कि ध्यान में लीन साधु सर्वदोषों का त्याग करते हैं इसलिए ध्यान ही वास्तव में सर्व अतिचार का प्रतिक्रमण है। (नि. गाथा-93)

समयसार के अनुसार पूर्व काल में किये हुए शुभाशुभ अनेक विस्तार विशेष को लिये हुए जो ज्ञानावरणादि कर्म हैं उनसे जो जीव अपने आत्मा को छुड़ाता है वह प्रतिक्रमण है। (समयसार गा. 383)

सम्भवतः आचार्य यह समझाना चाह रहे हैं कि मात्र वचनों से प्रतिक्रमणसूत्र का पाठ पढ़ने से कुछ नहीं होगा, उसकी भावना भी भानी चाहिए तभी वास्तविक प्रतिक्रमण होता है। वे स्पष्ट कहते हैं-

पडिकमणणामधेये सुत्ते जह वण्णिदं पडिक्कमणं।
तह णच्चा जो भावइ तस्स तदा होदि पडिक्कमणं॥ (नि.गा.94)

अर्थात् प्रतिक्रमण नामक सूत्र में जिस प्रकार प्रतिक्रमण कहा गया है तदनुसार जानकर जो भाता है उसे तब प्रतिक्रमण होता है।

(५) आलोचना :

आचार्य वट्टकेर ने प्रतिक्रमण के अन्तर्गत ही आलोचना भी ली है। नियमसार में 'परम आलोचना अधिकार' के अन्तर्गत आलोचना का वास्तविक स्वरूप समझाया है। आचार्य कहते हैं-

णोकम्म कम्म रहियं विहावगुणज्जएहिं वदिरित्तं।
अप्पाणं जो झायदि समणस्सालोयणं होदि॥ (नि.गा.107)

अर्थात् जो नोकर्म और कर्म से रहित तथा विभाव गुण पर्यायों से भिन्न आत्मा का ध्यान करता है उस साधु के आलोचना होती है। आलोचना का चार प्रकार का लक्षण बतलाते हुए कहते हैं-

आलोयणमालुंछणवियडीकरणं च भावसुद्धी य।
चउविहमिह परिकहियं आलोयणलक्खणं समए॥ (नि.गा.108)

अर्थात् आलोचन, आलुञ्छन, अविकृतिकरण और भावशुद्धि इस

तरह आगम में आलोचना का लक्षण चार प्रकार का कहा गया है।

आलोचन जो जीव अपने परिणाम को समभाव में स्थापित कर अपने आत्मा को देखता है, उसके वीतराग स्वभाव का चिन्तन करता है वह आलोचन है। (नियमसार गाथा 108)

आलुञ्छन कर्म रूप वृक्ष का मूलच्छेद करने में समर्थ, स्वाधीन, समभाव रूप जो अपना परिणाम है वह आलुञ्छन है। (नियमसार गाथा 110)

अविकृतिकरण जो मध्यस्थ भावना में कर्म से भिन्न तथा निर्मलगुणों के निवास स्वरूप आत्मा की भावना करता है उसकी वह भावना अविकृतिकरण है। (नि.गाथा 111)

भावशुद्धि भव्य जीवों का मद, मान और लोभ से रहित जो भाव है वह भावशुद्धि है। (नियमसार गाथा 112)

समयसार के सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में आचार्य कहते हैं कि अनेक विस्तार विशेष को लिए जो शुभाशुभ कर्म वर्तमान में उदय को प्राप्त है, दोष स्वरूप उस कर्म को जो ज्ञानी अनुभवता है- उससे स्वामित्वभाव को छोड़ता है वह निश्चय से आलोचना है-

जं सुहमसुहमुदिण्णं संपडि य अणेयवित्थरविसेसं।
तं दोसं जो चेयइ सो खलु आलोयणं चेया॥ (समय.गा.385)

(५) प्रत्याख्यान :

प्रत्याख्यान का वर्णन नियमसार में आचार्य कुन्दकुन्द ने 'निश्चय प्रत्याख्यानाधिकार' में किया है। यहाँ पुनः वे वचन जाल से ऊपर उठने की बात कह रहे हैं। वे कहते हैं कि 'जो समस्त वचन काल को छोड़कर तथा आगामी शुभ अशुभ का निवारण कर आत्मा का ध्यान करता है उसके प्रत्याख्यान होता है'-

मोत्तूण वयणजप्पमणागयसुहवारणं किच्चा।
अप्पाणं जो झायदि पच्चक्खाणं हवे तस्स॥ (नि.95)

फिर वे प्रत्याख्यान की आन्तरिक प्रक्रिया क्या है? आत्मा का ध्यान किस प्रकार किया जाता है? उसका वर्णन करते हैं। फिर अन्त में निश्चय प्रत्याख्यान का अधिकारी कौन है? इसका व्याख्यान करते हुए कहते हैं कि 'जो निष्कषाय है, इन्द्रियों का दमन करने वाला है, समस्त

परीषहों को सहन करने में शूरवीर है, उद्यमशील है तथा संसार के भय से भीत है उसी के सुखमय प्रत्याख्यान (निश्चय) होता है। (नि.गा.105)

इस प्रकार जो निरन्तर जीव और कर्म के भेद का अभ्यास करता है वह संयत साधु नियम से प्रत्याख्यान धारण करने को समर्थ है। (नि. गा.106)

समयसार में तो आचार्य कहते हैं कि ज्ञान ही प्रत्याख्यान है-

सव्वे भावा जम्हा पच्चक्खाई परेत्ति णादूणं।
तम्हा पच्चक्खाणं णाणं णियमा मुणेयव्वं।। (समय.34)

अर्थात् ज्ञानी जीव अपने सिवाय समस्त भावों को पर है ऐसा जानकर छोड़ता है इसलिए ज्ञान को ही नियम से प्रत्याख्यान जानना चाहिए।

इसको समझाने के लिए आचार्य एक दृष्टान्त देते हैं- 'जिस प्रकार कोई पुरुष 'यह परद्रव्य है' ऐसा जानकर उसे छोड़ देता है उसी प्रकार ज्ञानी जीव समस्त परभावों को यह पर हैं ऐसा जानकर छोड़ देता है। (समय.गाथा-35)

आगे सर्वविशुद्धज्ञानाधिकार में आचार्य कहते हैं कि जिस भाव के होने पर जो शुभाशुभ कर्म भविष्य में बँधने वाले हैं उनसे जो ज्ञानी निवृत्त होता है वह प्रत्याख्यान है। (समय.गाथा 384)

(६) कायोत्सर्ग :

कायोत्सर्ग की चर्चा नियमसार में 'शुद्धनिश्चय प्रायश्चिताधिकार' में की गयी है। वहाँ आचार्य कहते हैं जो शरीर आदि पर द्रव्य में स्थिरभाव को छोड़कर निर्विकल्प रूप से आत्मा का ध्यान करता है उसके कायोत्सर्ग होता है। (गाथा 121) कायोत्सर्ग का विशेष निरूपण इसी की संस्कृत टीका में आचार्य पद्मप्रभमलधारी देव ने किया है। मूलाचार ने कायोत्सर्ग के लिए विसर्ग[14] तथा व्युत्सर्ग[15] शब्दों का भी प्रयोग किया है।

देवस्सियणियमादिसु जहुत्तमाणेण उत्तकालम्हि।
जिणगुणचिंतणजुत्तो, काउसग्गो तणुविसग्गो।। मूलाचार 1/28

दैवसिक, रात्रिक, पाक्षिक, चातुर्मासिक और सांवत्सरिक आदि अर्हत्प्रणीत कालप्रमाण के अनुसार अर्थात् जिस जिस काल में जितना-

जितना कायोत्सर्ग कहा गया है उस काल का अतिक्रमण किये बिना यथोक्त काल तक जिनेन्द्र भगवान् का चिन्तन करते हुए शरीर में ममत्व त्याग विसर्ग या कायोत्सर्ग कहलाता है।

इस प्रकार और भी अनेक स्थलों पर आचार्य कुन्दकुन्द के साहित्य में इस विषय को अधिक गहराई से खोजा जा सकता है।

संदर्भ :

1. पाइअ-सद्द-महण्णवो, पृ.83
2. नियमसार, 141
3. 'ण वसो अवसो अवसस्सकम्ममावस्सयंति बोधत्वा।'
4. नियमसार गाथा-4 टीका
5. नियमसार गाथा 146
6. नियमसार गाथा 146 की टीका
7. टीका श्लोक सं. 253
8. नियमसार गाथा 149
9. स्ववशे जीवन्मुक्त : किंचिन्न्यूनो जिनेश्वरदोष। श्लोक-243
10. नियमसार गाथा 143
11. वही, गाथा 144
12. वही, गाथा 145
13. 'यावच्चिन्तास्ति जन्तूनां तावभवति संसृतिः। टीका श्लोक-246)
14. मूलाचार 1/22
15. वही 7/11

- श्री लालबहादुर शास्त्री रा. संस्कृत विद्यापीठ,
कुतुब इंस्टीट्यूशनल एरिया,
नई दिल्ली-110016

मूकमाटी की अर्थदृष्टि

-श्रीमती उर्मिला चौकसे

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज के द्वारा विरचित अनुपम महाकाव्य है 'मूकमाटी'। इसमें आत्म-परमात्म, लोक-अलोक, पुण्य-पाप, धर्म-कर्म, दर्शन-प्रदर्शन, राष्ट्र-समाज, उत्थान-पतन, चाल-चलन, भाग्य-पुरुषार्थ, वाद-विचार, व्यष्टि-समष्टि, रूप-स्वरूप, हिंसा-अहिंसा, सत्य-असत्य, स्तेय-अस्तेय, ब्रह्म-अब्रह्म, परिग्रह-अपरिग्रह, अर्थ-परमार्थ आदि पर सम्यक्-रीत्या विवेचन किया गया है। ऐसा माना जाता है कि आधुनिक युग अर्थ का है और मेरा मानना है कि हर युग में अर्थ प्रभावी रहा है; तभी तो संस्कृत नीतिकारों ने कहा कि-''सर्वेगुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति।''

आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने 'मूकमाटी' में अर्थ के अनेक पक्षों को समाहित किया है। कुछ इस प्रकार हैं-

पूंजी निवेश- ऐसा माना जाता है कि यदि अर्थ को बढ़ाना है तो अर्थ का निवेश करो। सही समय पर किया गया सही निवेश यथेष्ट फलदायी होता है। 'मूकमाटी' में वे बड़ के बीज का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि यदि उसे समय पर खाद-पानी मिले तो एक दिन विशाल वटवृक्ष बन जाता है। उनका कथन इस प्रकार है-

सत्ता शाश्वत होती है, बेटा!
प्रति सत्ता में होती हैं/अनगिन सम्भावनायें
उत्थान पतन की/खसखस के दाने-सा
बहुत छोटा होता है/बड़ का बीज वह!
समुचित क्षेत्र में इसका वपन हो
समयोचित खाद; हवा, जल/उसे मिलें
अंकुरित हो, कुछ ही दिनों में/विशाल काय धारण कर
वट के रूप में अवतार लेता है/ यही इसकी महत्ता है।[१]

इस प्रसंग से यदि अर्थ निवेश का सम्बन्ध जोड़ा जाए तो ज्ञात होता है कि संक्षिप्त पूंजी निवेश से भी भविष्य में पूंजी को बढ़ाया जा सकता है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि अनुकूल अवसर की प्रतीक्षा करो लेकिन 'मूकमाटी' के रचयिता अपने अनुभव से कहते हैं कि-

किसी कार्य को सम्पन्न करते समय
अनुकूलता की प्रतीक्षा करना
सही पुरुषार्थ नहीं है।[२]

कुटीर उद्योग से अर्थ प्राप्ति- 'मूकमाटी' में आचार्य श्री विद्यासागर कुम्भकार के द्वारा घट निर्माण के विषय में बताते हुए दो बातों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हैं 1. शिल्पी से सरकार कोई 'कर' नहीं मांगती। अत: शिल्पी चोरी के दोष से मुक्त रहता है। 2. वह अर्थ का अपव्यय नहीं करता, व्यय भी नहीं करता (यह उस समय की बात है जब मिट्टी बिना मोल मिलती थी)। 'मूकमाटी' में इस भाव को इस रूप में व्यक्त किया गया है-

वह एक कुशल शिल्पी है/उसका शिल्प/कण-कण में रूप में
बिखरी माटी को/नाना रूप प्रदान करता है/
सरकार उससे/कर नहीं मांगती/ क्योंकि/
इस शिल्प के कारण/चोरी के दोष से
वह सदा मुक्त रहता है।

अर्थ का अपव्यय तो/बहुत दूर/अर्थ का व्यय भी
यह शिल्प करता नहीं/बिना अर्थ/शिल्पी को यह
अर्थवान बना देता है/युग के आदि से आज तक
इसने/अपनी संस्कृति को/विकृत नहीं बनाया[३]**।**

अर्थहीन की ओर अर्थ दृष्टि- आचार्य श्री विद्यासागर जी 'मूकमाटी' में माटी के माध्यम से कहलवाते हैं कि यह -

अमीरों की नहीं/गरीबों की बात है
कोठी की नहीं/कुटिया की बात है[४]

इससे स्पष्ट हो रहा है कि 'मूकमाटी' के रचयिता की अर्थदृष्टि अर्थहीनों के आर्थिक समुन्नयन की ओर है। यह उचित भी है, क्योंकि कोई

भी राष्ट्र तब तक आर्थिक रूप से सम्पन्न नहीं हो सकता जब तक वहाँ के अर्थहीन-गरीबजन आर्थिक रूप से सम्पन्न न हों। इससे एक साहित्य सर्जक की संवेदना और सहानुभूति भी गरीबों के पक्ष में दिखाई देती है।

जीवन दृष्टि- आर्थिक आत्मनिर्भरता के लिए मानव जीवन में सही दृष्टि की आवश्यकता होती है। 'मूकमाटी' में कहा गया है कि-

जीवन का निर्वाह नहीं
निर्माण होता है[5]

जीवन निर्माण के लिए असि, मसि, कृषि, शिल्प, विद्या और वाणिज्य, इन षट्कर्मों को उपयोगी माना गया है। कुछ ऐसे ही सूत्रों का उल्लेख 'मूकमाटी' में किया गया है।

खनिज सम्पदा का उपयोग- राष्ट्र एवं समाज की उन्नति के लिए खनिज सम्पदाओं का दोहन कर उपयोग करने की परम्परा रही है, किन्तु इनका अतिदोहन नुकसानदेह होता है। धरती हमारे लिए सबसे बड़ी खनिज स्रोत है, जल भंडार भी; किन्तु आज स्थिति यह है कि-

यह धरती धरा रह गई
न ही वसुंधरा रही न वसुधा।[6]

अतिवृष्टि भी हानिकर होती है, क्योंकि वह धरती के वैभव को बहा ले जाती है।[7]

चोरी निंद्य आचरण- 'मूकमाटी' का रचयिता अस्तेय महाव्रती है। अतः उसका विश्वास है कि चोरी निंद्यकर्म है। जो लोग यह मानते हैं कि चोरी करके अर्थ सम्पन्न बना जा सकता है वे भ्रमित हैं, धर्म, समाज एवं कानून की दृष्टि में अपराधी हैं। धर्म कहता है कि जो परसम्पदा का हरण करता है वह नरक में जाता है। 'मूकमाटी' में कहा गया है कि-

पर-सम्पदा की ओर दृष्टि जाना/ अज्ञान को बताता है
और/पर-सम्पदा हरण कर संग्रह करना
मोह-मूर्च्छा का अतिरेक है/यह अति निम्न-कोटी का कर्म है
स्व-पर को सताना है/नीच-नरकों में जा जीवन बिताना है।[8]

अर्थ और परमार्थ- 'मूकमाटी' का विचार है कि अर्थ से परमार्थ को साधना चाहिए। नीतिकारों ने लिखा है कि-

विद्या ददाति विनयं, विनयाद्याति पात्रताम्।
पात्रत्वाद् धनमाप्नोति, धनाद्धर्मः ततः सुखम्।।

अर्थात् विद्या विनय देती है, विनय से पात्रता (योग्यता) आती है, पात्रता से धन की प्राप्ति होती है। धन से धर्म और धर्म से सुख की प्राप्ति होती है।

इससे स्पष्ट है कि यदि धन है तो वह धर्म के लिए उपयोगी होना चाहिए, लेकिन जिनके मन में मात्र धन ही समाया रहता है वे धर्म को प्राप्त नहीं कर सकते। जो अर्थ के प्रति अत्यधिक लोभ-लालच रखते हैं, वे निर्लज्ज हो जाते हैं। 'मूकमाटी' में कवि कहता है कि-

यह कटु सत्य है कि/अर्थ की आँखें
परमार्थ को देख नहीं सकतीं/अर्थ की लिप्सा ने
बड़ों-बड़ों को निर्लज्ज बनाया है।[९]

जब से राष्ट्र में भौतिकवाद का ज्वार आया है तब से हर व्यक्ति का अर्थ ज्वर बढ़ गया है। हमें सादगी का जीवन जीना चाहिए, स्वाश्रित जीवन जीना चाहिए; यह मानो भूल गये हैं ।

'मूकमाटी' में स्त्री पक्ष की ओर दृष्टिपात करते हुए उनके द्वारा तन संरक्षण हेतु धर्म और धन संवर्द्धन हेतु शर्म बेचे जाने को उचित नहीं माना है तथा इस पर चिंता व्यक्त की है। 'मूकमाटी' में प्रश्न उठाया गया है कि-

क्या तन संरक्षण हेतु/धर्म ही बेचा जा रहा है ?
क्या धन संवर्धन हेतु/ शर्म ही बेची जा रही है ?
स्त्री-जाति की कई विशेषताएं हैं/
जो आदर्श रूप हैं पुरुष के सम्मुख।[१०]

अर्थ पुरुषार्थ की प्रेरणा- आचार्य श्री की दृष्टि में धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ से गृहस्थ जीवन की शोभा होती है। गृहस्थ रूपी गाड़ी के दो पहिये होते हैं- पुरुष और स्त्री (पति-पत्नी)। भारतीय समाज में पुरुष को अर्थ पुरुषार्थकारी माना गया है। वह अपने अर्जित अर्थ को समुचित वितरण के लिए स्त्री को देता है। इस तरह अर्थ में दोनों की सहभागिता होती है। **'मूकमाटी'** में वे लिखते हैं कि-

धर्म अर्थ और काम पुरुषार्थ से गृहस्थ जीवन शोभा पाता है।
संग्रहवृत्ति और अपव्यय रोग से/ पुरुष को बचाती है सदा,
अर्जित अर्थ का समुचित वितरण करके।[11]

आचार्य श्री ने स्त्री शब्द का महिमामय अर्थ करते हुए कहा है कि-

'स' यानी सम-शील संयम
'त्री' यानी तीन अर्थ है
धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ में
पुरुष को कुशल संयम बनाती है
सो..........स्त्री कहलाती है।[12]

धन, धनिक और निर्धन की स्थिति- 'मूकमाटी' में शब्दों में निहित अर्थ की प्रसिद्धि की गयी है। हमें 'मूकमाटी' में रचयिता के शब्दशास्त्री होने का पदे-पदे ज्ञान होता है। वे धन, धनिक और निर्धन की स्थिति बताते हुए बड़ी मौलिक बात कहते हैं कि धन का स्वयं में कोई मूल्य नहीं है, उसका जीवन पराश्रित है फिर भी व्यक्ति धन के अभाव में स्वयं को निर्धन और धन सम्पन्नता होने पर स्वयं को विषयान्ध और मदान्ध बना लेता है। वे लिखते हैं कि-

स्वर्ण का मूल्य है/ रजत का मूल्य है
कण हो या मन हो/ प्रति पदार्थ का मूल्य होता ही है/परन्तु
धन का अपने आप में मूल्य/कुछ भी नहीं है।
मूलभूत पदार्थ ही/मूल्यवान होता है।
धन कोई मूलभूत वस्तु है ही नहीं
धन का जीवन पराश्रित है पर के लिए है, काल्पनिक।
हाँ! हाँ!!
धन से अन्य वस्तुओं का/मूल्य आंका जा सकता है
वह भी आवश्यकतानुसार, कभी अधिक कभी हीन
और कभी औपचारिक/ और यह सब
धनिकों पर आधारित है/धनिक और निर्धन/ये दोनों
वस्तु के सही-सही मूल्य को स्वप्न में भी नहीं आँक सकते,

कारण/धनहीन, दीनहीन होता है प्राय:
और/धनिक वह/विषयान्ध मदाधीन!![१३]

उक्त कथन के पीछे भाव यह है कि व्यक्ति को आवश्यकताओं के अनुरूप धन का अर्जन करना चाहिए, क्योंकि धन पाकर विषयान्ध और मदान्ध नहीं होना चाहिए।

आचार्य श्री यह भी कहते हैं कि जब तक व्यक्ति में सात्त्विक संस्कार न हों तब तक वह अर्थ आदि का सहयोग मिलने पर भी उच्च स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता। वे लिखते हैं कि-

यह ध्यान रहे/शारीरिक आर्थिक शैक्षणिक आदि
सहयोग मात्र से/नीच बन नहीं सकता उच्च
इस कार्य का सम्पन्न होना/सात्त्विक संस्कार पर आधारित है।[१४]

अशांतिकारक पूंजीवाद- 'मूकमाटी' में पूंजीवाद को अशांति का अंतहीन सिलसिला बताया है। महाकवि स्वर्णकलश के माध्यम से कहता है कि-

परतंत्र जीवन की आधारशिला हो तुम,
पूंजीवाद के अभेद्य दुर्गम किला हो तुम
और/अशान्ति के अन्तहीन सिलसिला।[१५]

इसीलिए वे पूंजीवादियों को स्वर्णकलश के माध्यम से कृतज्ञ बनने की सलाह देते हुए कहते हैं-

हे स्वर्ण कलश!
एक बार तो मेरा कहना मानो/
कृतज्ञ बनो इस जीवन में।[१६]

'मूकमाटी' में विलासिता की अवधारणा को तामसता भरी धारणा माना है और इसे समाजवाद के विरुद्ध माना है। वे लिखते हैं-

स्वागत मेरा हो/मनमोहक विलासितायें
मुझे मिलें अच्छी वस्तुएं/ऐसी तामसता भरी धारणा है तुम्हारी
फिर भला बता दो हमें/आस्था कहाँ है, समाजवाद में तुम्हारी?
सबसे आगे मैं/ समाज बाद में![१७]

धनिकों की दूषित सोच पर चोट- 'मूकमाटी' में मच्छर के माध्यम से

धनिकों के दूषित सोच पर चोट करते हुए कहा है कि-"अरे, धनिकों का धर्म दमदार होता है। उनकी कृपा कृपणता पर होती है, उनके मिलने से कुछ मिलता नहीं/ काकतालीय न्याय से/कुछ मिल भी जाय/वह मिलन लवण-मिश्रित होता है/ पल में प्यास दुगुनी हो उठती है।"[18]

जिन्हें धन का लोभ होता है; ऐसे व्यक्ति सामाजिक संस्कारों को भी अपनी धनलिप्सा पूर्ति का माध्यम बना लेते हैं। जैसे पाणिग्रहण संस्कार में दहेज की मांग। लोभी व्यक्ति अपने सेवकों से भी अनुचित सेवा करवाते हैं, वेतन भी उचित नहीं देते। यदि उन्हें कुछ देना भी पड़ता है तो इसमें भी उनकी दुर्भावना साफ दिखाई देती है। 'मूकमाटी' में आचार्य श्री कहते हैं कि-

सन्तों ने पाणिग्रहण संस्कार को/धार्मिक संस्कृति का
संरक्षक एवं उन्नायक माना है, परन्तु खेद है कि/
लोभी पापी मानव/ पाणिग्रहण को भी
प्राण ग्रहण का रूप देते हैं/ प्रायः अनुचित रूप से
सेवकों से सेवा लेते हैं और/
वेतन का वितरण भी अनुचित ही।
ये अपने को बताते/मनु की सन्तान!/महामना मानव!
देने का नाम सुनते ही/इनके उदर हाथों में
पक्षाघात के लक्षण दिखने लगते हैं,
फिर भी एकाध बूँद के रूप में/जो कुछ दिया जाता
या देना पड़ता/वह दुर्भावना के साथ ही।[१९]

अर्थ ही सबकुछ नहीं- वर्तमान में ऐसा माना जाता रहा है जैसे सभी कार्यों का एक ही लक्ष्य है- अर्थ का संकलन। यह सोच उचित नहीं है। आचार्य श्री कला का अर्थ; जो आत्मा को सुख देता है वैसा कार्य मानते हैं। मात्र अर्थ के लिए आजीविका भी उचित नहीं है क्योंकि कला से सुख मिलता है न अर्थ में सुख है, न अर्थ से सुख है। वे लिखते हैं-

सकल-कलाओं का प्रयोजन बना है/केवल
अर्थ का आकलन-संकलन।/आजीविका से ......
जीभिका सी गन्ध आ रही है/नासा अभ्यस्त हो चुकी है

और/ इस विषय में खेद है/ आँखें कुछ कहती नहीं/
किस शब्द का क्या अर्थ है, यह कोई अर्थ नहीं रखता
अब!/कला शब्द स्वयं कह रहा कि
'क' यानी आत्मा-सुख है/'ला' यानी लाना-देता है
कोई भी कला हो/कला मात्र से जीवन में
सुख-शान्ति-सम्पन्नता आती है/
न अर्थ में सुख है, न अर्थ से सुख।[20]

इसलिए जरूरी है कि-

"अब धनसंग्रह नहीं, जनसंग्रह करो! और लोभ के वशीभूत हो / अंधाधुन्ध संकलित का समुचित वितरण करो/अन्यथा/ धनहीनों में/ चोरी के भाव जागते हैं, जागे हैं।[21]

आचार्य श्री का स्पष्ट मानना है कि अतिधनसंचय की प्रवृत्ति के कारण चोरों का जन्म होता है। वे लिखते हैं कि-

चोर इतने पापी नहीं होते जितने कि
चोरों को पैदा करने वाले।
तुम स्वयं चोर हो चोरों को पालते हो
और चोरों के जनक भी।[22]

आय-व्यय के बीच सन्तुलन- मानव जीवन में आय-व्यय का संतुलन हो तो सुखद स्थिति रहती है। मितव्ययिता बुरी नहीं है, किन्तु अपव्यय की प्रवृत्ति तो बुरी ही होती है। नीति भी कहती है कि "आमदनी कम, खर्चा ज्यादा, यह आदत है मिटने की। ताकत कम और गुस्सा ज्यादा, यह आदत है पिटने की।। आचार्य श्री विद्यासागर जी ने 'मूकमाटी' में बढ़ते भौतिकवाद के बीच धन के मितव्यय, अतिव्यय, अपव्यय और संचय के विषय में बहुत ही सटीक व्याख्या की है और यथेष्ट मार्गदर्शन दिया है; यथा-

धन का मितव्यय करो, अति व्यय नहीं
अपव्यय हो तो कभी नहीं/ भूलकर स्वप्न में भी नहीं
और/अपव्यय तो....सर्वोत्तम! यह जो धारणा है/
वस्तु तत्त्व को छूती नहीं कारण कि/यथार्थ दृष्टि से/
प्रतिपदार्थ में उतना ही व्यय होता है/ जितनी आय/

और उतनी ही आय होती है/जितना व्यय।
आय और व्यय/इन दोनों के बीच
एक समय का भी अन्तर नहीं पड़ता
जिससे कि/संचय के लिए श्रेय मिल सके।
यहाँ पर/ आय-व्यय की यही व्यवस्था
अव्यया मानी गई है/ ऐसी स्थिति में फिर भला
अतिव्यय और अपव्यय का/प्रश्न ही कहाँ रहा?[23]

यहाँ ''उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्''[24] को सम्यक् प्रकार से समझाया गया है। धन की प्राप्ति भाग्य और पुरुषार्थ से होती है, भीख माँगने या दीनता से नहीं। आचार्य श्री ने 'मूकमाटी' में इस सूक्ति का स्मरण कराया है कि-''बिन माँगे मोती मिले, माँगे मिले न भीख।''[25]

इस तरह हम देखते हैं कि 'मूकमाटी' में आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज ने जो अर्थदृष्टि दी है वह प्रत्येक व्यक्ति और समाज के लिए अनुकरणीय है।

सन्दर्भ-

1. आचार्य विद्यासागर : मूकमाटी, पृ. 7
2. वही, पृष्ठ 13
3. वही, पृष्ठ 27
4. वही, पृष्ठ 32
5. वही, पृष्ठ 43
6. वही, पृष्ठ 189
7. वही, पृष्ठ 189
8. वही, पृष्ठ 189
9. वही, पृष्ठ 192
10. वही, पृष्ठ 201
11. वही, पृष्ठ 204
12. वही, पृष्ठ 205
13. वही, पृष्ठ 307-308
14. वही, पृष्ठ 357
15. वही, पृष्ठ 366
16. वही, पृष्ठ 366
17. वही, पृष्ठ 460-61
18. वही, पृष्ठ 350
19. वही, पृष्ठ 386-87
20. वही, पृष्ठ 396
21. वही, पृष्ठ 467-468
22. वही, पृष्ठ 468
23. वही, पृष्ठ 414-415
24. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, 5/30
25. मूकमाटी, पृष्ठ 454

- सहायक प्राध्यापक-अर्थशास्त्र,
सेवासदन महाविद्यालय, बुरहानपुर (म.प्र.)

तनाव से मुक्ति विषय पर कार्यशाला आयोजित

आज की भागदौड़ भरी जिन्दगी में हर व्यक्ति तनावग्रस्त है लेकिन तनाव के उपाय खोजने का कोई भी प्रयास नहीं करता है। उन परेशानियों के क्या कारण हैं? उन परेशानियों का क्या निवारण है? इसी ध्येय को रखकर वीर सेवा मन्दिर (जैनदर्शन शोध संस्थान) दरियागंज, नई दिल्ली के भव्य सभागार में ''स्ट्रेस मैनेजमेण्ट'' पर 20 दिसम्बर 2015 को एक कार्यशाला आयोजित की गई। इस कार्यशाला में इण्टरनेशनल डिप्लोमा होल्डर श्रीमती मेधावी जैन, गुड़गांव, पं. निहालचन्द जैन, निदेशक वीर सेवा मन्दिर, प्रो. एम. एल. जैन और श्री अनिल जैन राजधानी पेपर्स, नई दिल्ली मुख्य वक्ता के रूप में विद्यमान थे।

कार्यशाला की अध्यक्षता श्री धनपालसिंह जैन, अध्यक्ष नैतिक शिक्षा समिति ने की। मुख्य अतिथि के रूप में वीर सेवा मंदिर के अध्यक्ष श्री भारत भूषण जैन उपस्थित थे। दीप प्रज्वलन सभी मंचस्थ सुधीजनों ने किया। कार्यक्रम का संचालन एवं मंगलाचरण डॉ. आलोक कुमार जैन, उपनिदेशक वीर सेवा मन्दिर ने किया। कार्यशाला की उपयोगिता एवं भूमिका प्रो. ज्योति जैन, दरियागंज ने प्रस्तुत की। आगत वक्ताओं और श्रोतागणों के स्वागत हेतु स्वागत भाषण श्री विनोद कुमार जैन, महामंत्री वीर सेवा मन्दिर ने प्रस्तुत किया एवं श्री अजित प्रसाद जैन ने सभी वक्ताओं और मंचासीन महानुभावों का तिलक एवं माल्यार्पण द्वारा स्वागत किया।

सर्वप्रथम श्रीमती मेधावी जैन ने मुख्यता से महिलाओं के दैनिक कार्यों में होने वाले तनाव को केन्द्रित करके उनसे दूर होने के उपायों को बहुत ही सुन्दरता से प्रस्तुत किया। तत्पश्चात् श्री अनिल जैन ने धार्मिक क्रियाओं एवं व्यापारिक माहौल में होने वाले तनाव को हम किस प्रकार से दूर करके अपने आपको स्वस्थ बना सकते हैं, इस विषय को रोचक तरीके से प्रस्तुत किया। पं. निहालचन्द जी ने आध्यात्मिकता का समावेश करते हुए तनावमुक्त जीवन जीने के आसान तरीके बतलाए। अन्तिम वक्ता के रूप में प्रो. एम. एल. जैन जी ने 15-30 वर्ष के विद्यार्थियों में होने वाले

तनाव और उनके उपाय अपने 40 साल के अनुभव के आधार पर सहजता से प्रस्तुत किए। सभी वक्ताओं के वक्तव्य को सभागार में उपस्थित वीर सेवा मन्दिर की कार्यकारिणी सदस्यों सहित लगभग 100 श्रोताओं ने शान्तचित्त होकर तन्मयता से सुना और करतल ध्वनि से प्रोत्साहन भी किया। तत्पश्चात् जैन समाज दिल्ली के अध्यक्ष श्री चक्रेश जैन ने सभी वक्ताओं को धन्यवाद दिया और विशेष रूप से श्री अनिल जैन की इस कार्यशाला को आयोजित करने के लिए भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए आगे भी ऐसे कार्यक्रमों को करने के लिए प्रेरित किया। श्री धनपालसिंह जैन ने अध्यक्षीय उद्‌बोधन देते हुए कहा कि वर्तमान समय में ऐसी कार्यशालाओं की बहुत आवश्यकता है और इनका निरन्तर आयोजन होते रहना चाहिए।

अन्त में श्री सुरेन्द्र कुमार जैन, मंत्री वीर सेवा मन्दिर द्वारा सभी आगत वक्ताओं, श्रोताओं और आयोजकों का आभार व्यक्त करते ही कार्यक्रम संपन्न हुआ।

– विनोद कुमार जैन
महामंत्री, वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली

श्रद्धाञ्जलि

नई दिल्ली। **श्रीमती कमलेश जैन** धर्मपत्नी स्व. पं. पदमचंद जैन शास्त्री, पूर्व निदेशक वीर सेवा मंदिर नई दिल्ली का 96 वर्ष की आयु में 30 दिसम्बर 2015 को समता भाव पूर्वक देहावसान हो गया। आप अत्यन्त ही मृदुभाषी, मिलनसार, सरल स्वभाव की धर्मपरायण महिला थीं। आपकी जैनधर्म में अटूट श्रद्धा थी।

वीर सेवा मंदिर परिवार दिवंगत आत्मा के प्रति अपनी हार्दिक संवेदना प्रकट करते हुए वीर प्रभु से कामना करता है कि शोक संतप्त परिवार को इस आकस्मिक दु:ख को सहन करने की शक्ति प्रदान करें।

– महामंत्री, वीर सेवा मंदिर

समाचार

मांगीतुंगी में अद्भुत पंचकल्याणक एवं महामस्तकाभिषेक महोत्सव संपन्न

आर्यिका शिरोमणि श्री ज्ञानमती माता जी की प्रेरणा से प्रज्ञाश्रमणी आर्यिका श्री चन्दनामती माता जी के मार्गदर्शन में एवं स्वस्ति श्री रवीन्द्रकीर्ति स्वामी जी के कर्मठ, कुशल नेतृत्व में मांगी चोटी से सटे हुए पर्वत को काटकर अखण्ड पाषाण में विश्व की प्रथम 108 फीट ऊँची भगवान् आदिनाथ की खड्गासन प्रतिमा का मेसर्स मूलचन्द्र रामचन्द्र नाठा, जयपुर के सौभाग्यशाली कलाकारों के द्वारा निर्माण किया गया है। प्रतिमा के आगे 125 फीट ऊँची चट्टानों को काटकर 14 हजार वर्ग फीट का प्लेटफार्म बनाया गया है। प्रतिमा के पीछे करीब 60 प्रतिशत ऊँचाई तक पाषाण खण्ड जुड़ा है। प्रतिमा के चारों ओर परिक्रमा पथ है। यह प्रतिमा पूर्वमुखी है और इसकी दृष्टि मांगी एवं तुंगी पर्वत के बीच में पड़ती है। सूर्य जब दक्षिणायन होता है तब प्रतिमा पर सूर्य का पूरा प्रकाश पड़ता है। सूर्य के उत्तरायण होने पर सूर्य का प्रकाश प्रतिमा पर नहीं आता है एवं पर्वत की परछाई पड़ती है। किसी भी ऋतु में प्रतिमा के समक्ष बैठकर दर्शक अपूर्व आनन्द और प्रसन्नता प्राप्त करते हैं।

इस अद्वितीय प्रतिमा का पंचकल्याणक 11 से 17 फरवरी, 2016 के बीच और महामस्तकाभिषेक का शुभारंभ 18 फरवरी, 2016 को हुआ। इसमें अनेकों आचार्य एवं मुनिगण का भी सान्निध्य श्रावकजनों को प्राप्त हुआ। कार्यक्रम में महाराष्ट्र प्रदेश के मुख्यमंत्री श्री देवेन्द्र फड़नवीस एवं भाजपा के राष्ट्रीय अध्यक्ष अमित शाह और समाज के श्रेष्ठिजन तथा विद्वानों की गरिमामयी उपस्थिति रही।

उल्लेखनीय है कि महाराष्ट्र प्रदेश के नासिक जिले में प्राकृतिक सौंदर्य से भरपूर मांगीतुंगी जैनधर्म का महत्त्वपूर्ण तीर्थक्षेत्र है। यहाँ आत्मा पवित्रतम स्थिति में पहुंचकर पूरी तरह से प्रकाशित हो जाती है; क्योंकि यहां से श्रीराम, बलराम आदि महान् आत्माओं ने मोक्षपद की प्राप्ति की थी। एक बहुत ऊँचे पर्वत की दो ऊँची और खड़ी चट्टानें पश्चिम की

ओर मांगी और पूर्व की ओर तुंगी स्थित है। मांगी से तुंगी शिखर अधिक ऊँचा है। भूतल से ही ऊँची-नीची और टेड़ी-मेड़ी 2000 सीढ़ियाँ चढ़कर हजारों वर्ष पूर्व प्रकृति द्वारा निर्मित विशाल तोरणद्वार तक पहुंचते हैं। इस तोरणद्वार के बाईं ओर से मांगी और दाहिनीं ओर से तुंगी शिखर को रास्ता है। दोनों शिखरों पर ऐतिहासिक और धार्मिक महत्ता लिये हुए पहाड़ की चट्टानों में तराशी गई शताधिक गुफाएँ हमें आकर्षित करती हैं।

मांगी पहाड़ पर सात प्राचीन मंदिर हैं। यह सीताजी की तपोभूमि है। इस पहाड़ी पर स्थित कृष्ण कुण्ड के स्थल पर नारायण श्रीकृष्ण का परलोक गमन हुआ था। समीप ही बलभद्र गुफा है, जिसमें अनेक मूर्तियाँ विद्यमान हैं। तुंगी पहाड़ी पर पांच मन्दिर, भगवान् चन्द्रप्रभ और भगवान् राम की गुफा है। दोनों शिखरों के बीच के पथ पर शुद्ध और बुद्ध मुनि की दो गुफाएं हैं। पद्मासन मुद्रा में विराजमान 21 फीट ऊँची भगवान् मुनिसुव्रतनाथ की विशाल प्रतिमा है। सभी मूर्तियां भारतीय जैन संस्कृति की ऐतिहासिक एवं महत्त्वपूर्ण धरोहर हैं। अधिकांश मूर्तियाँ छठी शताब्दी (सन् 594) में स्थापित की गई हैं।

ध्यातव्य हो कि माताजी ने यह घोषणा की है कि भगवान् आदिनाथ का महामस्तकाभिषेक प्रति 6 वर्ष के अन्तराल से होगा। उन्होंने यह भी घोषणा की कि इस ऋषभगिरि तीर्थ के प्रथम पीठाधीश श्री रवीन्द्रकीर्ति होंगे।

-डॉ. आलोक कुमार जैन
उपनिदेशक, वीर सेवा मन्दिर
(जैनदर्शन शोध संस्थान) नई दिल्ली

वीर सेवा मंदिर प्रकाशन के ग्रन्थों पर विशेष छूट

निम्नांकित ग्रन्थों पर **50%** की विशेष छूट दी जा रही है। साथ ही उपहार स्वरूप ग्रन्थ भी प्राप्त कर सकते हैं। धनराशि चैक/ड्राफ्ट या सीधे संस्था के खाता सं. 603210100007664 बैंक ऑफ इण्डिया, अंसारी रोड ब्रांच, नई दिल्ली, IFSC-BKID0006032 के द्वारा जमा किया जा सकता है।

ग्रन्थों का नाम	लेखक/टीकाकार	मूल्य
1.जैन लक्षणावलि भाग- 1-3	पं. बालचंद सिद्धान्त.	2500रु.
2.युगवीर निबंधावली खण्ड-1	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार	210रु.
3.जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा.-2	पं. परमानंद शास्त्री	150रु
4.ध्यानशतक तथा ध्यान स्तव	पं. बालचंद सिद्धान्त.	100रु.
5.परम दिगम्बर गोम्मटेश्वर	नीरज जैन, सतना	75रु.
6.दिगम्बरत्व की खोज	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	100रु.
7.Jain Bibliography 1-2	Chhotelal Jain	1600रु.
8.निष्कम्प दीपशिखा	पं.पदमचंद शास्त्री	120रु.
9.तत्त्वानुशासन	आचार्य रामसेन	100रु.
10.समीचीन धर्मशास्त्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	150रु.
11.असहमत संगम	बैरिस्टर चम्पतराय जैन	150रु.
12. Pure Thoughts	Acharya Amitigati	50रु.

उपहार ग्रंथ

1. मेरी भावना अंग्रेजी सहित	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
2. महावीर जिन पूजा	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
3. श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
4. समन्तभद्र विचार दीपिका	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
5. हम दु:खी क्यों हैं ?	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
6. Basic Tenets of Jainism	Dasrath Jain
7. समयपाहुड	रूपचंद कटारिया
8. वारसाणुबेक्खा	आ. कुन्दकुन्द
9. महावीर का सर्वोदय तीर्थ	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
10.उपासना तत्त्व तथा उपासना ढंग	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'

Year-69, Volume-3
RNI No. 10591/62

July-Sept 2016
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक
डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)
मो. 09760002389

Editor
Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110002

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Founder

Pt. Jugalkishore Mukhtar 'Yugveer'

श्री भारतभूषण जैन, अध्यक्ष

श्री विनोदकुमार जैन, महामंत्री

Sh. Bharatbhushan. Jain, President

Sh. Vinod Kumar Jain, Gen. Secretary

सम्पादक मण्डल

प्रो. डॉ. राजाराम जैन, नोएडा

प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ

प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर

डॉ. श्रेयांस कुमार जैन, बड़ौत

श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Editorial Board

Prof. Dr. Rajaram Jain, Noida

Prof. Dr. Vrashabh Prasad Jain,Lucknow

Pracharya Dr. Shital Chand Jain, Jaipur

Dr. Shreyans Kumar. Jain, Baraut

Sh. Roopchand Kataria, New Delhi

Prof. M.L. Jain, New Delhi

पत्रिका शुल्क/ Journal Subscription

एक अंक- रुपए 25/- वार्षिक- रुपए 100/-

Each issue - Rs. 25/- Yearly - Rs. 100/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता-

वीर सेवा मन्दिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002

All correspondence for the journal & Editorial

Vir Sewa Mandir (A Research Institution for Jainology)

21, Ansari Road, Darya Ganj, New Delhi-110002

Phone No. 011-30120522, 23250522, 09311050522

email : virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं। सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

तुम जिनवर गुण गावो

तुम जिनवर गुण गावो,
यह औसर फिर न पावो।
मानव भव जन्म दुहेला,
दुर्लभ सत्संगति मेला।
यह बात भली बनि आई,
भगवान भजो मेरे भाई।
पहिले चित चोर सम्हालो,
कामादिक कीच उलारो।
फिर पलि फिटकड़ी दीजे,
तुम सुमरन रंग रंगीजे।
धन जोड़ भरा जो कुणा,
परिवार बढ़े क्या दूजा।
हरसी चढ क्या कर लीना ?
प्रभु भजन बिना धृत जीना।
यह शिक्षा है व्यवहारी,
निश्चय की साधन हारी।
'भूधर' पैड़ी पग धरिये,
तब चढने की सुधि करिये।

- पं. भूधरदास जी

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1. संपादकीय	- डॉ. जयकुमार जैन	5-6
2. स्थायी स्तम्भ- युगवीर गुणाख्यान	- संपादक	7-10
3. जैनधर्म की विश्वव्यापकता	- डॉ. एन. सुरेशकुमार	11-21
4. जैन परम्परा पोषित, भाव विशुद्धि की प्रक्रिया और ध्यान	- प्रो. अशोककुमार जैन	22-32
5. ज्ञानार्णव में वर्णित स्त्री स्वरूप और उनकी युक्ति-युक्तता	- डॉ. सतेन्द्र कुमार जैन	33-48
6. अशोक-शिलालेख में निहित दर्शन (गिरनार शिलालेख के सन्दर्भ में)	- डॉ. आनन्द कुमार जैन	49-53
7. जैनकर्मवाद के आधारभूत सिद्धांत	- प्रो. श्रीयांशकुमार सिंघई	54-63
8. भारतीय दर्शनों में अनेकान्तवाद के तत्त्व : एक ऐतिहासिक विवेचन	- प्रो. सागरमल जैन	64-85
9. सराग एवं वीतराग सम्यग्दर्शन : एक चिन्तन	- डॉ. आलोक कु. जैन	86-94
10. श्रुतपंचमी महापर्व पर एक अच्छा आयोजन	- संपादक	95
11. ग्रन्थसूची- वीर सेवा मंदिर प्रकाशन		96

संपादकीय

कुण्डलपुर महामस्तकाभिषेक

यह सर्वविदित तथ्य है कि अपनी मनमोहक छटा के कारण जहाँ कुण्डलपुर सहज ही प्रकृति प्रेमियों को आकर्षित करता है, वहाँ दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र पर विराजमान तथा बड़े बाबा के नाम से विश्वप्रसिद्ध भगवान् आदिनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा भावक भक्तों की भक्ति को सदा से प्रभावित करती रही है। जो एक बार इस प्रतिमा का दर्शन कर लेता है, वह बार-बार वहाँ जाता रहता है तथा उसके मन में उसे सदा निहारने की भावना होती रहती है। सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज का यह पावन तीर्थक्षेत्र म.प्र. के दमोह मण्डल में मुख्यालय से लगभग 35 किमी. की दूरी पर समुद्रतल से 3000 फीट ऊँचे कुण्डलाकार गिरिश्रृंखला में स्थित है। यहाँ विराजमाल बड़े बाबा की प्रतिमा कभी चिह्न न होने के कारण भगवान् महावीर की मानी जाती थी, किन्तु है भगवान् आदिनाथ की। इसे अब एक मत से स्वीकार कर लिया गया है।

वयोवृद्ध लोगों के मुख से सुना है कि यह प्रतिमा कभी गाँव वर्रट (विराट्) की मूलनायक प्रतिमा थी। वहाँ के मन्दिर के खण्डित हो जाने पर इस कुण्डलाकार पर्वत पर विराजमान की गई थी। प्रतिमा के विषय में अन्य भी अनेक अतिशयकारी किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। इसमें किसी भी जैन की असहमति नही हो सकती है कि प्रतिमा अतिशयकारी थी और आज भी उसका अतिशय वर्धमान ही है। कुण्डलपुर क्षेत्र पर विराजमान वि.स. 1183 (1126 ई.) की प्रतिमा के कारण क्षेत्र की प्राचीनता असंदिग्ध है।

इतिहास बताता है कि पन्ना राज्य के महाराजा छत्रसाल को जब आततायियों के कारण पन्ना नगर छोड़कर भागना पड़ा था तो वे कुण्डलपुर के जंगलों में घूमते रहे। वहाँ उनकी मुलाकात ब्र. नमिसागर से हुई। ब्र. जी ने उनसे जीर्णोद्धार हेतु धन मांगा। महाराजा छत्रसाल ने अपनी असमर्थता प्रकट करते हुए कहा कि यदि मुझे पन्ना का राज्य वापिस मिला तो मैं

प्रतिज्ञा करता हूँ कि राजकोष से क्षेत्र का जीर्णोद्धार अवश्य कराऊँगा। जिनभक्ति के प्रभाव एवं दैव की अनुकूलता से उन्हें पन्ना का राज्य वापिस प्राप्त हो गया। उन्होंने राजकोष से जीर्णोद्धार का कार्य कराया जो वि.सं. 1757 (1700ई.) में पूरा हो गया। वहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव सोमवार माघ शुक्ला पूर्णिमा वि.सं. 1757 में पूर्ण हुआ, जिसमें महाराजा छत्रसाल स्वयं पधारे तथा उन्होंने क्षेत्र के लिए छत्र, चमर एवं पूजा के पात्र भेंट किये। उसी की स्मृति में तब से वहाँ पर माघ शुक्ला पूर्णिमा को भव्य मेला का आयोजन होता आ रहा है। ऐसा कहा जाता है कि मुगल शासकों ने बड़े बाबा की मूर्ति को तोड़ने का खूब प्रयास किया किन्तु उन्हें मधु-मक्खियों द्वारा घेर लेने तथा अन्य-अन्य अतिशयकारी कारणों से मुह की खानी पड़ी तथा प्राण बचाकर भागना पड़ा था।

आज परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज वरिष्ठ आचार्य तो हैं ही, अपनी निरतिचार चर्या के कारण 20-21वीं शताब्दी के इतिहास में प्रथम पांक्तेय तथा कनिष्ठिकाधिष्ठित हैं। उनके ससंघ पावन सान्निध्य में 5-9 जून, 2016 में बड़े बाबा का महामस्तकाभिषेक महोत्सव अत्यन्त प्रभावना के साथ मनाया गया, जो भक्तों की भीड़ को देखकर आगे भी चलता रहा। इस अवसर पर देश एवं प्रदेश के बड़े-बड़े राजनेताओं, विद्वानों एवं श्रेष्ठियों ने बड़े बाबा के दर्शन कर जहाँ अपने नेत्रवान् होने का फल प्राप्त किया, वहाँ छोटे बाबा के नाम से प्रसिद्ध परमपूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज ससंघ के दर्शन से अपने पुण्य की सराहना की। कुण्डलपुर में विराजमान बड़े बाबा और उनके प्रति अतिशयित प्रशस्तानुरागी आचार्यश्री (ससंघ) के पावन चरणों में कोटिशः नमोऽस्तु।

- डॉ. जयकुमार जैन

******

<u>युगवीर गुणाख्यान</u>

वीतराग की पूजा क्यों ?

वीर सेवा मन्दिर के संस्थापक वाङ्मयाचार्य पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' का यह निबन्ध 'वीतराग की पूजा क्यों?' लगभग 62 वर्ष पूर्व 'समन्तभद्र-विचार-दीपिका' के प्रथम भाग में प्रकाशित हुआ था। निबन्ध को आज के समय अत्यन्त आवश्यक मानकर अविकल रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। आशा है, इसे पढ़कर श्रावक/श्राविकायें वीतराग भगवान् की पूजा का प्रयोजन समझ सकेंगे।

– संपादक

जिसकी पूजा की जाती है वह यदि उस पूजा से प्रसन्न होता है, और प्रसन्नता के फलस्वरूप पूजा करने वाले का कोई काम बना देता अथवा सुधार देता है तो लोक में उसकी पूजा सार्थक समझी जाती है। और पूजा से किसी का प्रसन्न होना भी तभी कहा जा सकता है जब या तो वह उसके बिना अप्रसन्न रहता हो, या उससे उसकी प्रसन्नता में कुछ वृद्धि होती हो अथवा उससे उसको कोई दूसरे प्रकार का लाभ पहुँचता हो; परन्तु वीतरागदेव के विषय में यह सब कुछ भी नहीं कहा जा सकता- वे न किसी पर प्रसन्न होते हैं, न अप्रसन्न और न किसी प्रकार की कोई इच्छा ही रखते हैं, जिसकी पूर्ति-अपूर्ति पर उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता निर्भर हो। वे सदा ही पूर्ण प्रसन्न रहते हैं- उनकी प्रसन्नता में किसी भी कारण से कोई कमी या वृद्धि नहीं हो सकती। और जब पूजा-अपूजा से वीतरागदेव की प्रसन्नता या अप्रसन्नता का कोई सम्बन्ध नहीं- वह उसके द्वारा संभाव्य ही नहीं- तब यह तो प्रश्न ही पैदा नहीं होता कि पूजा कैसे की जाय, कब की जाय, किन द्रव्यों से की जाय, किन मन्त्रों से की जाय और उसे कौन करे- कौन न करे? और न यह शंका ही की जा सकती है कि अविधि से पूजा रकने पर कोई अनिष्ट घटित हो जाएगा, अथवा

किसी अधर्म-अशोभन-अपावन मनुष्य के पूजा कर लेने पर वह देव नाराज हो जायगा और उसकी नाराजगी से उस मनुष्य तथा समूचे समाज को किसी दैवी कोप का भाजन बनना पड़ेगा; क्योंकि ऐसी शंका करने पर वह देव वीतराग ही नहीं ठहरेगा- उसके वीतराग होने से इनकार करना होगा और उसे भी दूसरे देवी-देवताओं की तरह रागी-द्वेषी मानना पड़ेगा। इसी से अक्सर लोग जैनियों से कहा करते हैं कि- ''जब तुम्हारा देव परम वीतराग है, उसे पूजा-उपासना की कोई जरूरत नहीं, कर्ता-हर्ता न होने से वह किसी को कुछ देता-लेता भी नहीं, तब उसकी पूजा-वन्दना क्यों की जाती है और उससे क्या नतीजा है?''

इन सब बातों को लक्ष्य में रखकर स्वामी समन्तभद्र, जो कि वीतरागदेवों को सबसे अधिक पूजा के योग्य समझते थे और स्वयं भी अनेक स्तुति-स्तोत्रों आदि के द्वारा उनकी पूजा में सदा सावधान एवं तत्पर रहते थे, अपने स्वयंभूस्तोत्र में लिखते हैं-

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे न निन्दया नाथ विवान्त-वैरे।
तथापि ते पुण्य-गुण-स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरिताञ्जनेभ्यः॥

अर्थात्- हे भगवन्! पूजा-वन्दना से आपका कोई प्रयोजन नहीं है; क्योंकि आप वीतरागी हैं- राग का अंश भी आपके आत्मा में विद्यमान नहीं है, जिसके कारण किसी की पूजा-वन्दना से आप प्रसन्न होते। इसी तरह निन्दा से भी आपका कोई प्रयोजन नहीं है- कोई कितना ही आपको बुरा कहे, गालियाँ दे, परन्तु उस पर आपको जरा भी क्षोभ नहीं आ सकता; क्योंकि आपके आत्मा से वैरभाव-द्वेषांश बिल्कुल निकल गया है- वह उसमें विद्यमान ही नहीं है- जिससे क्षोभ तथा अप्रसन्नतादि कार्यों का उद्भव हो सकता। ऐसी हालत में निन्दा और स्तुति दोनों ही आपके लिये समान है- उनसे आपका कुछ भी बनता या बिगड़ता नहीं है। यह सब ठीक है, परन्तु फिर भी हम जो आपकी पूजा-वन्दनादि करते हैं उसका दूसरा ही कारण है, वह पूजा-वन्दनादि आपके लिये नहीं- आपको प्रसन्न करके आपकी कृपा सम्पादन करना या उसके द्वारा आपको कोई लाभ पहुँचाना, यह सब उसका ध्येय ही नहीं है। उसका ध्येय है आपके पुण्य गुणों का स्मरण-भावपूर्वक अनुचिन्तन-, जो हमारे चित्त को- चिद्रूप

आत्मा को-पापमलों से छुड़ाकर निर्मल एवं पवित्र बनाता है, और इस तरह हम उसके द्वारा अपने आत्मा के विकास की साधना करते हैं। इसी से पद्य के उत्तरार्ध में यह सैद्धान्तिक घोषणा की गई है कि 'आपके पुण्य-गुणों का स्मरण हमारे पापमल से मलिन आत्मा को निर्मल करता है- उसके विकास में सचमुच सहायक होता है।

यहाँ वीतराग भगवान् के पुण्य-गुणों के स्मरण से पापमल से मलिन आत्मा के निर्मल (पवित्र) होने की जो बात कही गई है, वह बड़ी ही रहस्यपूर्ण है, और उसमें जैनधर्म के आत्मवाद, कर्मवाद, विकासवाद और उपासनावाद- जैसे सिद्धान्तों का बहुत कुछ रहस्य सूक्ष्मरूप में संनिहित है। इस विषय में मैंने कितना ही स्पष्टीकरण अपनी 'उपासनातत्त्व' और 'सिद्धिसोपान' जैसी पुस्तकों में किया है- स्वयम्भूस्तोत्र की प्रस्तावना के 'भक्तियोग और स्तुति-प्रार्थनादि रहस्य' नामक प्रकरण से भी पाठक उसे जान सकते हैं। यहाँ पर मैं सिर्फ इतना ही बतलाना चाहता हूँ कि स्वामी समन्तभद्र ने वीतरागदेव के जिन पुण्य-गुणों के स्मरण की बात कही है वे अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्यादि आत्मा के असाधारण गुण हैं, जो द्रव्यदृष्टि से सब आत्माओं के समान होने पर सबकी समान-सम्पत्ति हैं और सभी भव्यजीव उन्हें प्राप्त कर सकते हैं। जिन पापमलों ने उन गुणों को आच्छादित कर रखा है। वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म हैं, योगबल से जिन महात्माओं ने उन कर्ममलों को दग्ध करके आत्मगुणों का पूर्ण विकास किया है वे ही पूर्ण विकसित, सिद्धात्मा एवं वीतराग कहे जाते है - शेष सब संसारी जीव अविकसित अथवा अल्पविकसितादि दशाओं में है और वे अपनी आत्मनिधि को प्रायः भूले हुए हैं। सिद्धात्माओं के विकसित गुणों पर से वे आत्मगुणों का परिचय प्राप्त करते हैं और फिर उनमें अनुराग बढ़ाकर उन्हीं साधनों-द्वारा उन गुणों की प्राप्ति का यत्न करते हैं जिनके द्वारा उन सिद्धात्माओं ने किया था और इसलिये वे सिद्धात्मा वीतरागदेव आत्म-विकास के इच्छुक संसारी आत्माओं के लिये 'आदर्शरूप' होते हैं। आत्मगुणों के परिचयादि में सहायक होने से उनके 'उपकारी' होते हैं और उस वक्त तक उनके 'आराध्य' रहते हैं जब तक कि उनके आत्मगुण पूर्णरूप से विकसित न हो जाय। इसी से

स्वामी समन्तभद्र ने ''ततः स्वनिःश्रेयसभावनापरैर्बुधप्रवेकैर्जिनशीतलेड्यसे (स्व. 50)'' इस वाक्य के द्वारा उन बुधजन-श्रेष्ठों तक के लिये वीतराग देव की पूजा को आवश्यक बतलाया है जो अपने निःश्रेयस की-आत्मविकास की-भावना में सदा सावधान रहते हैं और एक दूसरे पद्य 'स्तुतिः स्तोतुः साधोः' (स्व. 116) में वीतरागदेव की इस पूजा-भक्ति को कुशलपरिणामों की हेतु बतलाकर इसके द्वारा श्रेयोमार्ग का सुलभ तथा स्वाधीन होना तक लिखा है। साथ ही, उसी स्तोत्रगत नीचे के एक पद्य में वे योगबल से आठों पापमलों को दूर करके संसार में न पाये जाने वाले ऐसे परमसौख्य को प्राप्त हुए सिद्धात्माओं को स्मरण करते हुए अपने लिये तद्रूप होने की स्पष्ट भावना भी करते हैं, जोकि वीतरागदेव की पूजा-उपासना का सच्चा रूप है :-

दुरितमलकलंकमष्टकं निरुपमयोगबलेन निर्दहन्।
अभवदभव-सौख्यवान् भवान्भवतु ममापि भवोपशान्तये।।

स्वामी समन्तभद्र के इन सब विचारों से यह भले प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि वीतरागदेव की उपासना क्यों की जाती है और उसका करना कितना अधिक आवश्यक है।

******

लेखकों से अनुरोध

आप सभी से अनुरोध है कि आप अपने हिन्दी के आलेख **वाकमैन चाणक्य** अथवा **कृतिदेव** फोन्ट में जिसका साइज 16 एवं अंग्रेजी के आलेख **टाइम्स न्यू रोमन** अथवा **एरियल** फोन्ट के साइज 12 में ही प्रेषित करें। आपका आलेख 8-10 पेज से ज्यादा नहीं होना चाहिए। आलेखों की सॉफ्ट कॉपी पीडीएफ फाइल के साथ आप वीर सेवा मन्दिर के ईमेल virsewa@gmail.com पर भेज सकते हैं।

- संपादक

जैनधर्म की विश्वव्यापकता

- डॉ. एन. सुरेश कुमार

विश्व के मूल के बारे में चिन्तन करते हुए उसकी प्राचीनता की ओर सूक्ष्मता से दृष्टिपात करने पर इस विश्व का कर्मयुग के मूल पूर्वज धर्मनेता के पदचिह्न दृष्टिगोचर होते हैं। उसने कर्मयुग प्रारम्भ होते ही दिग्भ्रान्त हुए प्रजासमूह को आजीविका के उपाय असि (शस्त्र-अस्त्र आदि आयुधविद्या), मसि (लेखनकार्य), कृषि, वाणिज्य (व्यापार), विद्या (अंक व अक्षर आदि का अध्ययन व अध्यापन) और शिल्प (चित्र-मूर्ति-शिल्प विद्या) ये प्रमुख षट्कर्म बताये थे। अतएव प्रजाजन उसे प्रजापति, ब्रह्मा आदि नामों से सम्बोधित करते थे। इस विषय का आचार्य जिनसेन ने महापुराण तथा आदिकवि पम्प ने आदिपुराण ग्रंथ में वर्णन किया है।

इसी भारतीय विचारधारा को वैदिक परम्परा के भागवतादि पौराणिक ग्रन्थों में भी कहा गया है। सर्वप्रथम प्रजापति ने इस विश्व को धर्म का मार्ग दिखाते हुए संसार के बन्धनों से मुक्त होने हेतु मोक्षमार्ग का उपदेश दिया है। तब से उसे जैन-जैनेतर धर्मग्रन्थों में अरह, अरहन्त, अर्हन् आदि नामों से अभिहित किया है।

इस कर्मयुग में धर्म का प्रवर्तन करने वाला आदिपुरुष का नाम है **वृषभ**। इसे जैनधर्म में वृषभदेव, वृषभनाथ, ऋषभदेव आदि विशेष नामों से पुकारा गया है। प्रादेशिक इतिहास और भाषा को सूक्ष्मता से अवलोकन करने पर यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि यही वृषभ अथवा ऋषभ नाम यहूदी, क्रैस्त (जेसस्), इस्लाम आदि धर्मों में भिन्न-भिन्न परिवर्तित रूपों में उच्चारित किया जाता है।

यहूदी धर्म में **ऋषभ** शब्द जहो अथवा यहोव के रूप में परिवर्तित है। ऋषभ शब्द में से ऋकार प्राकृत भाषा के व्याकरण के नियमानुसार अ, इ, उ और री होता है। अकार यकार में परिवर्तित हो जाता है और यही

यकार जकार में भी परिवर्तित हो जाता है तथा षकार हकार होता है। उसी प्रकार भकार वकार के रूप में परिवर्तित होता है।

इस प्रकार देखा जाय तो परिवर्तित ऋषभ शब्द का जहव रूप यहूदी में प्रचलित था। जहोव-यहोव नाम इसरेलियों का धर्मनेता का नाम माना गया है, जिनका धर्म ही यहूदी धर्म है। इसका मूलधर्म ऋषभ का धर्म था।

क्रैस्त धर्म में प्राकृत भाषा के व्याकरण के नियमानुसार ऋ का य तथा ष एवं श का स और भ का फ होता है।

ऋ	-	य
ष	-	स
भ	-	फ

इस प्रकार ऋषभ शब्द यसफ के रूप में परिवर्तित है। यकार का जकार होने से जसफ भी होता है। यही जसफ आज जोसफ-Joseph के रूप में प्रचलित हुआ है। ऋषभ-यसफ, जसफ-जोसेफ।

अरब परिसर में प्रचलित बोलियाँ प्राकृत भाषा से अधिकतम सम्बन्ध रखती हैं। जैसे प्राकृत भाषा के व्याकरण के नियमानुसार ऋषभ शब्द में से ऋ का इ हो होता है। षकार का सकार होता है, भकार का फकार होता है। इस प्रकार इसफ बना है। इसफ में फ का भ भी होने से इसभ हुआ। यासुभु एवं यासुफु अथवा यासुभ् एवं यासुफ् भी बना। यूसुफ्, सूसुभ्- इस पकार के परिवर्तनों में कोई निर्दिष्ट नियम नहीं है।

क्रैस्त और किसी अन्य-अन्य प्रदेशों में प्राचीनकाल में यहाँ के सब विशाल देशों में एक जैनधर्म ही अस्तित्व में था। क्रैस्त, इस्लाम और यहूदियों में जोसेफ्, जहोव, यहोभ, इहोव, युसुफ, यूसुभ् भी परिवर्तित रूप पाये जाते हैं। इन तीनों नामों से तीन धर्म कालान्तर में स्थापित हुए, जो कि इन तीनों धर्मों का मूल पुरुष एक ही था; वह है ऋषभ। यह ऋषभ इस युग के जैनधर्म का प्रथम प्रवर्तक है। इसी प्रकार पश्चिम एशियाई राष्ट्रों में अर्हन्, अरह, अरहत् शब्दों का प्रचुरमात्रा में प्रयोग दिखाई देता है। उदाहरणार्थ- अरह शब्द अरफ और अरब रूपों में परिवर्तित हुआ। प्यालेस्तिन् राज्य विमोचना सेना का प्रधान अधिकारी का नाम यस्सार अराफत् था। इसमें

अरहत् नाम का अन्यरूप ही अराफत् है। प्यालेस्तिन् देशवासियों का धर्म और इस अधिकारी का धर्म भी इस्लाम धर्म ही है। अतः इस्लाम धर्म में अर्हत् और अरहत् नाम अरफत् के रूप में आज भी प्रसिद्ध है।

यहाँ एक गम्भीरता से शोध का विषय है कि अरह, अहरत्, अरहन्त आदि शब्द जैन धर्मावलम्बियों के आराध्य भगवान् या देव का नाम है, जो इस्लामधर्मियों का कैसे हुआ? जिस प्रकार भारतीयों में व्यक्ति को सम्बोधित करने के लिए हरी, हर, शिव, विष्णु, कृष्ण, राम, नागराज, नागेन्द्र, अर्हत्, अरिहन्त, अरह आदि नाम प्रचलित हैं। उसी प्रकार इस्लाम, क्रैस्त और यहूदियों में भी प्राचीनकाल में किसी व्यक्ति को सम्बोधित करने के लिए अरह, अरहत्, अरहन्त आदि संज्ञाएँ प्रचलित थीं। इस्लाम धर्म में देव को सम्बोधित करने के लिए अरहत् या अरफत् नाम प्रचलित है। ऐसा प्रतीत होता है कि जितना अर्हत् एवं अर्हन् शब्दों का परिवर्तन हुआ है उतना अन्य शब्दों का नहीं हुआ होगा। उदाहरणार्थ- अर्हत्/ अरहत् व अर्हन्/ से अरहान्-अरहद-अरफत्-अराफत्-अर्षद्-एर्षत्-इर्फान-इरान्-येर्हन्-अरफ-रफ-रब-अब्दुल-अफ्घन्-अब्रहम, इब्राहीम्-अर्शद् आदि।

आज अफघानिस्थान नाम का मूलरूप अर्हन्स्थान या अर्हत्स्थान है। यही नाम परिवर्तित होकर अफघन+इस्थान् = अफघानिस्थान हुआ है। इरान् देश का नाम अर्हन्। अर्हन् से येर्हान् और येर्हान् से परिवर्तित होकर इरान् बना है। उसी प्रकार अर्हत् शब्द परिवर्तित होकर इराक् बना होगा। अरह से अरफ एवं अरफ से अरब तथा अरब से अरेबिया बना है, जो अंग्रेजी भाषा में परिवर्तित है। इस प्रकार सम्पूर्ण भारतदेश का नाम ही अरह था, जो प्रस्तुत में अरबस्थान, अरब, अरेबिया नाम से जाना जाता है। इसी प्रकार अरहन्त-अरहमत-अरहमत-रहमत-रहमान् के रूप में परिवर्तित हुआ है तथा अरह से अरफ, अरहफ से अरब परिवर्तित रूप है। अल्लाह शब्द भी इसी तरह शब्द का ही परिवर्तित रूप है, जैसे कि मागधी प्राकृत में र का ल होने का नियम है। प्राचीनकाल में सामान्य लोगों ने अर्हत् शब्द को अपनी उच्चारण की सरलता के लिए अरह, अरह से अलह के रूप में उच्चारण करते हुए आगे अल्लाह के रूप में उच्चारण करने लगे। अल्लाह अथवा अल्लह ही इस्लामधर्मियों का आराध्यदेव होने से उनकी परम्पराओं

में लोग इसी नाम को व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में प्रयोग किये हैं।

उपरोक्त विवरणों को ध्यान में रखते हुए इस प्रकार उपरोक्त सभी देश-राज्य अर्थात् मगधदेश से लेकर आज का इसरेल (इस्रेल) देश तक के विशाल भूप्रदेश में जैनधर्म या जिनधर्म व्याप्त था। यहाँ के लोगों का आराध्यदेव वृषभ या ऋषभ ही है। उसी आराध्यदेव को अर्हन्, अरहन्, अरह, अल्लाह, एहोव, जहोव, इसुभ, इसुफ, यासुफ, यासुभ, ईसस्, जीसस् आदि अनेक नामों से पुकारते हैं। यहाँ के सभी लोग इतिहास के पूर्व काल में जैन अर्थात् ऋषभदेव के अनुयायी थे, जिसका प्रमाण निम्नानुसार है-

जैनव्यापारी लोग संबारपदार्थों को जहाज के द्वार भारतदेश से पारसकुल अर्थात् पर्सिया और अन्य देश ले जाकर बेचकर मोती, रत्न, सोना आदि बहुमूल्य पदार्थ खरीद का लाया करते थे। इसका विवरण प्रचुर प्रमाण में प्राकृत साहित्य में उपलब्ध होता है। पारसकुल अर्थात् पार्श्वनाथ तीर्थंकर के कुल वाले आज वही **पारसकुल वालों को पर्सिया** नाम से जाना जाता है। वर्तमान में इरान् (अर्हन्-एरान्) के नाम से ही प्रचलित है।

इस्लाम धर्म का पवित्र क्षेत्र है मेक्का। मेक्का शब्द मोक्ष शब्द का परिवर्तित प्राकृतभाषा का ही रूप है। मोक्ष जैनधर्म के सात तत्त्वों में से सातवाँ-अन्तिम तत्त्व है। इस्लामधर्म के ग्रन्थों में यह कहा गया है कि प्राचीनकाल में मेक्का के अन्दर प्रवेश करने वाले लोग नग्न-दिगम्बर के रूप में रहा करते थे तथा उस क्षेत्र को नमाज अर्थात् नमस्कार किया करते थे। इससे यह प्रतीत होता है कि **प्रायः इस्लामधर्मी मेक्का को ऋषभनाथ, पार्श्वनाथ आदि तीर्थंकर का मुक्तिस्थान मानते होंगे, जिसके कारण वे आज भी मेक्का की यात्रा करते हैं।**

इसी प्रकार ईसाई (क्रैस्त) धर्मावलम्बियों में भी सम्पूर्ण शाश्वत सुख हेतु यह उपदेश था कि सभी पदार्थों का परित्याग कर दिगम्बरत्व प्राप्त कर लेना चाहिये। क्रैस्तधर्म में प्रतिदिन सायंकाल पापपरिहार्थ की जाने वाली प्रार्थना-प्रैयर् करने का रिवाज था, जो जैनधर्म में प्रचलित प्रतिक्रमण-पापों की आलोचना-निन्दा एवं प्रायश्चितरूप भावना है। इस्लामधर्म में प्रातः आदि सन्ध्याकाल में भी किया जाने वाला नमाज जैनधर्म में श्रावक और साधुजन द्वारा किया जाने वाला सामायिक नामक आवश्यक कर्तव्य का ही

परिवर्तितरूप आचरण है। इस प्रकार अन्यधर्मों के कई अनुष्ठान जैनधर्म के अनुष्ठानों का ही परिवर्तित रूप है, जो वर्तमान में भी दिखाई पड़ती है।

आचार्यश्री विद्यानंद मुनि महाराज जी ने यह स्पष्ट लिखा है कि इटली, ग्रीस एवं रोम देशों में जैन साधु विहार किया करते थे। वहाँ के लोग आत्मविद्या के विचारों में निपुण थे। सम्राट सिकन्दर ने भी नग्न-दिगम्बर जैन साधु-सन्तों का दर्शन किया था तथा तक्षशिला भगवान् बाहुबली की राजधानी थी। ग्रीसदेश और अफघानिस्थान, सिन्ध, बलूचिस्तान इन सभी देशों में जैनधर्म का प्रचार प्रचुर मात्रा में था।

जैनधर्म में सुमेरूपर्वत के बारे में भी बहुत महत्त्वपूर्ण विवरण प्राप्त होता है। तीर्थंकर होने वाला बालक जन्म होते ही स्वर्ग के चारों प्रकार के देव उस भगवान् शिशु को उस पर्वत के पाण्डुकशिला पर विराजमान करके क्षीरसागर का जल लाकर अभिषेक-स्नान करते हैं। यह विशेषता है कि ऐसा तीर्थंकर का जन्माभिषेक कल्याणक जिस पर्वत पर किया जाता है वह सुमेरुपर्वत आज के ईजिप्टदेश में है। अत: इतिहासकार और जैन समुदाय इस विषय पर ध्यान देवें तथा इस विषय पर अध्ययन व संशोधन करने की आवश्यकता है। इससे जैनधर्म की प्राचीनता एवं व्यापकता स्पष्टरूप से सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त चीना, बर्मा, जापान, रशिया आदि देशों में भी जैनधर्म व्याप्त था। चीना-चिन शब्द जिन शब्द का परिवर्तित रूप है। इसे विदेशियों ने चीन नाम से उच्चारण किया है, जिससे आज वह चीना-चीनदेश के नाम से प्रसिद्ध है। ब्रह्मदेश भगवान् वृषभनाथ का विहारस्थान था। आज वही देश बर्मा-वर्मा (म्यान्मार) देश नाम से जाना जाता है।

जापान देश का एक विशेष सिद्धान्त है, जिसे झन् Zen नाम से जाना जाता है। यह विचारणीय है कि इस सिद्धान्त का जैनसिद्धान्त से कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य होगा। इसके बारे में शोध करने की आवश्यकता है।

इस प्रकार जैनधर्म की विश्व व्यापकता के विषय पर जिज्ञासा उत्पन्न होना सहज ही है। यदि हम इस प्रकार वास्तविकता की शोध करते हुए जैनवाङ्मय का अवलोकन करने पर यह परिलक्षित होता है कि जम्बूद्वीप वृत्ताकार है। विज्ञान द्वारा प्रस्तुत भूभाग की अखण्डमण्डल के

आकार वाला है। वह भिन्न-भिन्न कालों में खण्ड-खण्ड होकर अनेक भूविभागों के रूप में विभाजित हुआ। वर्तमान के भूखण्डों को ध्यान में रखकर अफ्रिकाखण्ड से जोड़ने पर वे अधिकतम समाविष्ट होकर भूमि एक सुन्दर मण्डलाकार के रूप में परिलक्षित होती है। इस प्रकार मण्डलाकार भूभाग में भरतखण्ड भी एक है, जो अरह (अरब), सुमेरुपर्वत (ईजिप्ट-मिश्रराष्ट्र)-इराक देशों का बहुभाग भूप्रदेश, इरान (पारसनाथ का विहारस्थल) पारसी-पार्सदेश, अफघन (बाहुबली का पोदनपुर) अरहन्देश, जिन-चिन-चीन, बर्मा आदि आर्यखण्ड के सभी भू-प्रदेशों में आदिब्रह्मा आदिनाथ ने विहार किया था। इनके उपरान्त भी अजितनाथ आदि अन्य सभी तीर्थंकरों ने भी भरतार्य खण्डों के सभी भूप्रदेशों में विहार कर जिनध र्म का उपेदश-प्रचार-प्रसार किया था, परन्तु किसी अमुक काल में भूभाग प्रकृति के प्रकोप से खण्ड-खण्ड होकर अनेक उप-प्रदेश बना, जो अफ्रीका एवं ईजिप्टदेशों से लेकर अरब, इरान्, अफगान, पाकिस्तान, भारत, चीन, बर्मा आदि देशों तक विस्तृत हुआ है। वही प्राय: भरतार्यखण्ड होना चाहिये। यद्यपि यह बताना कठिन है कि किस तीर्थंकर के समय का भूखण्ड का विस्तार क्या था, तथापि महावीर तीर्थंकर के समय के भूखण्ड के विस्तार के विषय में अवश्य बता सकते हैं, जो जैनपुराण ग्रन्थों में यत्र-तत्र वर्णित महावीर तीर्थंकर के तीर्थप्रवर्तन के विवरणों से प्राप्त होता है। उसी आधार पर सम्पूर्ण उत्तर-दक्षिण के प्रदेशों में भगवान् महावीर तीर्थंकर का विहार के उल्लेख उपलब्ध होते हैं, परन्तु भारत की सीमा तक के ही प्रमाण प्राप्त होते हैं। भारत की सीमा से बाहर के प्रदेशों के विहार के उल्लेख प्राप्त नहीं होते हैं। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के समय द्वारिका नगरी समुद्र में डूबने की घटना से भी यह स्पष्ट होता है कि नेमिनाथ भगवान् के समय भरतार्यखण्ड अखण्ड जम्बूद्वीप में विभाजित हुआ। इस प्रकार भरतार्यखण्ड की व्यापकता बर्मा देश से लेकर भारत, चीन, पाकिस्तान, ग्रीस, रोम, मिश्रराष्ट्र तक व्याप्त थी।

इस प्रकार यह दृढ़ता से कह सकते हैं कि जैनधर्म भरतार्यखण्डों में दृढ़ता से व्याप्त हुआ था। जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव के युग से लेकर बाद के युगों तक इस्रेल, ईजिप्ट देश से लेकर बर्मा देश तक

व्याप्त हुआ था। इसके फलस्वरूप अरह, अरब, अल्लाह, इरान्, हाज्, अराफत्, अफगान, पारस, नेमेस्, रमदिन्, मक्का, रेषफ आदि प्राकृतभाषा में प्रचलित थे, जो भिन्न-भिन्न रूपों में भी प्रचलित हुए थे। इसके अतिरिक्त ग्रीकदेश के कुछ भूगर्भ से आज भी जिनमूर्तियाँ यत्र-तत्र उपलब्ध हो रही हैं। इससे यह दृढ़ता से कह सकते हैं कि जैनधर्म विश्वव्यापी था।

उपर्युक्त प्रमाण एवं विवरणों से यह स्पष्ट होता है कि प्राकृत और जैनधर्म इनके बीच अत्यन्त प्रगाढ़ सम्बन्ध था, जो आदिनाथ वृषभ भगवान् से लेकर आज तक भी जनमानस के धड़कन के रूप में रूढि से आया हुआ है।

जैनधर्म के तीर्थंकरों की दिव्यध्वनि भी सर्वार्धमागधी नामक प्राकृत भाषा में थी। यह तथ्य है कि यही भाषा कालान्तर में किंचित् परिवर्तित होने पर भी उसने अपना मौलिकरूप नहीं खोया। इसी भाषा से जगत् की सभी भाषाएं निर्गमित हुई हैं। इसी बात को वाक्पतिराजा ने गउडवहो महाकाव्य में पुष्ट किया है कि:-

सयलाओ इमं वाया विसंति एत्तो य णेंति वायाओ।
एंति समुद्दं चिय णेंति सायराओ चिय जलाइं।।

अर्थात् जिस प्रकार सागर का ही पानी बादल बनकर बरसता है। वही बारिस का पानी धरती के कई जगहों पर संकलित होकर विश्व की कावेरी, गंगा, यमुना आदि सभी नदियों के नाम पाकर पुनः सागर में प्रवेश करता है। उसी प्रकार सभी भाषाएँ प्राकृत भाषा से ही निर्गमित होकर विविध प्रादेशिकता के कारण शौरसेनी, मागधी आदि नाम पाकर भी पुनः प्राकृत भाषा में ही विलीन हो जाती हैं। वास्तविकता तो यह है कि प्राकृत भाषा ही विश्व की मूलभाषा थी, जिसको भारोपीय एवं भारतीय आर्यभाषाओं की मूल या जननी कहने से कोई बाधा उत्पन्न ही नहीं होगी, क्योंकि सभी भाषाओं के साथ किसी न किसी प्रकार का संबद्ध है। एतत्कारण प्राचीन काल में लौकिक प्राकृत भाषा ही विश्व की भाषा थी। पूर्वोक्त गाथा से अधिक स्पष्ट होता है।

प्राकृतभाषा आज भी जीवन्त अस्तित्व में है। भविष्य में भी जीवन्त रहती है। यह प्राकृत भाषा अमरभाषा ही है। अर्थात् देवभाषा नहीं।

अपेक्षाकृत देवभाषा भी है। कभी भी नष्ट नहीं होने वाली एवं अविनाशी अमरभाषा है। जैसे- बर्मा, नेपाल, ढाका, उत्तर भारत, बंगाल, बिहार, मध्य भारत, पश्चिम भारत, पाकिस्तान, मध्य एशिया, पश्चिम एशिया, यूरोपियन के निकटवर्ती भागों में प्रचलित जनबोली और साहित्यिक- प्रौढ़ भाषाएँ उत्तरकाल की प्राकृतभाषा ही थे। उदाहरणार्थ- जिस प्रकार आज कन्नड भाषा प्राचीन रूप में न होकर नवीन कन्नड़ भाषा के रूप में अस्तित्व में है, उसी प्रकार पश्चिम एशिया से लेकर बर्मा तक के देशों में बोलचाल के रूप में प्रचलित भाषाएँ अर्वाचीन प्राकृत ही हैं। अतएव प्राकृत भाषा शाश्वत एवं अमर है तथा नवीन रूपों में नव-नवीन रूपों में परिवर्तित होकर सर्वदा अस्तित्व में रहती है।

प्राकृत भाषा-जनबोली उस- उसकाल में जिनभाषा अर्थात् तीर्थंकरों की भाषा के रूप में धार्मिकता में भी प्रवेश किया। अतएव यह प्राकृतभाषा कदाचित् देवभाषा का रूप को भी प्राप्त किया। उदाहरणार्थ- भगवान् आदिनाथादि महावीरपर्यंत सभी तीर्थंकर तथा गौतमबुद्ध ने भी धर्म के मर्म को समझाने वाला दिव्यस्वरूप इस महामानव की भाषा के रूप में देवभाषा का महत्त्व प्राप्त किया था। अनन्तरकाल में वही (मौर्यादि राजाओं के काल में) राष्ट्रभाषा के स्थान को भी प्राप्त करके उत्तरोत्तर धार्मिक साहित्य एवं मनोरंजन हेतु नाटक-सट्टक, काव्य, कोश, अलंकार, कला, पुराण आदि लौकिक साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयोग किया गया। तत्पश्चात् अपभ्रंश के रूप को प्राप्त कर धार्मिक और लौकिक दोनों साहित्य में प्रयोग किया गया। यह अपभ्रंश भाषा भी आधुनिक भारत की विविध क्षेत्रीय भाषा बनी। इस प्रकार विस्तृत होने पर भी इस प्राकृतभाषा को मात्र भारत तक ही सीमित करना बड़ा प्रमाद होगा, क्योंकि यह प्राकृत भाषा भारत में अस्तित्व में रहने पर भी पश्चिम एशिया, मध्य एशिया, चीनादि देशों में विस्तृत प्रयोग में थी, जिसका निदर्शन के रूप में उपरोक्त उल्लेख ही सूचक है। आज भी वह परिवर्तित बोलचाल में प्रचलित है। इस प्रकार प्राकृत भाषा का सूक्ष्मता से अध्ययन करने से यह सिद्ध होता है कि प्राकृत भाषा की व्यापकता के विषय में कोई भी संदेह उद्भव ही नहीं होता है। यह भाषा वर्षों पूर्व सामान्य लोगों के बोलचाल की भाषा थी। उसी को परिमार्जित कर

वैदिक भाषा बनाई गयी। तत्पश्चात् यही परिष्कृत और परिमार्जित रूप प्राप्त करके संस्कृत भाषा बनी।

ईजिप्ट के उत्खनन में एक दिगम्बर जैन नग्नमूर्ति प्राप्त हुई थी, जिसे रेषफ् नाम से पुकारा जाता था। यह नाम जैनधर्म के प्रथम तीर्थंकर ऋषभ का ही है। इसी प्रकार रसिया, ग्रीक, मेक्सिको, कनाडा, थाईलैण्ड, बर्मा, इण्डोनेशिया, श्रीलंका देशों में भी दिगम्बर जैन नग्नमूर्तियाँ प्राप्त हुई थीं, जिनसे यह स्पष्ट होता है कि जैनधर्म सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त तथा यह जैनधर्म प्रागैतिहासिक है।

पुरातत्त्वों का सूक्ष्मतया परिशीलन करने से विविध देशों के सर्वोत्कृष्ट धार्मिक एवं सांस्कृतिक संकेत परिलक्षित होते हैं। उन परिशीलन में तथा जैनधर्म के अनुसार सिद्धपरमेष्ठी धार्मिक दृष्टि से सर्वोत्कृष्ट पद पर स्थित हैं। सिद्धशिला या सिद्धलोक ही इनका निवास स्थान है। जैनधर्म के अनुसार सर्व मुक्त जीव सिद्ध परमात्मा इसी पर स्थित रहते हैं। जैनधर्म की अपेक्षा यह सिद्धशिला ही सभी जीवों के लिए सर्वोत्कृष्ट सुख का धाम है। जैनधर्म में सिद्धशिला अर्धचन्द्राकार के रूप में चिह्नित है और उस पर भी जो ज्योति या नक्षत्र उल्लेखित है, वह सिद्धों की उपस्थिति का ही द्योतक है। यह चिह्न अनादिकाल से है। यह आश्चर्य प्रतीत होता है, वास्तव में इस प्रकार के चिह्न प्रस्तुत में विश्व के सर्वधर्मों में किसी न किसी संकेत रूप में हैं, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में अपने-अपने धर्मस्थान तथा राष्ट्रध्वज में चिह्नित है। इससे जैनधर्म की प्राचीनता एवं व्यापकता सिद्ध होती है।

इस्लाम धर्म में भी अर्धचन्द्र और उस पर एक बिन्दु है, जिसे वे भी अपने धर्म का एकमात्र विशिष्ट संकेत के रूप में मानते हैं। यही संकेत चीनी देश का कम्यूनिष्टध्वजा में भी प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि राष्ट्रों की ध्वजाओं में भी नक्षत्र का चिह्न चिह्नित है। यह चिह्न नयनों को आनन्द देने वाले चित्रों के रूप में चिह्नित नहीं है, अपितु एक सर्वोत्कृष्टता, सर्वोत्कृष्टपद, शाश्वतसुख, कर्म-संसार के दु:खों से मुक्ति स्थान प्राप्त मुक्तजीवों के संकेत के रूप में चिह्नित है।

अतएव प्राय: अधिकतम राष्ट्रों के ध्वजाओं में यही चिह्न चिन्हित

दिखाई देता है। ऐसे दिव्य, भव्य, मुक्तजीव अर्थात् सिद्ध-निराकार परमात्माओं का द्योतक है। इस कारण से इन नक्षत्र वाले ध्वजा को जमीन पर रखना, अपमानित करना, फाड़ना, ध्वस्त करना, उसको चढ़ाने और उतारने का जो समयप्रज्ञा का ध्यान न रखना अपराध एवं देशद्रोह माना जाता है।

कई राष्ट्रों की ध्वजाओं में पूर्णचन्द्र भी है, जो परिपूर्णता अर्थात् कृत्यकृत्यता-सार्थकता, कर्ममुक्त जीवन की परिपूर्णता, स्वतंत्रता, बन्धमुक्तता, उज्वलता, प्रकाशमान, प्रभास्वरूप, प्रभासमान, उदयमानसूर्य, दैदीप्यमाननक्षत्र, इन सभी का प्रतीक है।

इस प्रकार एक देश अथवा राष्ट्र की सर्वांगीण स्वतन्त्रता भौतिकता से पूर्ण नहीं होती, अपितु तात्त्विकता के धरातल पर साधनारूढ होने पर ही साध्यसिद्ध होती हे। ये संकेत यह उद्घोषित करते हैं कि शाश्वतसुख-मोक्षसुख प्राप्त करना ही मानवता का चरमध्येय है। तात्त्विक स्वतन्त्रता ही सामान्य स्वतंत्रता से श्रेष्ठ है। यह संकेत मानवता की संस्कृति की परिभावना है।

इस प्रकार जैनधर्म विश्वव्यापी धर्म था। परन्तु कालान्तर में इसी जैनधर्म से वैदिक परम्परा आदि भिन्न-भिन्न, मत, परम्पराएं उद्भव हुए, जिन्हें धर्म मानकर प्रचाार-प्रसार किया गया। वही शाखोपशाखाओं के रूप में मतान्तरित हुए। वास्तव में **अहिंसा परमो धर्मः** ही सभी जीवों का हित करने वाला एक ही धर्म है। अन्यमत जीवों का हित करने में समर्थ नहीं है। अतएव जैनशासन की **त्रैलोक्यहितकर्तृणां जिनानामेव शासनम्** के रूप में उद्घोषणा है।

संदर्भ :

1. इन्ट्रोडक्शन टु, अर्धमागधी- प्रो. ए. एम.घाटगे, पूना
2. अर्धमागधी- डॉ. ए.एन. उपाध्ये, प्रसारांग, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर
3. भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान- डॉ. हीरालाल जैन, जयपुर कन्नड अनु. - मिर्जी अण्णाराय, कर्नाटक
4. कान्फुयेन्स ऑफ आफोसिट्स- बैरिस्टर चम्पतराय जैन, कलकत्ता।
5. प्राकृत साहित्य का इतिहास- डॉ. जगदीश चन्द्र जैन
6. सिद्ध-हैम-शब्दानुशासन- प्रो. पी. एल. वैद्य, बी.ओ.आर.आय. मुम्बई 1970

7. जैनधर्म और इतिहास- पं. जुगलकिशोर मुख्तार, वीरसेवामंदिर, दरियागंज, दिल्ली
8. जैनधर्म- पं. कैलाशचन्द जैन
9. जैनिजम् दी ओल्डेस्ट लिविंग रिलीजन- डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, वाराणसी
10. विश्वधर्मद रूपरेषेगळु- मूल.-राष्ट्रसंत आचार्य विद्यानंद जी मुनिराज कन्नड़ अनुवाद- डॉ. एन. सुरेश कुमार, मैसूर
11. रिलिजन एण्ड कल्चर आफ दी जैन- डॉ. ज्योति प्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, नई दिल्ली, 1975
12. बाहुबली की राजधानी तक्षशिला-मूल.- आचार्य विद्यानंद जी महाराज, कन्नड अनुवाद- डॉ. सरस्वती विजय कुमार, मैसूर

- **प्राध्यापक,**
जैनशास्त्र एवं प्राकृत अध्ययन विभाग,
मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर (कर्नाटक)

नोट - (मूलकन्नड आलेख का हिन्दी अनुवाद डॉ. शान्तिसागर शास्त्री अतिथि व्याख्याता, जैनशास्त्र - प्राकृत अध्ययन विभाग मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर द्वारा किया गया है। अनुवादक को हार्दिक बधाई। - संपादक)

जैन परम्परा पोषित, भाव विशुद्धि की प्रक्रिया और ध्यान

- प्रो. अशोककुमार जैन

भारतीय संस्कृति में जैनधर्म प्राचीनतम धर्म है। इसमें अध्यात्म की प्रधानता है। जब संसारी जीव मिथ्यात्व का त्याग कर देता है तथा शरीरादि परद्रव्यों से विमुख होकर आत्मोन्मुख होता है तो उसके परिणामों में विशुद्धता वृद्धिंगत होती है। आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रवचनसार में लिखा है-

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं तम्मयत्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो।। प्रव.सार 1/8

द्रव्य जिस समय में जिस भावरूप से परिणमन करता है उस समय उस रूप है, इसलिए धर्म परिणत आत्मा को धर्म जानना चाहिए।

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो।। प्रव.सार 1/9

जीव जब शुभ भाव से परिणमन करता है तब स्वयं शुभ होता है वही जब जब अशुभ भाव से परिणमन करता है तब स्वयं ही अशुभ होता है और जब वही शुद्ध भाव से परिणमन करता है तब स्वयं शुद्ध होता है क्योंकि वह परिणमन स्वभाव वाला है। भावपाहुड में वर्णन है-

भावो य पढमलिंगं ण दव्वलिंग च जाण परमत्थं।
भावो कारणभूदो गुणदोसाणं जिणा विंति।। गाथा 2

भाव ही प्रथम लिङ्ग है, द्रव्य-लिङ्ग, परमार्थ नहीं है अथवा भाव के बिना द्रव्यलिङ्ग परमार्थ की सिद्धि करने वाला नहीं। गुण और दोषों का कारण भाव ही है ऐसा जिनेन्द्र भगवान जानते हैं।

भावविसुद्धिणिमित्तं वाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
वाहिरचाओ विहलो अब्भगंथस्स जुत्तस्स।। भावपाहुड 3

भावों की विशुद्धि ने लिए परिग्रह का त्याग किया जाता है। जो अंतरंग परिग्रह से सहित है उसका बाह्य त्याग निष्फल है।

भावेह भावसुद्धं अप्पा सुविसुद्धणिम्मलं चेव।
लुह चउगह चइऊणं जइ इच्छत सासयं सुक्खं॥ भावपाहुड 60

हे मुनिवर ! यदि तुम चारों गतियों को छोड़कर अविनाशी सुख की इच्छा करते हो तो शुद्ध भावपूर्वक अत्यन्त विशुद्ध और निर्मल आत्मा का ध्यान करो।

आत्मा भावना का भावयिता सतत आत्मा में वास करता है, वह आध्यात्मिक वैभव से सम्पन्न है, रत्नत्रयमय है। वीतरागता को धारण करने वाला ज्ञानी भव्यात्मा है। आत्मधर्म को स्वीकार करने वाला है। स्वाश्रित धर्म की उपादेय है, आगम इसे ही मान्यता देता है। देहाश्रित, क्षेत्राश्रित आदि अवस्थाओं को आत्मधर्म से भिन्न माना गया है। आचार्य पूज्यपाद कहते हैं-

त्यक्त्वैवं बहिरात्मानमन्तरात्मव्यवस्थितः।
भावयेत्परमात्मानं सर्वं संकल्पवर्जितम्॥ समाधिशतक 27

आचार्यदेव मुमुक्षु जीव को सम्बोधित करते हैं कि संकल्प-विकल्प की लहरें जब तक चित्त को विद्यमान रहेंगी, तब तक नाना भाव बनते रहेंगे, उस क्षण परमात्मा का ध्यान नहीं हो सकता। आत्म साधक को समस्त द्वन्द्वों से परे होकर स्वरूप का ध्यान करना चाहिए। जब तक निज स्वरूप का ध्यान नहीं होता, तब तक पञ्चपरमेष्ठी का सतत चित्त में ध्यान करना चाहिए क्योंकि इससे अंतःकरण की विशुद्धि होती है साधना की रक्षा हेतु सर्वप्रथम प्रारब्ध साधक के लिए चित्त पर नियन्त्रण करना अनिवार्य है। जो मात्र शरीर को निर्मंत्रित करता है। परन्तु मन पर कोई नियंत्रण नहीं रखता, वह अल्प समय का ही साधक है।

ज्ञान वैराग्य के द्वारा मन को स्थिर करना चाहिए। चित्त/मन के विषय को बदल देना चाहिए। जो मन अशुभ विषयों में प्रवृत्त है, उसे शुभ की ओर लगाना चाहिए। यह ध्रुव सत्य है कि मन स्थिर हुए बिना कर्मातीत अवस्था नहीं हो सकती।

तत्त्वसार में लिखा है-

समणे णियच्चलमूए णट्ठे सव्वे वियप्पसंदोहे।
थक्को सुद्धसहावो अवियप्पो णिच्चलो णिच्चो॥ 1/7

अपने मन के निश्चयभूत होने पर सर्व विकल्प समूह के नष्ट होने पर विकल्परहित। निर्विकल्प, निश्चय, नित्य शुद्ध स्वभाव स्थिर होता है। चित्त में स्थिर होने से योगियों को ब्रह्मस्वरूप की प्राप्ति अवश्य ही होती है।

चित्त में स्थिरता के लिए कषायों का त्याग अनिवार्य है। स्वरूप सम्बोधन में लिखा है-

कषायैः रंजितं चेतस्तत्त्वं नैवावगाहते।
नीलीरक्तेऽडम्बरे रागो दुराधेयो हि कौङ्कुमः।। 17।।

कषायों से रंजित चित्त तत्त्व का अवगाहन नहीं कर सकता। नीले रंग के कपड़े पर कुंकुम का रंग निश्चित ही नहीं चढ़ सकता। प्रवचनसार में वर्णन है-

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्ध।। 1/79

पाप का कारण आरम्भ को छोड़कर अथवा शुभ आचरण में प्रवर्तता हुआ जो पुरुष यदि मोह, राग, द्वेषादिकों को नहीं छोड़ता है वह पुरुष शुद्ध अर्थात् कर्मकलङ्क रहित शुद्ध जीव द्रव्य को नहीं पाता।

आचार्य नेमिचन्द्र ने लिखा है-

मा मुज्झह मा रज्जहं मा इसहं इट्ठणिट्ठअट्ठेसु।
थिरमिच्छहि जइ चित्तं विचित्तझाणप्पिसिद्धीए।।

- द्रव्यसंग्रह गा. 48

हे भव्यजनो! यदि तुम नाना प्रकार के ध्यान अथवा विकल्प रहित ध्यान की सिद्धि के लिए चित्त को स्थिर करना चाहते हो तो इष्ट तथा अनिष्ट रूप जो इन्द्रियों के विषय हैं उनमें राग, द्वेष और मोह को मत करो।

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स।
जामदि विविहो बंधो तम्हा तं संखवइयव्वा। प्रव.सार 1/84

मोह भाव से अथवा राग भाव से अथवा दुष्ट भाव से परिणमते हुए जीव के अनेक प्रकार कर्मबन्ध उत्पन्न होता है इसलिए वे राग, द्वेष और मोह भाव मूल सत्ता से क्षय करने योग्य है।

आचार्य पूज्यपाद आत्मा के भेदों को निरूपित करते हुए कहते हैं-

बहिरन्तः परश्चेति त्रिधाऽऽत्मा सर्वदेहिषु।
उपेयात्तत्र परमं मध्मोपायाद्बहिस्त्यजेत्।। समाधिशतक 4

सर्व प्राणियों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा इस तरह तीन प्रकार की आत्मा है। उनमें से बहिरात्मपने को छोड़ना चाहिए और अन्तरात्मा रूप उपाय से परमात्मपने का साधन करना चाहिए।

जीवों में जो मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थान बताये हैं उनमें पहले तीन गुणस्थान तक के जीव तो बहिरात्मा है अर्थात् मिथ्यात्व सासादन, मिश्र, गुणस्थानवर्ती जीव बहिरात्मा है। अविरत सम्यग्दृष्टि नाम के चौथे गुणस्थान से लगाकर क्षीणमोह नाम के बारहवें गुणस्थान तक के जीव अन्तरात्मा हैं। उनमें चौथे गुणस्थान वाले जघन्य, पांचवें व छठे गुणस्थान वाले मध्यम तथा ध्यान में लीन सातवें से बारहवें गुणस्थान वाले जीव उत्तम अन्तरात्मा है। तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान वाले जीव शरीर सहित परमात्मा हैं तथा सिद्ध शरीर रहित परमात्मा है।

आत्मा का शुद्ध स्वभाव अर्थात् परमात्म अवस्था ही उपादेय है तथा उसकी प्राप्ति के लिए जो अन्तरात्म अवस्था है, वह भी साधन रूप में उपादेय है। अतएव भव्य जीव को मिथ्याबुद्धि छोड़कर यथार्थ बात को जानकर अपनी निर्मल शक्ति का ध्यान करना चाहिए।

जैन सिद्धान्त में तीन प्रकार के उपयोग कहे गये हैं। वे हैं शुद्धोपयोग, शुभोपयोग और अशुभोपयोग। प्रवचनसार में लिखा है-

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो।
पावदि णिव्वासुहं सहोवजुत्तो व सग्गसुहं।। 1/11

जब यह आत्मा धर्म-परिणत स्वभाव वाला होकर शुद्धोपयोग रूप परिणति को धारण करता है तब विरोधी शक्ति (राग भाव) से रहित होने के कारण अपना कार्य करने में समर्थ चारित्र वाला हुआ साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है किन्तु जब वही आत्मा धर्मपरिणत स्वभाव वाला होता हुआ भी शुभोपयोग रूप परिणति से युक्त होता है- सराग चारित्र को धारण करता है- तब विरोधी शक्ति (राग भाव) से सहित होने के कारण अपना कार्य करने में असमर्थ व कथंचित् विरुद्ध कार्य करने वाले चारित्र

से युक्त होकर स्वयं सुखरूप बन्धन को प्राप्त होता है। उदाहरणार्थ- जैसे अग्नि से सन्तप्त घी से सिक्त जला हुआ पुरुष जलन से दुःख को प्राप्त करता है इसलिए शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।

छठे से बारहवें गुणस्थान तक के मुनि को अभेददृष्टि से चारित्र परिणत आत्मा कहते हैं। उसी को भेद-दृष्टि के सातवें से बारहवें तक शुद्धापयोगी या वीतराग चारित्र का धारी कहते हैं जिसका फल साक्षात् मोक्ष है और छठे में शुभोपयोगी या सराग चारित्र वाला कहते हैं जिसका फल (परम्परा मोक्ष होने पर भी) साक्षात् पुण्यबंध रूप स्वर्ग है। इस सम्बन्ध में कथञ्चित् शब्द ध्यातव्य है।

शुद्धोपयोग परिणत आत्मस्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है-

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणियो सुद्धोवओगो त्ति॥

प्रवचनसार 1/14

इस गाथा में पांच विशेषणों से युक्त श्रमण शुद्धोपयोगी कहा जाता है वे इस प्रकार है-

1. सूत्रों के अर्थ के ज्ञान के बल से स्व द्रव्य और पर द्रव्य के विभाग के परिज्ञान में, श्रद्धान और विधान में समर्थ होने के कारण से भलीभांति जान लिया है पदार्थों को जिसने।

2. समस्त छह जीव निकाय के हनन के विकल्प से और पंचेन्द्रिय (सम्बन्धी) अभिलाषा के विकल्प से (आत्मा) को व्याकृत करके आत्मा के शुद्ध-स्वरूप संयम करने से संयम-युक्त हैं।

3. स्वरूप विश्रान्त निस्तरंग चैतन्य प्रतपन होने से जो तपयुक्त है।

4. सकल मोहनीय के विपाक से भेद की भावना की उत्कृष्टता से निर्विकार आत्मस्वरूप को प्रगट किया होने से जो वीतरागी है।

5. परम कला के अवलोकन के कारण (आत्मा में लीनता के कारण) साता वेदनीय और असातावेदनीय के विपाक से उत्पन्न होने वाले जो सुख दुःख - उन सुख-दुःख जनित परिणामों के विषमता का अनुभव नहीं होने से जो समसुख-दुःख है। यह शुद्धोपयोग मुख्यतया बारहवें गुणस्थान में परिणत मुनि के होता है परन्तु गौणतया सातवें से बारहवें गुणस्थान तक

के मुनि के होता है।

जो उपयोग विशुद्ध है उसके समस्त ज्ञानावरण दर्शनावरण तथा अन्तराय के नष्ट हो जाने से निर्विघ्न विकसित आत्मशरणवान् स्वयमेव होता हुआ सब पदार्थों को जान लेता है। भाव यह है कि सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग प्रारम्भ हो जाता है। फिर प्रत्येक गुणस्थान में उसकी शक्ति बढ़ती चली जाती है जिस दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म प्रायः नष्ट जाता है। जब वह शुद्धोपयोग पूर्ण क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में पहुंचता है तो उस शुद्धता में शेष तीन घातिया कर्मों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। घातिया कर्मों के नष्ट होने पर स्वभाव स्वयं प्रगट हो जाता है और आत्मा सर्वज्ञ बनकर सब ज्ञेयों को जान लेता है।

शुभोपयोग के वर्णन में आचार्य कुन्दकुन्द लिखते हैं-

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा।। प्रवचनसार 1/69

देव, यति और गुरु की पूजा में, दान में तथा सुशीलों में और उपवासादिकों में लीन आत्मा शुभोपयोगात्मक है।

जो सर्व दोष रहित परमात्मा है, वह देवता है, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध आत्मा के स्वरूप में साधन में उद्यमवान् है वह यति है। जो स्वयं निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय का आराधना करने वाला है और ऐसी आराधना के इच्छुक भव्यों को जिन दीक्षा का देने वाला है वह गुरु है। इन देवता और गुरुओं की तथा उनकी मूर्ति आदिकों की यथासम्भव द्रव्य और भावपूजा करना, आहार, अभय, औषधि और विद्यादान ऐसा चार प्रकार का दान करना, शीलव्रतों को पालना तथा जिनगुण सम्मत्ति को आदि लेकर अनेक विधि विशेष से उपवास आदि करना, इतने शुभ कर्मों में लीनता करता हुआ तथा द्वेष रूप भाव व विषयों के अनुराग रूप भाव आदि अशुभ उपयोग से विरक्त होता हुआ जीव शुभोपयोगी होता है।

यहाँ आचार्य ने शुद्धोपयोग में प्रीतिरूप शुभोपयोग का स्वरूप बताया है अथवा अरहंत सिद्ध परमात्मा के मुख्य ज्ञान और आनन्द स्वभावों का वर्णन करके उन परमात्मा ने आराधन की सूचना की है

अथवा मुख्यता से उपासक का कर्त्तव्य बताया है। शुभोपयोग तीव्र कषायों के अभाव में होता है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने लिखा है-

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चितः सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरञ्जनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासनः।।

स्वयंभूस्तोत्र 5

वह जगत को देखने वाले, साधुओं से पूजनीय पूर्ण ज्ञानमय देह के धारी, निरञ्जन व अल्पज्ञानी अन्यवादियों के मत को जीतने वाले श्री नाभिराज के पुत्र श्री वृषभ जिनेन्द्र मेरे चित्त को पवित्र करो। भावों की निर्मलता होने से जो शुभ राग होता है, वह तो अतिशय पुण्यकर्म को बांधता है, जो मोक्ष-प्राप्ति में सहकारी कारण होते हैं। जैसे तीर्थंकर, उत्तमसंहनन आदि। शुभोपयोग में वर्तन करने से उपयोग अशुभोपयोग से बचा रहता है तथा यह शुभोपयोग शुद्धोपयोग में पहुंचने के लिए सीढ़ी है। इसलिए शुद्धोपयोग की भावना करते हुए शुभोपयोग में वर्तना चाहिए। वास्तव में शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि में ही होता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग को इस बात में उपादेय मानकर उसी की भावना से प्राप्ति के लिए अरहंत भक्ति आदि शुभोपयोग मार्ग में वर्तना चाहिए।

पुण्यजन्य इन्द्रिय सुख में अनेक प्रकार से दुःख को बताते हुए आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है-

सपरं बाधासहिदं विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा। प्रवचनसार 1/76

अर्थात् पर सम्बन्ध-युक्त होने से, बाधा सहित होने से, विच्छिन्न होने से, बन्ध का कारण होने से, विषम होने से पुण्य-जन्य भी इन्द्रिय सुख दुःखरूप ही है।

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो।। प्रवचनसार 1/77

इस प्रकार पुण्य और पाप में अन्तर नहीं है इस बात को जो नहीं मानता है वह मोह से आच्छादित होता हुआ घोर अपार संसार में परिभ्रमण करता है।

विशेष यह है कि द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप में व्यवहारनय से भेद है। भाव पुण्य और भाव पाप में तथा पुण्य के फलस्वरूप सुख और दु:ख में अशुद्ध निश्चयनय से भेद है परन्तु शुद्ध निश्चयनय के ये द्रव्यनय पापादिक सब शुद्ध आत्मा ने स्वभाव से भिन्न हैं, इसलिए इन पुण्य पापों में कोई भेद नहीं है। इस तरह शुद्ध निश्चय नय से पुण्य व पाप की एकता को जो कोई नहीं मानता है वह इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, कामदेव आदि ने पदों के निमित्त निदान बन्ध से पुण्य को चाहता हुआ मोह रहित शुद्ध आत्मतत्त्व से विपरीत दर्शन मोह तथा चारित्र मोह से ढका हुआ सोने और लोहे की बेड़ियों ने समान पुण्य-पाप दोनों से बंधा हुआ संसार रहित शुद्धात्मा से विपरीत संसार में भ्रमण करता है।

मोह के नाश के उपाय के सम्बन्ध में लिखा है-

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधितव्वं।। प्रव.सार 1/86

जिन शास्त्र से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से पदार्थों को जानने वाले पुरुष के नियम से मोह समूह नष्ट हो जाता है इस कारण से शास्त्र सम्यक् प्रकार से अध्ययन करने योग्य हैं।

अशुभ उपयोग, विकार रहित शुद्ध आत्म तत्त्व की रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व से तथा उस ही शुद्ध आत्मा में क्षोभ रहित चित्त का वर्तनारूप निश्चय चारित्र से विलक्षण या विपरीत है। विपरीत अभिप्राय से पैदा होता है तथा देखे, सुने, अनुभव किये हुए पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छामय तीव्र संक्लेश रूप है, ऐसे अशुभ उपयोग से जो पाप कर्म बांधे जाते हैं, उनके उदय होने से यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध आत्मा के आनन्दमयी पारमार्थिक सुख में विरुद्ध दु:ख से दु:खी होता हुआ व अपने स्वभाव की भावना से गिरा हुआ संसार में भ्रमण करता है। अशुभ के उदय से आत्मा हीन मनुष्य, तिर्यञ्च या नारकी होकर हजारों दु:खों से निरंतर पीड़ित होता हुआ संसार में अत्यन्त दीर्घ काल तक भ्रमण करता है।

विशुद्ध ध्यान कब होता है इस सम्बन्ध में चारित्रप्राभृत में लिखा है-

पव्वज्ज संगचाए पयट्ट सुतवे सुसंजमे भावे।
होइ सुविसुद्धझाणं णिम्मोहे वीयरायत्ते।। गाथा 15

हे जीव ! तू वस्त्रादि परिग्रह का त्याग होने पर दीक्षा में प्रवृत्त हो और उत्तम संयम भाव के होने पर सुतप में प्रवृत्ति कर। जो मनुष्य निर्मोह होता है उसी के वीतरागता होने पर उत्तम विशुद्ध ध्यान होता है।

द्रव्यसंग्रहकार लिखते हैं-

मा चिट्ठह मा जंपह मा चिंतह किंवि जेण होइ थिरो।
अप्पा अप्पम्मि रओ इणमेव परं हवे ज्झाणं।। गाथा 56

हे ज्ञानीजनो ! तुम कुछ भी चेष्टा करो अर्थात् काम के व्यापार को मत करो, कुछ भी मत बोलो और कुछ भी मत विचारो जिससे कि तुम्हारा आत्मा अपने आत्मा में तल्लीन स्थिर होवे, क्योंकि जो आत्मा में तल्लीन होता है वही परम ध्यान है।

आचार्य जिनसेन के अनुसार-

योगो-ध्यानं समाधिश्च धीरोधः स्वान्तनिग्रहः।
अन्तःसंलीनता चेति तत्पर्यायाः स्मृता बुधैः।। आदिपुराण 21/1

योग, ध्यान, समाधि, धीरोध अर्थात् बुद्धि की चञ्चलता रोकना, स्वान्तनिग्रह, अर्थात् मन को वश में करना और अन्तःसंलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना आदि सब ध्यान के पर्यायवाचक शब्द हैं।

सर्वार्थसिद्धि में भी योग को समाधि कहा गया है। चित्तविक्षेप के त्याग अथवा एकाग्रता को ध्यान कहते हैं। इष्टानिष्ट बुद्धि के हेतु मोह का छेद हो जाने से चित्त स्थिर हो जाता है उस चित्त की स्थिरता को ध्यान करते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने लिखा है-

जस्स ण विज्जदि रागो दोसो मोहो ण योगपरिकम्मो।
तस्स सुहासुहडहणो झाणमओ जायए अग्गी।।

(पंचास्ति. गा.146)

जिसके राग, द्वेष, मोह नहीं है तथा जो मन, वचन, काय रूप योगों के प्रति उपेक्षा बुद्धि वाला है उस जीव के शुभाशुभ कर्मों को जलाने वाली ध्यान रूपी अग्नि उत्पन्न होती है।

जो इच्छइ निस्सरिदुं संसारमहण्णवस्स संदस्स।
कम्मिंधणाण डहणं सो झायइ अप्पयं सुद्दं।। मोक्षप्राभृतम् 26

जो मुनि अत्यन्त विस्तृत संसार महासागर से निकलने की इच्छा करता है वह कर्मरूपी ईंधन को जलाने वाले शुद्ध आत्मा का ध्यान करता है।

सव्वे कसाय मोत्तुं गारवमयरायदोसवामोहं।
लोय ववहारविरदो अप्पा झाएइ झाणत्थो।। मोक्षप्राभृत 27

ध्यानस्थ मुनि समस्त कषायों और गारव मय रागद्वेष तथा व्यामोह को छोड़कर लोकव्यवहार से विरत होता हुआ आत्मा का ध्यान करता है।

मिथ्यात्व, अज्ञान, पाप और पुण्य को मन, वचन, काय रूप त्रिविध योगों से जोड़कर जो योगी मौनव्रत से ध्यानस्थ होता है वही आत्मा को द्योतित करता है- प्रकाशित करता है, आत्मा का साक्षात्कार करता है।

मूलं शुद्धोपयोगः परमसमरसीभावदृक्स्कन्धबन्धः
शाखा सम्यक्चरित्रं प्रसृमरविलसत्पल्लवाः क्षान्तिभावाः।।
छाया शान्तिः समन्तात्सुरभितकुसुमः श्रीचिदानन्दलीला,
भूयात्तापोपशान्त्यै शिवसुखफलिनः संश्रयो योगिगम्यः।।

- वैराग्यमणिमाला 24

जिस वृक्ष की जड़ें शुद्धपयोग की हैं, जिसका श्रेष्ठ समताभाव तथा श्रद्धारूपी तना है, जिसमें सम्यक्चारित्र की शाखायें हैं, जिसमें समताभाव के कोमल सुन्दर पत्ते हैं, जिसकी सर्वत्र शान्तिरूपी छाया है, ऐसा योगियों द्वारा प्राप्य शिवसुखरूपी वृक्ष का आश्रम संसार के ताप की शान्ति के लिए हो।

सिद्धिश्रीसंङ्गसौख्यामृतरसभरितः सच्चिदानन्यरूपः।
प्राप्तः पारं भवाब्धेर्गुणमणिनिकरोद्भूरिरत्नाकरोऽपि।।
चैतन्योल्लासिलीलासमयमुपगतः प्राप्तसम्पूर्णशर्मा,
योगीन्द्रैर्बोधिलब्धः परमसमरसीभावगम्यः सुरम्यः।।

- वैराग्यमणिमाला 25

जो मुक्तिरूपी लक्ष्मी के संग से उत्पन्न होने वाले सुखरूपी अमृत से भरा हुआ है, सत् चित् आनन्द रूप है, संसार सागर के पार को प्राप्त है, गुणरूपी मणिसमूह की उत्पत्ति के लिए विशाल रत्नाकर समुद्रस्वरूप होकर भी, चैतन्यगुण की उत्तम लीला के समय को प्राप्त है, जिसने समस्त सुख प्राप्त कर लिया है, बड़े-बड़े योगी जिसे रत्नत्रय द्वारा प्राप्त करते हैं और जो अतिशय रमणीय है ऐसा शुद्धात्मा परमसमरसीभाव मोह क्षोभ से रहित शुद्धात्म परिणति से प्राप्त किया जा सकता है।

- आचार्य, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग
संस्कृत विद्या धर्मविज्ञान संकाय,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-221005

समयपाहुड

वंदित्तु सव्व सिद्धे धुवममलमणोवमं गदिं पत्ते।
वोच्छामि समयपाहुडमिणमो सुदकेवली भणिदं॥1॥

मैं ध्रुव (शाश्वत), अमल (द्रव्यकर्म, भावकर्म और नोकर्म से रहित), अनुपम (उपमा रहित) गति को प्राप्त सब सिद्धों को वन्दन करके श्रुत केवली द्वारा भणित (प्रतिपादित) इस समयपाहुड को कहूँगा।

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पुग्गल कम्मुवदेसट्ठियं च तं जाण परसमयं॥2॥

जो जीव निश्चय से चारित्र, दर्शन और ज्ञान में स्थित (परिणत) है, उसको स्वसमय जानो और पुद्गल कर्म के उपदेश में स्थित (जीव) को परसमय जानो।

ज्ञानार्णव में वर्णित स्त्री स्वरूप और उनकी युक्ति-युक्तता

-डॉ. सतेन्द्र कुमार जैन

'संसरण इति संसार:' उक्ति के अनुसार इस संसार में प्रत्येक जीव विचरण करता है। इनमें वैराग्य के लिए तीन कारणों को छोड़ना आवश्यक है। संसार, शरीर और भोग। इन तीन कारणों से विरक्ति आने पर ही संसार से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है। इन तीन कारणों के अन्तर्गत भोगों के प्रसंग में स्त्री भोगों की विरक्ति के प्रसंग में आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव में स्त्रियों के दोषों का कथन किया है। पूज्यवर आचार्य शुभचन्द्र जी का आशय स्त्री समूह से विरक्ति का था न कि स्त्रियों की निन्दा से। स्त्रियों के दोषों का कथन करने के प्रमुख आशय तप में श्रेष्ठ, साधुवृत्ति में रत, साधकों को भविष्य में कभी स्त्री संबंधी राग उत्पन्न न हो तथा स्त्रियों में रत श्रावकों को स्त्रियों के स्वरूप का ज्ञान कराकर उन्हें संसार के कारणों से वैराग्य दिलाना है। आचार्य शिवार्य ने स्त्रियों से विरक्ति के संबंध में कहा है कि- काम विकार से उत्पन्न हुए दोष, स्त्रियों के द्वारा किए गए दोष, शरीर की अशुचिता, वृद्धजनों की सेवा तथा स्त्री के संसर्ग से उत्पन्न हुए दोष इनके चिन्तन से स्त्रियों में वैराग्य उत्पन्न होता है।[1]

स्त्री का स्वरूप-

स्त्री शब्द की निष्पत्ति स्त्यै + डप् +ङीप् प्रत्यय लगने से हुई है[2] जिसका अर्थ मादा है। इसी विषय में पंचसंग्रह प्राभृत में कहा है कि-

छादयति सयं दोसेण जदो छादयति परं पि दोसेण।
छादणसीला णियदं तम्हा सा वण्णिया इत्थी।।

अर्थात् जो दोषों से अपने आपको आच्छादित करे और मधुर संभाषण आदि के द्वारा दूसरों को भी दोष से आच्छादित करें, वह निश्चय से आच्छादन स्वभाववाली स्त्री है।[3] मानो ब्रह्मा ने यमराज की जिह्वा, अग्नि

की ज्वाला, वज्र, बिजली और विष के अंकुरों को लेकर इस स्त्री को निर्मित किया है।

ब्रह्मा ने आपत्तियों की वागुरा (मृगों के फँसाने का जाल) स्वरूप जो इस स्त्री की रचना की है, वह मानो उसने कुतूहल से लोक के भीतर रहने वाले प्राणिसमूह को एकत्रित करने के लिए ही की है।[4]

स्त्री के पर्यायवाची शब्दों की सार्थकता-

पुरिसं वधमुवणेदित्ति होदि बहुगा णिरुत्तिवादम्मि।
दोसे संघादिंहि य होदि य इत्थी मणुस्सस्स।।
तारिसओ णत्थि अरी णरस्स अण्णोत्ति उच्चदे णारी।
पुरिसं सदा पमत्तं कुणदित्ति य उच्चदे पमदा।।
गलए लायदि पुरिसस्स अणत्थं जेण तेण विलया सा।
जोजेदि णरं दुक्खेण तेण जुवदी य जोसा ये।।
अबलत्ति होदि जं से ण दढं हिदयम्मि धिदिबलं अत्थि।
कुम्मरणोपायं जं जणयदि तो उच्चदि हि कुमारी।।
आलं जणेदि पुरिसस्स महल्लं जेण तेण महिला सा।
एयं महिलाणामाणि होंति असुभाणि सव्वाणि।।[5]

अर्थात् स्त्री वाचक शब्दों की निरुक्ति के द्वारा भी स्त्री के दोष प्रकट होते हैं। पुरुष का वध करती है इसलिए उसे वधू कहते हैं। मनुष्य में दोषों को एकत्र करती है, इसलिए स्त्री कहते हैं। मनुष्य का ऐसा अरि शत्रु दूसरा नहीं है, इसलिए उसे नारी कहते हैं। पुरुषों को सदा प्रमत्त करती है, इसलिए उसे प्रमदा कहते हैं। पुरुष के गले में अनर्थ लाती है अथवा पुरुषों को देखकर विलीन होती है, इसलिए विलया कहते हैं। पुरुषों को दु:ख से योजित करती है, इससे युवती और योषा कहते हैं। उसके हृदय में धैर्यरूपी बल नहीं होता अत: वह अबला कही जाती है। कुमरण का उपाय उत्पन्न करने से कुमारी कहते हैं। पुरुषों पर आल अर्थात् दोषारोप करती है इसलिए महिला कहते हैं। पुरुषों को पतित करती है, इसलिए पत्नी कहलाती है। इस प्रकार स्त्रियों के सब नाम अशुभ होते हैं।

स्त्रियों के आभूषण एवं विरक्ति-

स्त्रियों की साज-सज्जा और सौन्दर्य पुरुषों को आकर्षित करने का

गुण है। स्त्रियाँ अपने मस्तक पर बिन्दी धारण करती हैं, मानो उन्होंने पुरुषों को वशीकरण करने के लिए तिलक धारण किया है। गले में हार पुरुष के मन को हरने के लिए धारण किया है अर्थात् पराजित करने के लिए पहना है। केशों का विघटन करके मानों संस्कारों का त्याग किया है। नूपुर की आवाज से पुरुष को आकर्षित करती है, मानो संसार के सारे कोलाहल के लिए उसे बधिर किया हो। स्त्रियों ने पुरुषों को अपने बाजुओं में बांधने के संकल्प स्वरूप बाजूबंद धारण किया है। स्त्रियों ने अपने मस्तक पर सिन्दूर धारण मानों पुरुषों पर विजय प्राप्ति के सूचक रूप में धारण किया है। इस प्रकार स्त्रियाँ पुरुषों को अपने आधीन करने के लिए ही सारे शृंगार आदि करती हैं, तो पुरुष उनके आधीन होकर अपनी स्वतंत्रता क्यों समाप्त करना चाहते हैं।

स्त्रियों के अंगों की प्रवृत्ति एवं विरक्ति -

कामी स्त्रियों के प्रत्येक अंग काम का प्रदर्शन करते हैं। जिस कारण पुरुष उस पर आसक्त हो जाए। सुदर्शन चरित्र में सुदर्शन सेठ पर वेश्या द्वारा उपसर्ग में कामुक मुद्रा में स्त्रियों के हावभाव का वर्णन किया है। आचार्य शुभचन्द्र ने कहा है कि कामदेव का निवास स्त्रियों में होता है, मानों कामदेव ने प्राणी समूह को स्त्री रूपी अथाह कीचड़ में डुबा दिया है। मानों कामदेव ने स्त्रियों के माध्यम से प्राणिसमूह को काम से व्यथित किया है। स्त्रियाँ अपने नेत्र के कटाक्ष से पुरुषों के मन को आघात पहुँचाती है, मानों कामदेव ने कटीले नेत्र से उनके पवित्र मन को अशान्त कर दिया है। अपने केश संस्कार से संस्कारित मानी जाने वाली कामी स्त्रियाँ केश बंधन को खोलकर मानों संस्कारों से रहित होकर पुरुषों के मन को आकर्षित कर असंस्कार के समुद्र में डुबो रही है। स्त्री के जघनस्थान में नव लाख जीव होते हैं। जिसका भोग पापकारक है। इस विषय में ज्ञानार्णवकार ने वर्णन किया है -

वरमाज्यच्छटोन्नद्धः परिरब्धो हुताशनः।
न पुनर्दुर्गतेर्द्वारं योषितां जघनस्थलम्।।[७]

अर्थात् घी के समूह से सींची गई अग्नि का आलिंगन करना, चलती हुई चंचल जिह्वावाली क्रुद्ध सर्पिणी का आलिंगन करना कहीं श्रेष्ठ

है, परन्तु नरकादि दुर्गति के द्वारभूत स्त्रियों के जघनस्थान का कुतूहल पूर्वक भी आलिंगन करना अच्छा नहीं है। जिस स्त्री को प्राप्त करके तुझे नरक की वेदना सहनी पड़ेगी। उसकी जब बात करना भी प्रशंसनीय नहीं है, निन्दनीय है। तब भला उसका आलिंगन आदि तो प्रशंसनीय हो ही कैसे सकता है? यह स्त्री वज्राग्नि की रेखा के समान अथवा सर्प की विषैली दाढ़ के समान मनुष्यों को केवल सन्ताप और भय को ही दिया करती है। आलिंगन की गई अग्नि की ज्वाला मनुष्यों के हृदय में वैसे दाह को नहीं देती है। जैसे दाह को यह इन्द्रिय विषयों को कुपित करने वाली स्त्री दिया करती है।[8] ऐसे पापकारक स्थानों का स्पर्श, मन में चिन्तन तथा वचनों से अपलाप करना भी पाप का कारण है।

इसी प्रकार स्त्रियों के स्तन को घृणित तथा अधम गति में ले जाने वाला कहा है -स्त्री के जो दोनों उन्नत स्तन नीचे की ओर झुके रहते हैं, वे मानो यही प्रकट करते हैं कि-स्त्री के शरीर के साथ संयोग को प्राप्त होकर उन्नत पुरुष भी नीचे गिरेगें, अधोगति को प्राप्त होगें। जैसे कि उसके शरीर से संयुक्त होकर हम दोनों (स्तन) भी नीचे गिर गए।[9] स्त्रियों का संस्कार अंजन अर्थात् काजल भी है, जो वश में करने के लिए लगाया जाता है[10] तथा अंजन से स्त्रियों के नेत्र कटाक्ष पूर्ण तथा स्त्रियों के चंचल भावों को प्रदर्शित करने में अक्षम होते हैं अर्थात् उनके चंचल मनो भावों को दबाकर स्त्रियों के कामुक भावों को प्रदर्शित करते हैं। स्त्रियों के अधरोष्ठ काम उत्पत्ति में एक निमित्त है, वह संकेत देता है कि -जिस प्रकार अधरोष्ठ अपरोष्ठ से सदैव प्रताड़ित होता है। उसी प्रकार स्त्री में आसक्त पुरुष सदैव स्त्रियों से प्रताड़ित होता है। आचार्य शिवार्य ने स्त्रियों के द्वारा पुरुषों का अनादर करने के विषय में कहा है कि-

जह जह मण्णेइ णरो तह तह परिभवइ तं णरं महिला।
जह जह कामेइ णरो तह तह पुरिसं विमाणेइ॥[11]

जैसे-जैसे पुरुष स्त्री का आदर करता है, वैसे-वैसे स्त्री उसका निरादर करती है। जैसे-जैसे मनुष्य उसकी कामना करता है, वैसे-वैसे वह पुरुष की अवज्ञा करती है।

स्त्रियों के भेद-

संसार में स्त्रियाँ जन्म से एक ही तरह की होती हैं, परन्तु जैसे-जैसे उसमें दायित्व और कर्तव्यों का भार आ जाता है, वैसे-वैसे उसमें भिन्नता प्रकट होने लगती है। इस प्रकार स्त्रियों के निम्न प्रकार हैं- **धर्मपत्नी, भोगपत्नी, दासीपत्नी, परस्त्री, वेश्यादि।**

धर्मपत्नी उसे कहते हैं, जो पति के साथ धर्मानुष्ठान आदि सभी धार्मिक क्रियाओं के साथ सांसारिक क्रियाओं में सहभागिता प्रदान करती है। भोगपत्नी में धर्मादि क्रियाओं का अभाव होता है, वे मात्र भोग के साधनों में ही अपना जीवन यापन कर देती हैं। दासीपत्नी वे कहलाती हैं, जिन्हें दासी के पद पर ही स्वामी पुरुष के द्वारा भोगा तो गया है, परन्तु धर्मपत्नी के योग्य पद प्रदान नहीं किया गया है। ये भोगपत्नी से निम्न श्रेणी में अवगणित है। अपनी पत्नी के अतिरिक्त संसार की समस्त स्त्री समूह परस्त्री कहलाती हैं। वेश्या को नगरनारी की संज्ञा भी दी जाती है। ये वेश्याएँ कार्य करने के अनुसार दो प्रकार की कही जाती हैं। प्रथम वर्ग में वे स्त्रियाँ जो राजादि के समस्त नृत्य, गानादि के द्वारा जनसमूह का मनोरंजन किया करती हैं। इनमें भोगों की प्रधानता नहीं होती है। इनके द्वारा शारीरिक व्यापार नहीं किया जाता है। ये मात्र अपनी कला से ही धनोपार्जन किया करती हैं। इनकी प्रधान वेश्या को गणिका कहते हैं तथा द्वितीय वर्ग में वे वेश्याएँ, जो शारीरिक भोग के द्वारा लोगों से धनोपार्जन करती है। इस प्रकार स्त्रियों के कई प्रकार होते हैं।

स्त्रियों के दुर्गुण -

निर्दयता, दुष्टता, मूर्खता, अतिशय चपलता, धोखादेही और कुशीलता ये दोष स्त्रियों के स्वभाव से उत्पन्न होने वाले हैं।[12] स्त्री रागद्वेष का घर है। असत्य का आश्रय है। अविनय का आवास है। कष्ट का निकेतन है और कलह का मूल है। शोक की नदी है। वैर की खान हैं। क्रोध का पुंज है। मायाचार का ढेर है। अपयश का आश्रय है। धन का नाश करने वाली है। शरीर का क्षय करती है। दुर्गति का मार्ग है। अनर्थ के लिए प्याऊ है और दोषों का उत्पत्ति स्थान है। स्त्री धर्म में विघ्न रूप है। मोक्षमार्ग के लिए अर्गला हैं, दु:खों की उत्पत्ति का स्थान है और सुखों के लिए विपत्ति है।

स्त्री पुरुष को बाँधने के लिए पाश के समान है। मनुष्य को काटने के लिए तलवार के समान है। बींघने के लिए भाले के समान है और डूबने के लिए पंक के समान है।[13] यह स्त्री दु:खों की गहरी खान, लड़ाई और भय की जड़, पाप की कारण, शोक की जड़, तथा नरक की कारण है।[14]

स्त्री मनुष्य के भेदने के लिए शूल के समान है। छेदने के लिए तलवार जैसी तथा पेलने के लिए दृढ़ यंत्र कोल्हू जैसी, संसार रूपी समुद्र में गिरने के लिए नदी के समान है। खपाने के लिए दलदल के समान है। मारने के लिए मृत्यु के समान है। जलाने के लिए आग के समान है। मदहोश करने के लिए मदिरा के समान है। काटने के लिए आरे के समान है। पकाने के लिए हलवाई के समान है। विदारण करने के लिए फरसा के समान है। तोड़ने के लिए मुद्गर के समान है, चूर्ण करने के लिए लुहार के घन के समान है।[15] काम से कलंकित स्त्रियाँ जिस घोर पाप को करती हैं, वह न देखा गया है, न सुना गया है, न जाना गया है, और न शास्त्रों में चर्चा का विषय भी बना है। जो पुरुष कुल, जाति एवं गुण से भ्रष्ट, निन्द्य, दुराचारी, छूने के अयोग्य और हीन होता है, वह प्राय: स्त्रियों को प्रिय लगता है।[16]

स्त्रियों में जो दोष होते हैं, वे दोष नीच पुरुषों में भी होते हैं अथवा मनुष्यों में जो बल और शान्ति से युक्त होते हैं उनमें स्त्रियों से भी अधिक दोष होते हैं। स्त्रियों के इन तथा अन्य बहुत से दोषों का विचार करने वाले पुरुषों का मन विष और आग के समान स्त्रियों से विमुख हो जाता है। जैसे पुरुष व्याघ्र आदि के दोष देखकर व्याघ्र आदि को त्याग कर देता है। उनसे दूर रहता है, वैसे ही स्त्रियों के दोष देखकर मनुष्य स्त्रियों से दूर हो जाता है।[17]

स्त्रियों में इतने अधिक दोष होते हैं कि यदि वे किसी प्रकार से मूर्त स्वरूप को धारण कर लें तो वे निश्चय से समस्त लोक को पूर्ण कर देंगे। इस भूतल में काम के उन्माद की वृद्धि से गर्व को प्राप्त हुई स्त्रियाँ जो अकार्य करती हैं उसके सौवें भाग का वर्णन करने के लिए कोई समर्थ नहीं है।[18]

अहंकार नाशक-

पव्वदमित्ता माणा पुंसाणं होंदि कुलबलधणेहि।
बलिएहिं वि अक्खोहा गिरीव लोगप्पयासा य॥
ते तारिसया माणा ओमच्छिज्जंति दुट्ठमहिलाहि।
जह अंकुसेण णिस्साइज्ज हत्थी अदिबलो वि॥[19]

कुल बल और धन से पुरुषों का अहंकार सुमेरु पर्वत के समान जगत् में विख्यात् हैं। उसे बलवान् भी नहीं हिला सकते, किन्तु इस प्रकार के अहंकार भी दुष्ट स्त्रियों के द्वारा नष्ट कर दिए जाते हैं। जैसे अंकुश से अति बलवान् हाथी भी बैठा दिया जाता है। इसी प्रकार नीच पुरुष भी स्त्री के कारण अहंकार से फलीभूत होकर उत्त्म पुरुष की निन्दा भी करता है। अर्थात् स्त्री के कारण नीच पुरुष के द्वारा गर्वोन्नत मनुष्य का भी सिर नीचा हो जाता है।[20]

अविश्वसनीय-

स्त्रियों में विश्वास, स्नेह, परिचय, कृतज्ञता नहीं है। वे पर पुरुष पर आसक्त होने पर शीघ्र ही अपने कुल को अथवा कुलीन भी पति को छोड़ देती हैं। स्त्री अनेक प्रकारों से पुरुष में विश्वास उत्पन्न करती है, किन्तु पुरुष अनेक उपायों से भी स्त्री में विश्वास उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। जो स्त्रियों का विश्वास करता है वह व्याघ्र, विष, चोर, आग, पानी, मत्त हाथी, कृष्ण सर्प और शत्रु का विश्वास करता है। व्याघ्र आदि मनुष्य का उतना अहित नहीं करते जितना महान् अहित दुष्ट स्त्री करती है।[21]

कुलनाशी-

क्रुद्ध सर्प की तरह उन स्त्रियों को दूर से ही त्यागना चाहिए। रुष्ट प्रचण्ड राजा की तरह वे कुल का नाश कर देती है। जिस प्रकार धुएँ की पंक्तियाँ निःसंदेह घर को मलिन किया करती है। उसी प्रकार काम के उन्माद से त्रस्त हुई स्त्रियाँ भी निश्चय से अपने कुल को क्षणभर में मलिन कर देती है। साथ में रहने वाले पति, पुत्र, माता और पिता को दुःख के समुद्र में गिरा देती है।[22] स्त्रियाँ दुराचारी जनों में विचरण करती हुई कुल की परिपाटी का उल्लंघन किया करती हैं। वे उस समय गुरु, मित्र, पति और पुत्र का भी स्मरण नहीं करती है। दुराचरण में प्रवृत्त होकर वे गुरु आदि की

भी परवाह नहीं करती हैं।[23]

मायावी–

स्त्री पुरुष को छल–कपट के द्वारा अनायास ही ठग लेती है, पुरुष स्त्रियों के छल कपट को जान भी नहीं पाता, किन्तु पुरुष के द्वारा किए गए कपट को स्त्री तुरन्त जान लेती है। उसे उसके लिए कुछ भी कष्ट उठाना नहीं होता। स्त्री वचनों के द्वारा पुरुष को आकृष्ट करती है और पापपूर्ण हृदय से उसका घात करती है। स्त्री के वचनों में अमृत भरा रहता है और हृदय में विष भरा होता है। स्त्री कटाक्षपात से किसी एक पुरुष को, भावों से दूसरे को, वचनों व शरीर की चेष्टाओं से किसी और को, संकेत से किसी अन्य को तथा संभोग से अन्य ही पुरुष को सन्तुष्ट किया करती है।[24]

स्त्री के कपट भावों के विषय में भगवती आराधनाकार कहते हैं कि– शिला पानी में तिर सकती है। आग भी न जलाकर शीतल हो सकती है किन्तु स्त्री का मनुष्य के प्रति कभी भी सरल भाव नहीं होता। सरल भाव के अभाव में कैसे उनमें विश्वास हो सकता है और विश्वास के अभाव में स्त्रियों का मनुष्य के प्रति कभी भी सरल भाव नहीं होता। महाबलशाली मनुष्य समुद्र को भी पार करके जा सकता है, किन्तु मायारूपी जल से भरे स्त्री रूपी समुद्र को पार नहीं कर सकता। रत्नों से भरी किन्तु व्याघ्र के निवास से युक्त गुफा और मगरमच्छ से भरी सुन्दर नदी की तरह स्त्री मधुर और रमणीय होते हुए भी कुटिल और सदोष होती है। दूसरे ने स्त्री में दोष देखा हो तो भी स्त्री यह स्वीकार नहीं करती है कि मेरे में यह दोष है। जैसे गोह पुरुष को देखकर उससे अपने को छिपाती है। उसी प्रकार स्त्री अन्य लोगों को देखकर दोषों को छिपाती है।[25]

स्त्री के प्रेम में मायाचार का दर्शन कराते हुए कहा है – जिस प्रकार नदी अधर अधोभाग से प्रीति किया करती हैं नीचली भूमि की ओर बहा करती है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी अधर नीच पुरुष से प्रेम किया करती हैं, तथा जिस प्रकार बाल चन्द्र की रेखा कुटिल तिरछी होती है, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी नियम से कुटिल मायाचारिणी हुआ करती है।[26]

स्वभाव से मायापूर्ण व्यवहार करने वाली स्त्रियाँ दूसरों को ठगने के लिए वचन तो मधुर बोलती हैं, परन्तु मन में उनके घात का ही विचार

करती हैं। वश करने के योग्य अंजन, उत्तम औषधियाँ तथा अनेक प्रकार के मंत्र और यंत्र आदि ये सब आराधना स्त्री के समक्ष व्यर्थ सिद्ध होते हैं। स्त्रियाँ अंजन, औषधि, मंत्र और विनय के बिना भी क्षणभर में अतिशय बुद्धिमान पुरुष को भी धोखा दिया करती हैं।[27]

मन की चंचलता-

मन वैसे तो संसारी प्राणियों का चंचल होता है, परन्तु कामी स्त्रियों के मन में अतिचपलता होती है। कहा है- सन्ध्या की तरह स्त्रियों का राग भी अल्प काल रहता है। जैसे सन्ध्या की लालिमा विनाशीक है वैसे ही स्त्रियों का अनुराग भी विनाशीक है। इससे अस्थिररागता नामक दोष होता है तथा महिलाओं का हृदय वायु की तरह सदा अति चंचल होता है।[28]

लोक में जितने तृण हैं, समुद्र में जितनी लहरें हैं, बालु के जितने कण हैं तथा जितने रोम हैं, उनसे भी अधिक स्त्रियों के मनोविकल्प हैं। आकाश की भूमि, समुद्र का जल, सुमेरु और वायु का भी परिमाण मापना शक्य है, किन्तु स्त्रियों के चित्त का मापना शक्य नहीं है। जैसे बिजली, पानी का बुलबुला और उल्का बहुत समय तक नहीं रहते, वैसे ही स्त्रियों की प्रीति एक पुरुष में बहुत समय तक नहीं रहती। परमाणु भी किसी प्रकार मनुष्य की पकड़ में आ सकता है, किन्तु स्त्रियों का चित्त पकड़ में आना शक्य नहीं है, वह परमाणु से भी अति सूक्ष्म है। क्रुद्ध कृष्ण सर्प, दुष्ट सिंह, मदोन्मत्त हाथी को पकड़ना शक्य हो सकता है, किन्तु दुष्ट स्त्री के चित्त को पकड़ पाना शक्य नहीं है। कदाचित् विष के मध्य में अमृत के प्रवाह की तथा शिला समूह के ऊपर धान्य के समूह की संभावना भले ही की जा सकती हो, किन्तु स्त्रियों के मन निर्मलता की कभी संभावना नहीं की जा सकती है। बिजली के प्रकाश में, नेत्र में स्थित रूप को देखना शक्य है, किन्तु स्त्रियों के अति चंचल चित्त को जान लेना शक्य नहीं है। संयोग से वन्ध्या स्त्री के पुत्र को राज्यलक्ष्मी तथा आकाश को पुष्पों की शोभा भले ही प्राप्त हो जाए परन्तु स्त्रियों के मन की शुद्धि थोड़ी सी भी नहीं हो सकती है। यदि दैववश चन्द्रमा, तीव्रता को धारण कर लेता है और सूर्य कदाचित् शीतलता को धारण कर लेता है तो भी स्त्री पुरुष के विषय में अपने मन को स्थिर नहीं रख सकती हैं। जो अतिशय बुद्धिमान् मनुष्य, देव,

दैत्य, सर्प, हाथी, ग्रह, चन्द्र और सूर्य की चेष्टा को जानते हैं, सुख-दुःख, जय-पराजय और जीवन-मरण को जानते हैं, वे भी स्त्रियों के चारित्र को नहीं जानते हैं। जहाज समुद्र के पार पहुँचते हैं तथा नक्षत्र आकाश के पार पहुँचते हैं, परन्तु स्त्रियों के दुश्चरित्र के पार कोई भी नहीं पहुँचते हैं।[29]

कितने ही मनुष्य वन में स्थित व्याघ्र को, आकाश में स्थित पक्षी को तथा नदी व तालाब में स्थित मछली को ग्रहण किया करते हैं, परन्तु स्त्रियों के चंचल मन को कोई भी ग्रहण कर नहीं सकता है।

इस संसार में कोई मणि, मंत्र, औषध और अंजन तथा ऐसी वे विद्याएँ भी नहीं जिनके आश्रय से यहाँ स्त्रियाँ उत्तम, अभिप्राय को प्राप्त करेंगी।[30] जब तक वे पुरुष को अपने में अनुरक्त नहीं जानती तब तक वे पुरुष के अनुकूल वर्तन के द्वारा तथा प्रशंसा परक वचनों के द्वारा पुरुष के मन को उसी प्रकार आकृष्ट करती है जैसे माता बालक के मन को आकृष्ट करती है। बनावटी हास्य वचनों से, बनावटी रुदन से, झूठी शपथों से कपटी स्त्रियाँ पुरुष के चंचल चित्त को हरती हैं।[31]

स्वभाव से कुटिल स्त्रियाँ गुणों में दोषों को देखा करती हैं, प्रिय के विषय में वे दुष्टता पूर्ण व्यवहार करती हैं तथा उनका आदर किए जाने पर, वे क्रोध को प्राप्त होती हैं। स्त्रियाँ सब ही जनों के ठगने में चतुर होती हैं। वे प्रत्यक्ष में लाखों अयोग्य कार्यों को करके भी उन्हें संदेह से रहित होकर आच्छादित किया करती है। हमारे दोष कभी प्रकट हो सकते हैं, ऐसा उन्हें संदेह भी नहीं रहता है।[32]

कृतघ्न -

थोड़ा सा भी अपराध होने पर स्त्री सैकड़ों उपकारों को भुलाकर अपना, पति का, कुल का और धन का नाश कर देती है। सत्पुरुषों के भी मन में घर को बांधने वाली-स्थान को प्राप्त करने वाली स्त्री, निर्भय होकर समस्त संसार से पूजे जाने योग्य गुण समूह को उजाड़ देती है। नष्ट कर देती है। परपुरुष में जिसका चित्त लग जाता है, वह स्त्री अपने पति के सम्मान, उपकार, कुल, रूप, यौवन आदि गुण, स्नेह, सुखपूर्वक लालन-पालन और मधुर वचनों का भी विचार नहीं करती तथा व्याघ्री की तरह उनके हृदय को विदारित करती है। वे शत्रु के समान सदा पुरुष के पाप का ही चिन्तन

करती हैं।[33]

स्वच्छन्दी-

वे स्वच्छन्द प्रवृत्ति की इच्छा से बिना किसी अपराध के पति, पुत्र, श्वसुर अथवा पिता का घात कर देती है।[34] स्वच्छंदता की इच्छा करने वाली स्त्रियाँ मूर्खता से अभीष्ट फल के देने वाले कुल रूप कल्पवृक्ष को नष्ट कर डालती है। स्त्री स्वच्छंदता को प्राप्त होकर अकेली ही मनुष्य के जिस अनर्थ को करती है, उसे क्रोध को प्राप्त हुए सिंह, व्याघ्र, सर्प, अग्नि और राजा भी नहीं करते हैं।[35]

पतिहन्त्री-

स्त्रियाँ कामदेव के समान सुन्दर, पराक्रमी, कुलीन, दान सम्मान, सम्भोग, नमन और आदर-सत्कार के द्वारा निरन्तर ही उनकी सेवा में तत्पर और लोक के स्वामी राजा जैसे सुयोग्य पति को शीघ्र ही मारकर दासी पुत्रों के साथ रमण किया करती है। सब स्त्रियाँ कामदेव की गोद को भी पाकर अर्थात् कामदेव के समान सुन्दर पति को भी प्राप्त कर स्वभाव से अन्य पुरुष की इच्छा किया करती हैं। जैसे अयोध्या नगरी का स्वामी देवरति राज्य सुख से वंचित हो गया। उसकी रता नाम की रानी ने गान विद्या में प्रवीण एक लगड़े व्यक्ति पर आसक्त होकर अपने पति को नदी में फेंक दिया।[36]

हृदयकलुषा-

वर्षाकाल की नदियों की तरह स्त्रियों का हृदय भी नित्य कलुषित रहता है। चोर की तरह वे भी अपना कार्य करने में तत्पर रहती हैं और उनकी बुद्धि मनुष्य का धन हरने में रहती है।[37] स्त्रियाँ अतिशय निर्दय होकर पति, पुत्र और पिता को भी संदेह की तराजू पर क्षणभर में आरोपित किया करती है। अभिप्राय यह है कि स्त्रियाँ अपने पति, पुत्र और पिता को भी संदेह की दृष्टि से देखने लगती है।[38]

कुलीन महिलाएँ प्रायः पति को ही देवता मानकर अपने प्रिय को छोड़ देती हैं, किन्तु कुलीन नारियों का भी मनुष्य तभी तक प्रिय रहता है। जब वह धनहीन, वृद्ध, रोगी, दुर्बल और स्थान से रहित नहीं होता है। स्त्री को इन अवस्थाओं को प्राप्त मनुष्य को रस निकाली हुई ईख की तरह अथवा गन्धरहित माला की तरह अप्रिय होता है। उसे कुलीन स्त्रियाँ भी

शीघ्र छोड़ दिया करती हैं। फिर नीच स्त्रियों का तो कहना ही क्या है ?[39]

मत्त हाथी की तरह स्त्रियाँ मद से उन्मत्त रहती हैं। वे अपने दास में और पति में कुछ भी अन्तर नहीं करती। यह मेरा मान्य कुलीन पति है और यह दासी का पुत्र नीच हैं, मैं इसकी स्वामिनी हूँ, यह भेद नहीं करती। जब वे जानती हैं कि हमारे में अनुरक्त पुरुष के पास चाम, हड्डी और माँस ही शेष है, तो उसे वंशी में लगे माँस के लोभ से फँसे मत्स्य की तरह संताप देकर मार डालती है।[40]

धार्मिक क्रियाओं से वंचित-

काम से अंधी हुई स्त्रियाँ न दान को देखती हैं, न पूजन, न व्रत, न शील आदि पर विचार करती हैं, न सुजनता का विवेक रखती हैं, न प्रतिष्ठा का विचार करती हैं, न अपनी व अपने कुल की महानता को देखती हैं, और न अपने व दूसरे के हित का भी ध्यान रखती हैं। गौरव प्रतिष्ठा और आराधनीय उत्कृष्ट गुणों में स्थापित की गई भी स्त्रियाँ स्वयं दोष रूप कीचड़ में निमग्न हुआ करती है। स्त्रियाँ अथाह क्रोध के वेग से अंधी होकर उस कार्य को करती हैं कि जिससे यह लोक शीघ्र ही दु:ख रूप समुद्र में पड़ जाता है।[41]

उत्तम पुरुषों का मान मर्दन-

जिन अतिशय बलशाली पुरुषों ने शत्रु के हाथी के दांत के अग्र भाग पर चढ़ कर वीर लक्ष्मी को स्थिर कर दिया है, वे भी स्त्रियों के द्वारा खण्डित किए जा चुके हैं। जो मनुष्य सुमेरु के समान निष्कम्प और समुद्र के समान अतिशय गम्भीर होते हैं, उन्हें भी विचलित करके स्त्रियाँ क्षणभर के भीतर तिरस्कार को प्राप्त कराती है। जो स्त्री तिरस्कार रूप फल को उत्पन्न करने के लिए बेल के समान है, दु:खरूप वनाग्नि की पंक्ति है, विषयभोग रूप समुद्र की बेला (किनारा) है, नरक रूप प्रासाद का प्रवेश द्वार है, काम रूप सर्प की दाढ़ के समान है तथा मोह व आलस्य की माता है, उसको हे भव्य! तू परिणामों की स्थिरता का आश्रय लेकर छोड़ दे।[42]

शीलवान स्त्रियाँ-

संसार में सदैव दुश्चरित्रधारी स्त्रियाँ ही विद्यमान नहीं हैं। उन स्त्रियों में से भी कुछ स्त्रियाँ ऐसी हैं, जो अपने शीलधर्म के प्रभाव से जगत् को

शोभायमान करती हैं। आचार्य शुभचन्द्र ने दुश्चारित्रधारी स्त्रियों के गुणों का प्रकाशन करते हुए भी सच्चारित्रवती, शीलवती स्त्रियों की निन्दा का निषेध करते हुए कहा है कि- संसार में निश्चय से कुछ ऐसी भी स्त्रियाँ हैं जो शम (शान्ति), शील (पातिव्रत्य), एवं संयम से विभूषित तथा आगमज्ञान व सत्य से संयुक्त हैं। ऐसी स्त्रियाँ अपने वंश की तिलक मानी जाती हैं- जिस प्रकार तिलक उत्तम अंग स्वरूप मस्तक के ऊपर विराजमान होता है और उससे समस्त शरीर की शोभा बढ़ जाती है, उसी प्रकार उपर्युक्त स्त्रियों के द्वारा उनके कुल की भी शोभा बढ़ जाती है। कितनी ही स्त्रियाँ पातिव्रत्य, महानता, सदाचरण, विनय और विवेक के द्वारा इस पृथ्वी तल को विभूषित करती है। जो मुनिजन संसार परिभ्रमण से विरक्त हो चुके हैं, आगम के पारगामी हैं, सर्वथा विषयों की इच्छा से रहित हैं, शान्तिरूप धन के स्वामी हैं तथा ब्रह्मचर्य व्रत के धारक हैं, उनके द्वारा यद्यपि स्त्रियों की निन्दा की गई है, तो भी जो स्त्रियाँ निर्दोष संयम, स्वाध्याय एवं चारित्र से चिह्नित हैं। इन गुणों से विभूषित हैं और लोक की शुद्धिभूत हैं, जनशुद्धि की कारण हैं, उनकी वैराग्य व प्रशम आदि रूप पवित्र गुणों का आचरण करने वाले महापुरुष कभी निन्दा नहीं करते हैं।[43]

इसी प्रकार भगवती आराधनाकार ने स्त्रियों के सच्चारित्र का बखान करते हुए उनके गुणों की प्रशंसा की है- जैसे अपने शील की रक्षा करने वाले पुरुषों के लिए स्त्रियाँ निन्दनीय हैं। वैसे ही अपने शील की रक्षा करने वाली स्त्रियों के लिए पुरुष निन्दनीय हैं। जो गुण सहित स्त्रियाँ हैं, जिनका यश लोक में फैला हुआ है तथा जो मनुष्य लोक में देवता समान हैं और देवों से पूजनीय हैं उनकी जितनी प्रशंसा की जाए कम हैं। तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव और श्रेष्ठ गणधरों को जन्म देने वाली महिलाएँ श्रेष्ठ देवों और उत्तम पुरुषों के द्वारा पूजनीय होती है। कितनी ही महिलाएँ एक पतिव्रत और कौमार ब्रह्मचर्य व्रत धारण करती हैं। कितनी ही जीवन पर्यन्त वैधव्य का तीव्र दु:ख भोगती हैं। ऐसी भी कितनी शीलवती स्त्रियाँ सुनी जाती हैं, जिन्हें देवों के द्वारा सम्मान आदि प्राप्त हुआ तथा जो शील के प्रभाव से शाप देने और अनुग्रह करने में समर्थ थीं। कितनी ही शीलवती स्त्रियाँ महानदी के जल प्रवाह में भी नहीं डूब सकीं और प्रज्वलित घोर

आग में भी नहीं जल सकीं तथा सर्प व्याघ्र आदि भी उनका कुछ नहीं कर सके। कितनी ही स्त्रियाँ सर्व गुणों से सम्पन्न साधुओं और पुरुषों में श्रेष्ठ चरम शरीरी पुरुषों को जन्म देने वाली माताएँ हुई है।[44]

उपसंहार–

सब जीव मोह के उदय से कुशील से मलिन होते हैं और वह मोह का उदय स्त्री पुरुषों के समान रूप से होता है। अतः ऊपर जो स्त्रियों के दोषों का वर्णन किया है वह स्त्री सामान्य की दृष्टि से किया है। शीलवती स्त्रियों में ऊपर कहे दोष कैसे हो सकते हैं। काम रूपी रोग मात्र स्त्री पुरुष में ही नहीं, अपितु संसार के सभी मनुष्य, पशु और देवों में भी पाया जाता है। जिसमें देवों में तथा पशुओं में इसका उद्वेग रोक पाना असंभव सा है, परन्तु मनुष्यों में कुछ ही मनुष्य ऐसे होते हैं, जो इस रोग पर प्रतिबन्ध लगाकर शीलरूपी धर्म का पालन करते हैं। वे धन्य हैं। यहाँ स्त्री की युक्ति-युक्तता पर आचार्य शुभचन्द्र ने वर्णन किया है, जिसमें मोक्षमार्ग में बाधक कामी स्त्रियों से दूर रहने का तथा सदाचारिणी स्त्रियों का सम्मान करने का निर्देश दिया है, परन्तु सदाचारिणी स्त्रियों से भी आवश्यक दूरी बनानी चाहिए, क्योंकि स्त्रीगत गुण तथा दोष प्रत्येक स्त्री में विद्यमान रहते हैं। चाहे वह शीलवती हो अथवा दुराचारिणी हो। अतः स्त्रियों में राग दुःख का कारण एवं शील में अतिचार का कारण है। इस कारण इससे दूर रहना ही श्रेयस्कर है।

संदर्भ सूची-

1. भगवती आराधना, आचार्य शिवार्य, गाथा-876, पृष्ठ-515, जैन संस्कृति संरक्षक संघ, सोलापुर, महाराष्ट्र, 2004
2. संस्कृत हिन्दी शब्द कोश, शिवराम आप्टे, पृष्ठ-1138, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, 1987
3. पंचसंग्रह प्राभृत, आचार्य कुन्दकुन्द, 1/105, धा. 1/1,1,101/340/9
4. ज्ञानार्णव, आचार्य शुभचन्द्र, अध्याय 12, श्लोक 20, 51, पृष्ठ 228, 236, जैन संस्कृती संरक्षक संघ, सोलापुर, महाराष्ट्र, 1998
5. भगवती आराधना, गाथा-971-975, पृष्ठ-537-538,
6. ज्ञानार्णव, अधिकार 11,श्लोक 22, पृष्ठ 215
7. ज्ञानार्णव, अधिकार 13,श्लोक 2, पृष्ठ 240
8. ज्ञानार्णव, अधिकार 12,श्लोक 5,16,3,6, पृष्ठ 224
9. ज्ञानार्णव, अधिकार 12,श्लोक 22, पृष्ठ 228

10. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 11, पृष्ठ 225
11. भगवती आराधना, गाथा-952, पृष्ठ 533
12. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 9, पृष्ठ 225
13. भगवती आराधना, गाथा- 976-980, पृष्ठ 538-539
14. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 49, पृष्ठ 236
15. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 44, पृष्ठ 234, भगवती आराधना, गाथा- 981-984,
16. ज्ञानार्णव अधिकार 12, श्लोक 19, 33, पृष्ठ 227,231
17. भगवती आराधना, गाथा-985, 986,987, पृष्ठ 540
18. ज्ञानार्णव अधिकार 12, श्लोक 50,1, पृष्ठ 223,236
19. भगवती आराधना, गाथा- 934-935, पृष्ठ 528-529
20. भगवती आराधना, गाथा-933, पृष्ठ 528
21. भगवती आराधना, गाथा- 937-938, 946-947, पृष्ठ 529, 531
22. ज्ञानार्णव, अधिकार 12,श्लोक 8, पृष्ठ 225 भगवती आराधना, गाथा- 932
23. ज्ञानार्णव, अधिकार 12,श्लोक 10, पृष्ठ 225
24. भगवती आराधना, गाथा- 951, 964, पृष्ठ 533,536, ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 52, पृष्ठ 225
25. भगवती आराधना, गाथा- 966-970, पृष्ठ 536-537
26. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 7, पृष्ठ 224
27. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 32, पृष्ठ 231
28. भगवती आराधना, गाथा- 955, पृष्ठ 534
29. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 39, 40, 23, 24, 25, 26 पृष्ठ 224
30. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 28, 29, पृष्ठ 230
31. भगवती आराधना, गाथा-956-963, पृष्ठ 534-536
32. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 36, 37, पृष्ठ 232
33. भगवती आराधना, गाथा-939, 942,954, पृष्ठ 529, 530,534
34. भगवती आराधना, गाथा-941, पृष्ठ 530
35. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 14,15 पृष्ठ 226
36. ज्ञानार्णव,अधिकार 12,श्लोक 30,31,38,पृष्ठ 230,232,भगवती आराधना,गाथा- 943
37. भगवती आराधना, गाथा- 948, पृष्ठ 532
38. ज्ञानार्णव, अधिकार 12, श्लोक 27, पृष्ठ 229
39. ज्ञानार्णव अधिकार 12, श्लोक 43, पृष्ठ 233, भगवती आराधना, गाथा- 949-950,
40. भगवती आराधना, गाथा-953, 9र्ि, पृष्ठ 533,536
41. ज्ञानार्णव अधिकार 12,श्लोक 14,35,12, पृष्ठ 226 231,
42. ज्ञानार्णव अधिकार 12, श्लोक 34, 42,55, पृष्ठ 231,233, 237
43. ज्ञानार्णव अधिकार 12, श्लोक 57-59, पृष्ठ 239

44. भगवती आराधना, गाथा- 988-996, पृष्ठ 540-541

आर जेड 7अ/5अ, गली नं. 2, पूरन नगर,
पालम पुलिस स्टेशन के पास, पालम,
नई दिल्ली-110077

इष्टोपदेश

यज्जीवस्योपकाराय, तद्-देहस्यापकारकम्।
यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्॥19॥

अर्थात् जो कार्य आत्मा का उपकार करने वाला है वह शरीर का अपकार करने वाला है तथा जो शरीर का उपकार करने वाला है वह आत्मा का अपकार करने वाला है।

आचार्य श्री विद्यासागरकृत पद्यानुवाद

तन का जो उपकारक है वह चेतन का अपकारक है,
चेतन का उपकारक है जो तन का वह अपकारक है।
सब शास्त्रों का सार यही है, चेतन का उद्धार करो,
अपकारक से दूर रहो तुम, तन का कभी न प्यार करो॥

अशोक-शिलालेख में निहित दर्शन
(गिरनार शिलालेख के सन्दर्भ में)

डॉ. आनन्द कुमार जैन

इतिहास में कुछेक प्रसंग ऐसे हैं जहाँ जनसंहार से सप्रस्फुटित पश्चाताप का स्रोत जीवनोत्थान का प्रबल कारण बना है। यद्यपि यह विरोधाभास सा लगता है किन्तु ऐसे बिरले उदाहरण हैं और जो भी हैं वे किसी क्षेत्र विशेष, जाति, समुदाय या देश की सीमा को लाँघ कर समूचे मानव जाति के अन्तस में अहम स्थान रखते हैं। ये उदाहरण या तो प्रागैतिहासिक हैं या संक्षिप्त रूप से इतिहास में निबद्ध हैं और हो सकता है कि अनेकों उदाहरण ऐसे होंगे जिनका अन्वेक्षण भी अभी तक न हुआ हो जैसे कि जैसे कि दो सौ वर्ष पूर्व तक भारतीय संस्कृति की अनेक बहुमूल्य निधियों का अन्वेषण पश्चिमी विद्वानों ने किया, जो आज भी समादृत है। यही सत्य पाली तथा प्राकृत भाषा के पुनरुत्थान का है जो कि भारतीय वाङ्.मय के लिए पश्चिमी विद्वानों का प्राण-दायक अवदान है और विगत सौ-डेढ़ सौ वर्षों में पुरातात्त्विक क्षेत्रों की खुदाई मे भारतीय धरोहरों की खोज भी इसी का परिणाम है। इनमें कई ऐतिहासिक शिलालेख, अभिलेख प्राप्त हुए हैं और भारत-भूमि ऐसे ही साक्ष्यों से खचित है और इनमें भी अशोक के शिलालेख ऐतिहासिक दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। इन शिलालेखों का भाषिक तथा पुरातात्त्विक दोनों पक्षों से महत्त्व है। ये समस्त शिलालेख अशोक ने हृदय-परिवर्तन के पश्चात् अपने साम्राज्य में लगवाये। यद्यपि यह इस घटना से पूर्व अशोक ने असीमित क्षेत्रों पर विजय पताका फहराकर स्वयं में गौरवान्वित अनुभव किया होगा किन्तु क्षत-विक्षत पड़े, लहू से रंजित शवों तथा उनके समक्ष बिलखते बच्चों एवं विधवाओं को देखकर हृदय परिवर्तन का अनूठा घटनाक्रम ही अध्यात्म का गोमुख सिद्ध हुआ।

इतिहास देखें तो इसी प्रकार की घटना भगवान् बुद्ध के जीवन में भरी घटना भगवान बुद्ध के जीवन में भी घटित हुई जब वृद्ध, रोगी तथा मृतक को देखकर मन में संसार के रहस्य को जानने की उत्कण्ठा जागृत हुई और उनके वे कदम अनायास ही अध्यात्मोन्मुख हो गये। ऐसी ही स्थिति महाभारत के युद्धोपरान्त पाण्डवों की हुई जब स्वजनों के सामूहिक जनसंहार को देखकर पाण्डवों के हृदय में आत्मग्लानि हुई जिसके फलस्वरूप उन्होंने तीर्थाटन किया और राजकाज में अरुचि हुई।

उपर्युक्त ऐतिहासिक तथा प्रागैतिहासिक उपक्रम को देखें तो एक धारा हिंसा से अहिंसा की ओर आती हुई प्रतीत होती है। इस अहिंसा, वैराग्य तथा अरुचि के फलस्वरूप जिन चिन्तन तथा मनन योग्य तत्त्वों का उद्‌भव होता है वह तद्-तद् सम्बन्धी दर्शन का द्योतक हो गया अर्थात् अहिंसा के सम्बन्ध में जागृत हुई इच्छा अहिंसा-दर्शन है, वैराग्य की जिज्ञासा वैराग्य दर्शन है, करुणा का पालन करुणा दर्शन है। इसी प्रकार दिग्विजय के पश्चात् उत्पन्न हुई आत्मग्लानि एवं आत्मनिन्दा से सम्राट् अशोक के जीवन में जो परिवर्तन हुआ उसका दिग्दर्शन अशोक द्वारा प्रस्थापित चौदह, शिलालेखों में होता है। इन शिलालेखों के नामकरण इनके विषय को ध्यान में रखकर किये गये हैं जिनमें पहला जीवदया: पशुयाग तथा मांस-भक्षण निषेध है, दूसरा लोकोपकारी कार्य, तीसरा धर्मप्रचार, चौथा धर्मघोष धार्मिक प्रदर्शन, पंचम धर्म महामात्र, षष्ठ प्रातवेदना, सप्तम धार्मिक समता, संयम, भावशुद्धि, अष्टम धर्मयात्रा, नवम धर्म-मंगल, दशम धर्म-शुश्रूषा, एकादश धर्म दान, द्वादश सार-वृद्धि, त्रयोदश वास्तविक विजय, चतुर्दश उपसंहार। इसके साथ चिकित्सा के उपयोग में आने वाली औषधियों का भी विस्तृत क्षेत्र में रोपण करवाना कुशल तथा करुणानिधि शासक का सूचक है। वस्तुत: करुणा का ज्ञान ही करुणा का प्रत्यारोपण में हेतु है। विशेष यह है करुणा का उल्लेख समस्त भारतीय दर्शनों में है। मुनि दधीचि ने करुणा के वशीभूत होकर ही अपनी हड्डियों का दान देवताओं के लिए किया था। बौद्ध-साहित्य का आलोडन करें तो अंगुलिमाल का जगत् प्रसिद्ध कथानक सर्वविदित ही है; जैनदर्शन की चर्चा करें तो आचारांग में उपलब्ध प्रसंग में भगवान् महावीर

ने अपने प्रति उद्दण्डता करने वालों के प्रति हृदय में कलुषता की जगह करुणा की अमृत-धारा प्रवाहित की।

एक और प्रसंग पर दृष्टिपात करें तो प्रश्न उपस्थित होता है कि ये गिरनार के शिलालेख सम्राट् के हृदय परिवर्तन के पूर्व के हैं या पश्चात्वर्ती? तो कहना होगा कि तथ्य जो भी हो यदि उसको गौण करके चिन्तन करें तो यदि शिलालेख पूर्ववर्ती हैं तो हृदय परिवर्तन के पश्चात् क्या शेष करने के लिए रहा होगा? क्योंकि सर्वधर्म समभाव, प्राणी मात्र की चिन्ता का इनमें अन्तर्भाव हो जाता है और यदि हृदय परिवर्तन के पश्चात् की चर्चा करें तो यह कहा जा सकता है कि जो इन मूल्यों का निर्धारण सम्राट् अशोक ने स्वशासित क्षेत्र में किया होगा उसका विस्तार हृदय-परिवर्तन के पश्चात् समूचे शासित, अर्द्धशासित तथा अशासित क्षेत्रों में किया होगा।

चिन्तन की पराकाष्ठा का एक और उदाहरण देखना हो तो वे पंक्तियाँ आत्मा को झकझोरती हैं जब सम्राट अशोक उद्घोष करते हैं मैं चाहे भोजन करता हूँ, गर्भागार (शयनगृह) में रहूँ, व्रज अर्थात् पशु शाला में रहूँ, विनती अर्थात् पालकी पर रहूँ या उद्यान में रहूँ; जनता के कार्य की सूचना मुझे मिलती रहनी चाहिए।[2] इसी की स्पष्टता में शिलालेखों में लिखा है कि सर्वलोक-हित मेरा कर्तव्य है; यह मेरा मत है।[3]

सप्तम शिलालेख समस्त सम्प्रदायों के एक ही स्थल पर जीवन-निर्वाह का संकेत करता है और अधिक क्या कहें विहार यात्रा का भी कथञ्चित् समर्थन है; किन्तु वह भरी तब जब विहार यात्रा आमोद-प्रमोद से हटकर धर्मयात्रा में परिवर्तित हुई जिसके अन्तर्गत सम्राट अशोक बोधगया (महात्मा बुद्ध का संबोधि स्थल) गये।[4] युद्ध भेरी की परिभाषा धर्म भेरी में तथा सेवा जगत्-सेवा में बदल गई।

सम्पूर्ण शिलालेखों को देखें तो ये दार्शनिक विचारधाराओं का अर्णव है जिसमें जिस विधा का व्यक्ति अध्ययन करता है उसे अपना दृष्टिकोण दिखता है जो कि अशोक की वैचारिक श्रेष्ठता को द्योतित करता है।

प्रथम शिलालेख जीव दया

यह पशुयाग तथा माँस भक्षण निषेध के अर्थ में प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त अन्य शिलालेखों में अहिंसा, पश्चाताप, करुणा, स्वच्छ कूटनीति, पारिवारिक कर्तव्य, सामाजिक कर्तव्य, निर्लोभता, जातिगत सामञ्जस्य, शीलपालन जैसे विविध विषयों को इंगित किया है। गिरनार के प्रसिद्ध शिलालेख में सर्वप्रथम जीव-दया का निर्देश है[5] और अशोक शासित क्षेत्रवर्ती लोगों के लिए हर सम्भव स्थिति में इसके पालन का निर्देश था।

जहाँ जीव-दया पालन दुष्कर था ऐसी परिस्थितियों का स्पष्ट उल्लेख करके शिलालेखों में उनका निषेध किया गया है। उदाहरण के लिए समाज अर्थात् जहाँ विलास तथा आमोद-प्रमोदपूर्ण उत्सव होता था और जिनमें गाना, बजाना, नृत्य, माँस, मदिरा आदि का प्रयोग उन्मुक्त रूप से होता था। इनका सम्राट अशोक ने निषेध किया था तथा सात्त्विक रूप से मनाने का संदेश दिया। इनको वर्जित करना अनिवार्य भी था क्योंकि इन कार्यक्रमों की ओट में जो प्राणियों पर अत्याचार हो रहा था वह अशोक के लिए असहनीय था। नीर-क्षीर विवेकी राजा की तरह अशोक ने मात्र कमियों पर ध्यान दिया है क्योंकि 'समाज' से अशोक को शिकायत नहीं थी अपितु उसमें होने वाली हिंसा का निषेध करना उद्देश्य था। इसी कारण से प्रथम अभिलेख की छटी सातवीं पंक्ति में हिंसा रहित समाज का समर्थन किया है।[6] यही न्यायोचित आदेश जैनदर्शन के सिद्धान्त स्याद्वाद को भी सूचित करता है। अर्थात् कथञ्चित् समाज उचित है यदि अहिंसायुक्त हो। इसी प्रकार कि एक किवदन्ती भगवान् बुद्ध के सम्बद्ध में बहुप्रचलित है कि जब उनसे पूछा गया कि शयन करना अच्छा या जागना अच्छा तो भगवान् बुद्ध बड़ा ही सुन्दर उत्तर देते हुए कहते हैं कि दुष्ट का सोना अच्छा है तथा सज्जन का जागना अच्छा है। यहाँ भी अपेक्षा की दृष्टि को अनुभव करें तो स्याद्वाद की ध्वनि स्पष्ट सुनाई देती है।

जब प्रश्न रुग्ण मनुष्यों का उठा तो मनुष्यों के साथ-साथ जानवरों की भी सुरक्षा तथा स्वास्थ्य का ध्यान सम्राट् अशोक के शासन काल में मिलता है।[7] मनुष्यों तथा पशुओं के लिए चिकित्सालय खुलवाना तथा

चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाली औषधियों को वृहद् स्तर पर विहार में उगाना दूरदर्शिता का सूचक है। इसी प्रकार से अन्य शिलालेख के स्थापन में भी विशाल चिन्तन निहित है जिसके अन्वेषण की तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक परिस्थितियों के आधार पर अध्ययन तथा विश्लेषण की आवश्यकता है।

संदर्भ :

1. गि. शि., शिलालेख सं. षष्ठ, पंक्ति 3,4,5
2. गि. शि., शिलालेख सं. षष्ठ, पंक्ति 9
3. गि. शि., शिलालेख सं. षष्ठ, पंक्ति 1,2,
4. इध न किं चि जीवं आरभित्पा प्रजहितव्यं। प्रथम अभिलेख (गिरनार शिला), पंक्ति 2,3
5. अस्ति पि तु एक चा समाजा साधुमता देवानं प्रियस प्रियद सिनो राजो
6. गि. शि., शिलालेख सं. 2, पंक्ति 5

- अतिथि प्राध्यापक, जैनदर्शन विभाग,
राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान,
जयपुर-302018 (राजस्थान)

कविवर भूधरदास

जरा मौत की लघु बहन यामें संशय नाहिं।
तौ भी सुहित न चिन्तवै बड़ी भूल जगमांहि॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि जरा (बुढापा) मृत्यु की लघु बहिन है, फिरभी वह जीव अपने हित की चिन्ता नहीं करता, यह इस आत्मा की बड़ी भूल है।

जैनकर्मवाद के आधारभूत सिद्धान्त

- प्रो. श्रीयांश कुमार सिंघई

सम्पूर्ण जगत् एवं उसमें विद्यमान वस्तुओं को समझना सचमुच ही एक जटिल पहेली है, जिसे सुलझाने का प्रयास भारतीय मनीषा ने किया है तथापि उसे समझ पाना टेढ़ी खीर अवश्य है। परितः परिलक्षित नानाविध वस्तुओं एवं उनमें होने वाला क्षण-क्षणवर्ती परिणमन-बदलाव ऐसा शाश्वत सत्य है जो बुद्धिगम्य होकर भी हमारे बौद्धिक व्यापार के लिये चुनौती बना हुआ है। एक तरफ हमारी अल्प सामर्थ्य बुद्धि है तो दूसरी तरफ हैं अनन्त सामर्थ्य संधारक अनन्तानन्त पदार्थ। सूक्ष्म-स्थूल मूर्त्त-अमूर्त्त, चित्-अचित् आदि नानाविध एकल पदार्थों की समदिष्ट का द्योतक या बोधक ही जगत् माना जाता है।

इस जगत् में ज्ञेय पदार्थ अनन्त हैं और उन्हें जानने वाले ज्ञाता का ज्ञान अकेला-एक ही है। ज्ञान एवं ज्ञेयों की सामर्थ्य (योग्यता) को साक्षात् एवं सम्पूर्ण रूप से जान पाना सम्भव नहीं लगता है इसका कारण है हमारे ज्ञान का पराधीन, ऐन्द्रिक एवं परलक्ष्मी होना। यदि हम जगत् विषयक सत्य को अंशतः भी सही जानना चाहते हैं तो हमें अपने व्यवहार को स्वाधीन अतीन्द्रिय एवं स्वलक्षी बनाना होगा। एतदर्थ आवश्यक है कि हम यथार्थ के धरातल पर अवस्थित होकर ज्ञान एवं ज्ञेयों के स्वातन्त्र्यमूलक चिन्तन को महत्त्व दें और चेतन-अचेतन वस्तुओं की मर्यादा, अर्हता आदि को समझें। वे जैसी हैं उन्हें उनके स्वभाव से जानने का श्रम करें, तत्त्वज्ञानी बनें काल्पनिक वस्तुओं के ज्ञानी एवं अन्धविश्वासी नहीं। भारतीय संस्कृति में समादृत वैदिक या श्रमण धारा का कोई भी चिन्तन हमें अन्धस्तमस् व्यामोहों में उलझने की अनुमति नहीं देता है। अतः एक जागरूक चेता के रूप में हमारा कर्तव्य हो जाता है कि हम श्रुत (जैन आगम) और श्रुति (वेद) में विद्यमान उपदेशों का अभिप्राय समझें और

उनके अभिधा अर्थ मात्र के लिए मात्र क्रीतदास अथवा उनके मोहाच्छन व्यास न बनें तथा राग-द्वेषों से प्रेरित होकर उनका अर्थ न करें और न ही उनका प्रचार-प्रसार साम्प्रदायिक उन्माद के धरातल पर करें।

सत्यबोध गर्भित उन उपदेशों का यथार्थ अधिगम हमें विवक्षा संश्लिष्ट शब्दशक्तियों के सदुपयोग से करना चाहिए। एतदर्थ हम अपने बौद्धिक व्यापार को वस्तुमूलक और ईमानदार बनायें तथा जो हम समझते या मानते हैं और जिसे सही सिद्ध करना चाहते हैं उसे ही सही समझाने या प्रमाणित करने का दुस्साहस न करें। आगम, निगम, वेद, पुराण एवं तदुपजीवी वाङ्.मय से वस्तु एवं वस्तुव्यवस्था का मूल्यांकन करने में बुद्धि को तार्किक एवं तात्त्विक बनाते जायें। बुद्धि को वास्तविक निकष पर कसें और वस्तुमूलक परिज्ञान में ही उसे व्यस्त रखें काल्पनिक-अन्धविश्वासमूलक वादों में नहीं। इस प्रकार के बौद्धिक व्यवसाय से संभव हो सकता है कि हम अपने अध्ययन व्यवसाय में एक ईमानदार चेता एवं निष्पक्ष ज्ञाता या व्याख्याता हैं। ऐसे ही लोगों के लिये श्रुत या श्रुति आधारित किसी भी वाद को सही समझ पाना संभव हो जाता है भले ही वह वाद कर्मवाद हो या अध्यात्मवाद; समाजवाद हो या साम्राज्यवाद; राजनैतिक प्रशासन का कोई वाद हो या आर्थिक-भौतिक प्रबन्धन का कोई वाद; भोगविलासिता की सुविधा-हासिल करने के लिए कोई वाद हो या भोगविलासिता त्यागने के व्यामोह का कोई वाद।

शास्त्रबोध के लिये सतत ईमानदार कोई भी ज्ञाता-व्याख्याता जब किसी सत्यनिष्ठ प्रयोजन की परिधि में रहकर जागतिक सत्य या शास्त्र रहस्य को जानने में लग पाता है तब ही उसे अपनी बुद्धि को हेय, उपादेय एवं ज्ञेय सापेक्ष वस्तु या तथ्य को जानने के पुरुषार्थ में व्यस्त रखने की सफलता मिल सकती है। क्या हेय है? क्या उपादेय है? क्या ज्ञेय मात्र है- यह निर्णय तो बुद्धि के लिये अत्यन्त अपरिहार्य है इसके बिना सही दिशा में कोई भी पुरुषार्थ कर पाना सर्वत्र असंभव ही है तथा असमीचीन या दिशा विहीन पुरुषार्थ कभी भी फलनिष्पत्ति का द्योतक नहीं होता है। अतः फलनिष्पत्ति के लिये कारक हमारी सम्यक् बुद्धि ही है कोई सम्प्रदाय नहीं। एतदर्थ वाद, विवाद, संवाद, परिवाद, प्रतिवाद, अतिवाद

आदि भी कारक नहीं माने जा सकते हैं।

शास्त्रों में मौजूद ऋषि प्ररूपित कर्मवाद, अध्यात्मवाद आदि में निहित हितकारी उपदेश को समझने में सम्प्रदायवाद की संकीर्णता या वर्गवाद की संघर्षशीलता अत्यन्त घातक है। यहाँ मोहाच्छन्न वादों की घातक क्षमता सम्प्रदाय या वर्ग संघर्ष से और भी सघन-सबल हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि हम महान् ऋषियों द्वारा निदर्शित कर्मवाद को साम्प्रदायिक होकर समझने की भूल न करें और न ही कर्मवाद की प्रतिपत्तियों से वर्ग संघर्ष को हवा देने का अपराध हम से हो। कर्मवाद से हम यथार्थ जीवन मूल्यों को पहिचानें और अपने परिणामों को संभालने खंगालने का कार्य करें। इसके लिये जरूरी है कि हमारी बुद्धि को अपने जीवन में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की उपादेयता तथा हिंसा, असत्य, स्तेय (चौर्य), अब्रह्म (कुशील) सेवन और परिग्रह की हेयता स्वीकार्य हो। हेयोपादेयता की परिधि में रहकर जानने वाला ज्ञान ज्ञेयलुब्ध नहीं होता है जिससे उसके मोहग्रस्त होने की प्रक्रिया मन्द होती हुई बन्द हो सकती है। ऐसा ज्ञान ही किसी वस्तु या तद्विषयक उपदेश को समझने में सक्षम माना जा सकता है। भारतीय चिन्तन धारा में प्रतिष्ठित कर्मवाद को समझना हमें तभी संभव हो सकता है जब हम अपनी बुद्धि को उपर्युक्तानुसार सुयोग्य बनायें। जैन परम्परा में सुगुम्फित कर्मवाद हमारा मार्गदर्शक तभी हो सकता है जब हम तदर्थक जिज्ञासाओं का समाधान खोजना चाहते हों।

कर्म क्या है? उनके भेद-प्रभेदों की प्ररूपणा का मूल्य क्या है? उन्हें समझना जरूरी क्यों है? जीवन की विविध समस्यायें, परिणतियाँ या दशायें कर्मवाद से कैसे नियन्त्रित मानीं जायें? उनका प्रभाव कार्मिक परिवेश में कहाँ तक सही है? जीव और कर्मों का परस्पर बंध क्या है और क्यों होता है? जीव कर्मों का परस्पर बंध क्या है और क्यों होता है? जीव कर्मों से बंधते हैं या कर्म जीव को बांधते हैं? किससे किसका सम्बन्ध है और उसका यथार्थ मूल्य क्या है? सांसारिक जीव में कर्मबंधन अपरिहार्य क्या है? क्या यह अपरिहार्यता वस्तु स्वातन्त्र्य की विनाशक मानी जाये? जीव और कर्मों का परस्पर संश्लेषात्मक बंध क्या एकक्षेत्रावगाह

सम्बन्ध मात्र है अथवा उनमें और भी कोई सम्बन्ध की अविनाभाविता है? निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की स्वीकृति मात्र क्या यहाँ समाधानकारक है? निमित्त एवं नैमित्तिक पदार्थों परिणामों की योग्यता का मूल्यांकन क्या यहाँ उपेक्षणीय माना जा सकता है? अथवा योग्यता के बिना किसी को भी कर्म बंध में निमित्त या नैमित्तिक स्वीकारना हमें संभव है क्या? क्या निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध को कर्त्ताकर्म के रूप में स्वीकार किया जा सकता है? निमित्त कर्त्ता है और नैमित्तिक कर्म है- यह प्रतिपत्ति हमें क्या सूचित करती है? क्या इसे सर्वथा-शाश्वत सत्य माना जा सकता है- निमित्त नैमित्तिक संबन्धों की अपरिहार्यता क्यों है और क्यों हमें उस परिधि में कर्त्ता कर्म विषयक व्यवहार स्वीकार्य है? क्या निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध वस्तुमूलक योग्यता को नकारता है? क्या निमित्त वस्तु नैमित्तिक वस्तु की योग्यता को बदल सकती है या नैमित्तिक वस्तु की योग्यता उससे प्रभावित होकर स्वयं क्रियान्वित होती है? जैनकर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में कर्मों का उदय निमित्त एवं जीवगत तादृश परिणाम नैमित्तिक हैं तो जीवगत परिणामों को निमित्त एवं कर्मबन्ध को नैमित्तिक मानना भी असंभव नहीं है। इस प्रकार कर्मबन्धन में पड़े संसारी जीवों के लिये कर्म और जीव परस्पर निमित्त नैमित्तिक दोनों रूपों में स्वीकार्य हो जाते हैं? कर्म निमित्त है तो नैमित्तिक भी है निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की परिधि में जीवों के संसरण एवं उनकी समस्त सांसारिक अवस्थाओं को यथार्थ के धरातल पर समझने-समझाने में जैनकर्मसिद्धान्त की महती भूमिका है।

जैनकर्मसिद्धान्त से ज्ञात हो जाता है कि प्रत्येक जीव का संसरण चक्र अनादि काल से गतिशील है। जीव और कर्म ही अनादि हैं, जिनका परस्पर निमित्त नैमित्तकपना जीवन की विभाव परिणतियों तथा कर्मों के बंधोदय आदि के रूप में सादि सान्त है। कोई भी ऐसा कर्म नहीं है जो अनादि से जीव के साथ बंधा हो परन्तु सतत परम्परा के चलते रहने से जीव को कर्मबंध अनादि से माना जाता है। जगत् में मौजूद प्राणियों के जीवन व्यवहारों और नानाविध संयोग वियोगों की तथ्यात्मक जानकारी उनके कार्मिक परिवेश के बिना असंभव है।

संसार में जीवों की हर भूमिका कर्माधारित क्यों है? चतुर्गति

परिमित जीवों के जन्ममरण रूप भवसंक्रमण में कर्मों की भूमिका क्या है? क्या कारण है कि पराधीन होकर जीव प्राप्त पर्याय में ही तन्मय हो जाता है और अपना जीवन केवल मानसिक भौतिक या दैहिक सुख दुःखों की वैतरणी में खपा देता है तथा इन्द्रिदयज्ञान और इन्द्रियजसुख के लिये ही अपने सम्पूर्ण जीवन को भोगाभिलाषा रूपी अग्नि में होमते रहता है। इसका कारण कर्मबन्धन है तो वह क्यों होता है और किस रूप में जाना जाये। द्रव्यकर्म, नोकर्म और भावकर्म में परस्पर सम्बन्ध की अवधारणा क्या है? इनमें जीव के पुरुषार्थ की भूमिका कहाँ और कैसी है? जीव को कर्मबन्धन क्यों होता है तथा जीव उससे मुक्त कब और कैसे हो सकता है? कर्मबन्धन से तथा तज्जन्य जागतिक प्रपञ्च से बचने का उपाय क्या है? क्या वह उपाय कर पाना हमारे लिये संभव है? यदि हाँ तो तद्विषयक पुरुषार्थ का औचित्य क्या है? जीव के लिये कर्म का बंध और मोक्ष क्यों, कैसे और कहाँ होते हैं? क्या ये दोनों परिणतियाँ जीव में पराधीन परिणतियाँ मात्र हैं? तथा जीव के लिये उनका औचित्य क्या है? क्या वह केवल कर्मों के संयोग वियोग तक ही सीमित है? अथवा उनके होने में या होते रहने में कोई और भी अपरिहार्यतायें मानीं गयी हैं। क्या कर्मों से जीव की या जीव से कर्मों की स्वतंत्रता का हनन होता है? क्या दोनों ही अपनी अपनी स्वतंत्र सत्ता के द्योतक नहीं हैं? क्या उनमें परस्पर किसी की सत्ता को बदलने-परिणमाने की अर्हता है? क्या कारण है कि स्वतंत्र जीव और कार्मण वर्गणा रूप पुद्गल कभी भी अपनी-अपनी परित्याग नहीं करते हैं और न ही परस्पर एक दूसरे की सत्ता का परित्याग नहीं करते हैं और न ही परस्पर एक दूसरे की सत्ता का आहरण-अपहरण करते हैं। जीव और पुद्गल कर्मों में परस्पर अत्यन्ताभाव है यह क्यों प्ररूपित किया गया है? जीव और पुद्गल कर्मों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्धों की अपरिहार्यता को जानने में उनकी योग्यता को ही महत्व क्यों दिया जाता है। जो जीव परिणाम कर्मबंध में निमित्त है वही कर्मोदय के होने पर कर्मबंध के होने से नैमित्तिक भी हैं क्या यह योग्यता का अनुसरण नहीं है? इत्यादि अनेकानेक जिज्ञासाओं का समाधान करने की क्षमता जैनकर्मसिद्धान्त में दृष्टिगोचर होती है। जीवनमूल्यों की विविधप्रस्थापनाओं

एवं पारस्परिक सम्बन्धों की यथार्थता को उजागर करने में जैनकर्मसिद्धान्त की महती भूमिका मानी जा सकती है। जैनकर्मसिद्धान्त प्राणियों के जीवन में दृष्टिगत मन-वचन-काय विषयक भौतिक कार्य (स्थूल कर्म) मोह-ममता, क्रोधादिक संवेदनापरक कार्य (सूक्ष्म कर्म) और ज्ञानावरणादिक के बंधोदयादिक कार्य ((अति सूक्ष्म कर्म) के परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों की साक्षी में प्राणीगत जीवनमूल्यों के अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्थित पद्धति को प्रस्तुत करता है। इसलिये इस प्रकार की ज्ञानविधा या विचारधारा को ही कर्मवाद कहना संभव है। प्रायः सभी भारतीय दर्शन शास्त्रों में कर्मवाद की विविध अवधारणायें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्वीकृत हुई हैं।

जैनकर्मसिद्धान्त के आलोक में जैनदार्शनिक सचमुच ही कर्मवाद की सुव्यस्थित एवं सटीक प्ररूपणा जिस व्यापाक पटल पर करते हैं उससे जीवन मूल्य विषयक चिरन्तन सत्यों की अभिव्यञ्जना होती है। जहाँ हम प्राणी जगत् के समूचे व्यवहारों को निमित्त-नैमित्तिक परिवेश में समझने की क्षमता अर्जित कर लेते हैं। यदि हम मनुष्यजीवन में व्याप्त आमूलचूल जीवन व्यवहारों को व्यवस्थित ज्ञान की कसौटी पर कसकर उनकी समीचीनता को जानना चाहें तो जैनकर्मसिद्धान्त अपनी विविधप्ररूपणाओं से हमें संतुष्ट करने में सक्षम है और सर्वत्र अपनी अदूषित एवं पूर्वापरविरोधशून्य प्ररूपणायें करने वाला होने से अपराजेय ही अधिगत होता है। इस परिचिति के लिये कर्मवाद के परिज्ञापक जिन आधारभूत तथ्यों को जानना जरूरी है वे हैं-

1. जैनकर्मसिद्धान्त का मूल लक्ष्य जीवों को मुक्ति की अवधारणा से परिचय कराना है और तदर्थ पुरुषार्थ हेतु उन्हें प्रेरित करना है।
2. जैनकर्मसिद्धान्त वस्तुस्वातंत्र्य का ही समर्थक है और संसारी आत्माओं को पूर्ण स्वतंत्र या स्वाधीन होने हेतु मुक्ति पुरुषार्थ को प्रेरणा देता है।
3. जैनकर्मसिद्धान्त कोरी कल्पनाओं एवं अन्धविश्वासजन्य अवधारणाओं का समर्थक एवं परतंत्रता का प्रस्थापक नहीं है।
4. प्राणीजगत् के रहस्यों एवं जीवनमूल्यों को जैनकर्मसिद्धान्त से यथार्थ रूप में समझना हम सबको संभव है।

5. ईश्वरवाद की अवधारणायें जैनकर्मसिद्धान्त की परिपोषक नहीं है प्रत्युत उससे विरूद्ध ही ज्ञापित होती है। क्योंकि ईश्वरवाद में ईश्वर को ही सर्वविध सम्पूर्ण कार्यों या क्रियाकलापों का कर्ता या नियन्ता मान लिया गया है। यहाँ वह करने के लिये, नहीं करने के लिये और अन्यथा करने के लिये समर्थ मान लिया गया है (कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं यः समर्थः स ईश्वरः) किन्तु विचार करने पर यह अवधारणा कपोल-कल्पित अर्थात् अहेतुक ही सिद्ध होती है।

6. जैनकर्मसिद्धान्त के अनुसार संसरणशील प्राणियों के जीवन व्यवहार विषयक क्रियाकलापों या कार्यों के होने में कर्म को मात्र निमित्त ही माना गया है। कर्म जीवों की योग्यता के बिना उन्हें संसरण नहीं कराता है और न ही उनके कार्यों या क्रियाकलापों को करता है।

7. ईश्वरवाद में ईश्वर को ही कर्त्ता मानने का पूर्णतया समर्थन है। जिससे ईश्वरवाद को मानने वाले प्राणी कर्तृत्वजन्य अहंकार से ग्रसित देखे जाते हैं। जैनकर्मवाद में ऐसी कोई संभावना नहीं है।

8. ईश्वरवाद में सभी प्राणी परतन्त्र ही ज्ञापित होते हैं। यहां ईश्वर को ही सर्वशक्तिमान बताकर यह द्योतित कर दिया गया है कि प्राणियों का स्वतंन्त्रत रहना या परतन्त्र होना ईश्वर के अधीन ही है। जैनकर्मवाद जीव और कर्मों को परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों की परिधि में देखता है तथा दोनों की स्वतंत्रता का ही बोध हमें करा देता है।

9. ईश्वरवाद में सभी प्राणी को कर्मों को फल ईश्वर देता है। यद्यपि प्राणियों के अदृष्टानुसार ही वह उन्हें फल देने की प्रक्रिया अपनाता है। जबकि जैनकर्मसिद्धान्त के अनुसार प्राणियों को अपने कर्मों का फल उसके द्वारा ही संचित या बांधे गये कर्मों में निहित सामर्थ्य के निमित्त से स्वयं मिलता है।

10. जैनकर्मसिद्धान्त के अनुसार प्राणी अपनी योग्यता के अनुरूप पुरुषार्थ करके स्वयं ही कर्मबन्धन में पड़ता है और अपने ही मुक्त होने योग्य पुरुषार्थ से मुक्त भी हो सकता है।

11. जैनकर्मसिद्धान्त से यह प्रतिपादित होता है कि जीवों का संसरण होना एवं उन्हें सुख दुःख का परिभोग होनो उनके स्वयं के योग्यतामूलक

पुरुषार्थ पर निर्भर है। इसमें कर्मों के उदयादि की भूमिका भी निमित्तपने में अपरिहार्य होती है। यहाँ कर्म और जीव के परिणामों में परस्पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध ही ज्ञात होता है, कर्तृकर्मसम्बन्ध नहीं।

12. आत्मा (जीव) और कर्मप्रकृतियों में जब तक विवेक ख्याति नहीं होती है तब तक जीव का संसार बना रहता है तथा जब वह उन दोनों को उनके अपने-अपने स्वरूप से जानकर विवेक सम्पन्न होता है तो यथोचित पुरुषार्थ से संसार से मुक्त होता जाता है। इस प्रकार जैनकर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में फलित होता है कि जीव दोनों ही परिस्थितियों के लिये स्वयं ही स्वतंत्र है।

13. जैनकर्मसिद्धान्त के अनुसार विवेकख्याति किं वा भेदविज्ञान से जीव की बुद्धि जब स्वतत्त्व निष्ठ होती है अर्थात् स्व शुद्धात्मा की शरण को ले लेती है तो जीव से बंधे कर्मों का पार्थक्य होने लगता है परिणामतः जीव को कर्मों से मुक्ति मिलने पर सुख भी मिल जाता है।

14. कर्मवाद अशुभ से बचकर शुभ में प्रवृत्त होने की प्रेरणा देता है परन्तु उसका लक्ष्य पुनः अशुभ की ओर उन्मुख होने की छूट देना कतई नहीं है। जैनकर्मसिद्धान्त के उपदेश से यह ज्ञात हो जाता है कि जीव कर्मबन्धन में बने रहने के लिये नहीं अपितु उससे मुक्त होने का ही पुरुषार्थ करे। कर्मों से मुक्ति पाना ही जीव का चरम लक्ष्य है और उसे ज्ञापित करना कर्मसिद्धान्त का।

15. जैनकर्मसिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक संसारी जीवों में उनके संसरण का कारण कर्म ही है। यहाँ कर्म भी त्रिविध माना गया है- भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म। इनमें भावकर्म तो जीव का मोह राग द्वेष रूप स्वकीय विकारी परिणाम ही है। जीव में होने वाले इन विकारी परिणामों के होने में निमित्त कारण हैं तो नोकर्म बहिरंग निमित्त कारण।

16. जैनकर्मवाद की अवधारणा से फलित होता है कि संसारी प्राणियों का जीवन चक्र जीवगत भावकर्मों, पुद्गल स्वरूप द्रव्यकर्मों एवं नोकर्मों में परस्पर जायमान निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धों की मर्यादा में ही चलता रहता है। यहाँ प्राणियों में होने वाले बन्धन या मुक्ति विषयक कार्यों अथवा पुरुषार्थों का आकलन निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों की परिधि में ही

होता है उन जीवपरिणामों को नैमित्तिक के रूप में औदयिक आदि कहा जाता है। उभयत्र अर्थात् निमित्त और नैमित्तिक दोनों ही प्रकार के परिणमन में योग्यता का ही वर्चस्व स्वीकृत होता है अर्थात् कोई भी पदार्थ या परिणाम अपनी योग्यता के अनुरूप ही निमित्त या नैमित्तिक कहलाता है। अतः निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों में योग्यता को भूलना असंभव है। जो लोक निमित्त नैमित्तिक का आकलन उनकी योग्यता को दरकिनार करके करते हैं वे वस्तुतः निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों के यथार्थ बोध से अछूते ही रहते हैं। उन्हें कर्मवादीय तत्त्वों को जैनकर्मसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में समझ पाना असंभव ही रहता है। बुद्धि में कर्मों को मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से जान लेना तथा कर्मों के बंधव्युच्छिति, उदयव्युच्छिति आदि को शास्त्रानुसार रट लेना जैनकर्मसिद्धान्त का अधिगम नहीं है अपितु जीवपरिणामों और कर्म की विविध दशाओं में अविनाभावपने से विद्यमान पारस्परिक निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों को पहिचान कर वस्तु स्वतन्त्रता के बोध से संतुष्ट होने पर ही जैनकर्मसिद्धान्त का अधिगम संभव है।

17. जीव और कर्मद्रव्यों के बीच मौजूद निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों के बल पर ही औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक एवं परिणामिक भावों को जीव के असाधारण भाव जीव की परिचिति कराने के लिये ही कहा गया है। जैनकर्मसिद्धान्त को समझने के लिये इन्हें आधारभूत तत्त्व माना जा सकता है। यहाँ जीव के औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक और औदयिक भाव ऐसे नैमित्तिक परिणाम हैं जिनके होने में क्रमशः कर्मों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम और उदय रूप निमित्त का सद्भाव रूप से होना अपरिहार्य होता है तो जीव के परिणामिक भावों के होने में कर्मों के उदय आदि निमित्तों का न होना भी अभावपने से अपरिहार्य कारण है।

18. सामान्यतः संसारिप्राणियों में जब पर पदार्थों को जानने का पुरुषार्थ होता है तो उनमें मोह राग-द्वेष आदि विकारी भावों की प्रादुर्भूति होती है जिससे जीव कर्मबंध के चक्र में बना रहता है। किन्तु जब वह पर पदार्थों को जानने के व्यापार से विरत होकर स्व अर्थात् अपने ज्ञायकभाव को ही जानने का पुरुषार्थ करता है तो मोह कर्मों के उपशम या क्षय या क्षयोपशम से वह कर्मबंध के चक्र से बाहर निकल जाता है। जैनकर्मसिद्धान्त

जीव के इन दोनों ही पुरुषार्थों की अधिगति कराता है। अतः इस दृष्टि से जीव का वह पुरुषार्थ ही कर्मवाद का मूल आधार तत्त्व माना जा सकता है जिससे जीव में मोहरागादि परिणाम पैदा होते हैं अथवा मिटते है। इस प्रकार जैनकर्मवाद मुख्यता से जीवाधारित ही ज्ञात होता है तथापि जीव और पुद्गलों के परिणमन में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्धों की उपेक्षा जैनकर्मसिद्धान्त में अभ्युपगत नहीं है। वस्तु स्वातन्त्र्य का हनन भी जैनकर्मसिद्धान्त से पुरस्कृत नहीं होता है अपितु वह अपनी विशिष्ट प्ररूपणा से वस्तु स्वातन्त्र्य को ही फलित करता है।

19. जैन परम्परा में वाड्.मय स्वरूप कर्मसिद्धान्त का मूल आधार जितेन्द्रिय जिन अर्थात् पूर्ण वीतरागी एवं सर्वज्ञ स्वरूप अर्हन् परमेष्ठी की देशना को माना गया है। तदनुगामी वाड्.मय जो आज उपलब्ध है उसे दिगम्बर श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार जानकर कर्मसिद्धान्त के रहस्य को समझा जा सकता है। पेज्जदोसपहुदी (कषायपाहुड), छक्खंडागमो (षट्खण्डागम) एवं तदुपजीवी धवला, महाधवला, गोम्मटसार-जीवकाण्ड-कर्मकाण्ड प्रभृति दिगम्बर ग्रंथों को तथा बन्धशतक कम्म्पयडी (कर्मप्रकृति), सप्ततिका, पंचसंग्रह आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों को जैनकर्मवाद को आधार वाड्.मय की दृष्टि से माना जा सकता है।

- जैनदर्शन विभाग, रा.संस्कृत संस्थान,
जयपुर परिसर, गोपालपुरा बाईपास,
जयपुर (राजस्थान)

भारतीय दर्शनों में अनेकान्तवाद के तत्त्व : एक ऐतिहासिक विवेचन

- प्रो. सागरमल जैन

अनेकांतवाद को मुख्यत: जैनदर्शन का पर्याय माना जाता है। यह कथन सत्य भी है, क्योंकि अन्य दार्शनिकों ने उसका खण्डन उसके इसी सिद्धान्त के आधार किया जाता है, दूसरी ओर अनेकांतवाद को जैनदर्शन का पर्याय मानना समुचित भी है, किन्तु उसका यह भी अर्थ नही है कि अन्य भारतीय दर्शन भी ऐतिहासिक कालक्रम में विकसित हुए हैं। सबसे प्राचीन वेद हैं, उनके बाद उपनिषदों का क्रम आता है। दर्शनों में **सांख्य दर्शन** पुराना है, उसके बाद 'योग' का क्रम आता है। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन न्याय की अपेक्षा पुराना है। मीमांसा के बाद वेदान्त का क्रम आता है। सत्ता के सम्बन्ध में अनेकान्तवाद एक अनुभूत सत्य है और अनुभूत सत्य को स्वीकार करना ही होता है। विवाद या मत-वैभिन्य अनुभूति के आधार पर नहीं, उसकी अभिव्यक्ति के आधार पर होता है। अभिव्यक्ति के लिए भाषा का सहारा लेना होता है, किन्तु भाषायी अभिव्यक्ति अपूर्ण-सीमित और सापेक्ष होती है। अत: उसमें मतभेद होता है और उन मतभेदों की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करने या उन परस्पर विरोधी कथनों के बीच समन्वय लाने के प्रयास में ही अनेकांतवाद का जन्म होता है। वस्तुत: अनेकान्तवाद या अनैकान्तिक दृष्टिकोण का विकास निम्न तीन आधारों पर होता है-

1. बहु-आयामी वस्तुतत्व सम्बन्ध में एकान्तिक विचारों या कथनों का निषेध।

2. भिन्न-भिन्न अपेक्षाओं के आधार पर बहुआयामी वस्तुतत्व के सम्बन्ध में प्रस्तुत विरोधी कथनों की सापेक्षिक सत्यता की स्वीकृति।

3. परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली विचार धाराओं को समन्वित करने का

प्रयास।

वेदों में प्रस्तुत अनेकान्त दृष्टि :

प्रस्तुत आलेख में हमारा प्रयोजन उक्त अवधारणाओं के आधार पर जैनेतर भारतीय चिंतन में अनैकान्तिक दृष्टिकोण कहां-कहां किसी रूप में उल्लेखित है इसका दिग्दर्शन कराना है।

भारतीय साहित्य में वेद प्राचीनतम है। उनमें भी ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। **ऋग्वेद** न केवल परमतत्व के सत् और असत् पक्षों को स्वीकार करता है अपितु इनके मध्य समन्वय भी करता है। ऋग्वेद के नासदीयसूक्त (10/129/1) में परमतत्व के सत् या असत् होने के सम्बन्ध में, न केवल जिज्ञासा प्रस्तुत की गई अपितु ऋषि ने यह भी कह दिया कि परम सत्ता को हम न सत् कह सकते हैं और न असत्। इस प्रकार वस्तुतत्व ही बहु-आयामिता और उसमें अपेक्षा भेद से परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों की युगपद् उपस्थिति की स्वीकृति हमें वेद काल से ही मिलने लगती है। मात्र इतना ही नहीं, ऋग्वेद का यह कथन- **'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति** (1/164/46)**'** इस कथन में परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाली मान्यताओं की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उनमें समन्वय करने का प्रयास ही तो है। इस प्रकार हमें अनेकान्तिक दृष्टि के अस्तित्व के प्रमाण **ऋग्वेद** के काल से ही मिलने लगते हैं। यह बात न केवल वैदिक ऋषियों द्वारा अनेकान्तिक दार्शनिक दृष्टि की स्वीकृति की सूचक है, अपितु इस सिद्धान्त की त्रैकालिक सत्यता और प्राचीनता की भी सूचक है। चाहे विद्वानों की दृष्टि में सप्तभंगी का विकास एक परवर्ती घटना हो, किन्तु अनेकान्त तो उतना ही पुराना है जितना **ऋग्वेद** का यह अंश। ऋग्वेदिक ऋषियों के समक्ष सत्ता या परमतत्व के बहु-आयामी होने का पृष्ठ खुला हुआ था और यही कारण है कि वे किसी ऐकान्तिक दृष्टि में आबद्ध होना नहीं चाहते थे। ऋग्वेद के दशम मण्डल का नासदीय सूक्त (10/129/1) इस तथ्य का सबसे बड़ा प्रमाण है-

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजों न व्योमं परो यत्

सत्य तो यह है है कि उस परमसत्ता को जो समस्त अस्तित्व के

मूल में है, सत् असत्, उभय, या अनुभय को किसी एक कोटि में आबद्ध करके नहीं कहा जा सकता है दूसरे शब्दों में उसके सम्बन्ध में जो भी कथन किया जा सकेगा वह भाषा की सीमितता के कारण सापेक्ष ही होगा निरपेक्ष नहीं। यही कारण है कि वैदिक ऋषि की उस परमसत्ता या वस्तुतत्व को सत् या असत् नहीं कहना चाहता है, किन्तु प्रकारान्तर से वे उसे सत् भी कहते हैं- यथा- एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं (1/164/46) और असत् भी कहते हैं यथा- देवानां युगे प्रथमेअसतः सदजायत (10/72/3) इससे यही फलित होता है कि वैदिक ऋषि अनेकान्त दृष्टि के ही सम्पोषक रहे हैं।

औपनिषदिक साहित्य में अनेकान्तवाद :

न केवल वेदों में, अपितु उपनिषदों में भी अनेकान्तिक दृष्टि के उल्लेख के अनेकों संकेत उपलब्ध हैं। उपनिषदों में अनेक स्थलों पर परमसत्ता के बहुआयामी होने और उसमें परस्पर विरोधी कहे जाने वाले गुणधर्मों की उपस्थिति के संदर्भ मिलते हैं। जब हम उपनिषदों में अनेकान्तिकदृष्टि के संदर्भों की खोज करते हैं जो उनमें हमें तीन प्रकार के दृष्टिकोण उपलब्ध होते हैं-

1. अलग-अलग संदर्भों में परस्पर विरोधी विचारधाराओं का प्रस्तुतीकरण।
2. ऐकान्तिक विचारधाराओं का निषेध।
3. परस्पर विरोधी विचारधाराओं के समन्वय का प्रयास।

सृष्टि का मूलसत् या असत् था, इस समस्या के संदर्भ में हमें उपनिषदों में दोनों ही प्रकार की विचारधाराओं के संकेत उपलब्ध होते हैं। **तैत्तिरीय उपनिषद्** (2.7) में कहा गया है कि प्रारम्भ में असत् ही था उसी से सत् उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार की पुष्टि **छान्दोग्योपनिषद्** (3/19/1) सें भी होती है। उसमें भी कहा गया है कि सर्वप्रथम असत् ही था उसी से सत् हुआ और सत् से सृष्टि हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि इन दोनों में असत् वादी विचारधारा का प्रतिपादन हुआ, किन्तु इसी के विपरीत उसी **छान्दोग्योपनिषद्** (6/2/1,3) में यह भी कहा गया कि पहले अकेला सत् था, दूसरा कुछ नहीं था, उसी से यह सृष्टि हुई है। बृहदारण्यकोपनिषद् (1/4/1-4) में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए

कहा गया है कि जो कुछ भी सत्ता है उसका आधार लोकातीत सत् ही है। प्रपंचात्मक जगत् इसी सत् से उत्पन्न होता है।

इसी तरह विश्व का मूलतत्व जड़ है या चेतन इस प्रश्न को लेकर उपनिषदों में दोनों ही प्रकार के संदर्भ उपलब्ध होते हैं। एक ओर **बृहदारण्यकोपनिषद्** (2/4/12) में याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी से कहते हैं कि चेतना इन्हीं भूतों में से उत्पन्न होकर उन्हीं में लीन हो जाती है तो दूसरी ओर **छान्दोग्योपनिषद्** (6/2/1,3) में कहा गया है कि पहले अकेला सत् (चित्त तत्व) ही था दूसरा कोई नहीं था। उसने सोचा कि मैं अनेक हो जाऊँ और इस प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति हुई। इसी तथ्य की पुष्टि **तैत्तिरीयोपनिषद्** (2/6) से भी होती है। इस प्रकार हम देखते हैं उपनिषदों में परस्पर विरोधी विचारधारायें प्रस्तुत की गयी है। यदि ये सभी विचारधारायें सत्य हैं तो इससे औपनिषदिक ऋषियों की अनेकान्त दृष्टि का ही परिचय मिलता है। यद्यपि ये सभी संकेत एकान्तवाद प्रस्तुत करते हैं, किन्तु विभिन्न एकान्तवादों की स्वीकृति में ही अनेकान्तवाद का जन्म होता है। अतः हम इतना अवश्य कह सकते हैं कि औपनिषदिक चिन्तन में विभिन्न एकान्तवादों को स्वीकार करने की अनैकान्तिक दृष्टि अवश्य थी। पुनः उपनिषदों में हमें ऐसे भी संकेत मिलते हैं जहां एकान्तवाद निषेध किया गया है। **बृहदारणयकोपनिषद्** (3/8/8) में ऋषि कहता है कि 'वह स्थूल भी नहीं है और सूक्ष्म भी नहीं है। वह ह्रस्व भी नहीं है और दीर्घ भी नहीं है।' इस प्रकार यहाँ हमें स्पष्टतया एकान्तवाद का निषेध प्राप्त होता है। एकान्त के निषेध के साथ-साथ सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की उपस्थिति के संकेत भी हमें उपनिषदों में मिल जाते हैं। **तैतिरीययोपनिषद्** (2/6) में कहा गया है कि वह परम सत्ता मूर्त-अमूर्त वाच्य-अवाच्य, विज्ञान (चेतन)-अविज्ञान (जड़), सत्-असत् रूप है। इसी प्रकार कठोपनिषद् (1/20) में उस परम सत्ता को अणु की अपेक्षा भी सूक्ष्म व महत् की अपेक्षा भी महान् कहा गया है। यहाँ परम सत्ता में सूक्ष्मता और महत्ता दोनों ही परस्पर विरोधी धर्म एक साथ स्वीकार करने का अर्थ अनेकान्त स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकता है? पुनः उसी उपनिषद् (3/12) में एक ओर आत्मा को ज्ञान का विषय

बताया गया है। जब इसकी व्याख्या का प्रश्न आया तो आचार्य शंकर को भी कहना पड़ा कि यहाँ अपेक्षा भेद से जो अज्ञेय है उसे ही सूक्ष्म ज्ञान का विषय बताया गया है। यही उपनिषदों का अनेकान्त है। इसी प्रकार **श्वेताश्वतरोपनिषद्** (1/7) में भी उस परम सत्ता को क्षर एवं अक्षर, व्यक्त एवं अव्यक्त ऐसे परस्पर विरोधी धर्मों से युक्त कहा गया है। यहाँ भी सत्ता या परमतत्व की बहुआयामिता या अनैकान्तिकता स्पष्ट होती है। मात्र यही नही यहाँ परस्पर विरूद्ध धर्मों की एक साथ स्वीकृति इस तथ्य का प्रमाण है कि उपनिषादकारों की शैली अनेकान्तात्मक रही है। यहाँ हम देखते हैं कि उपनिषदों का दर्शन जैन दर्शन के समान ही सत्ता में परस्पर विरोधी मतवादों के समन्वय के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषद्कारों ने न केवल समन्वय के सूत्र भी उपलब्ध होते हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उपनिषदकारों ने न केवल एकान्त का निषेध किया, अपितु सत्ता में परस्पर विरोधी गुणधर्मों को स्वीकृति भी प्रदान की है। जब औपनिषदिक ऋषियों को यह लगा होगा कि परमतत्व में परस्पर विरोधी गुणधर्मों की एक साथ ही स्वीकृति तार्किक दृष्टि से युक्तिसंगत नही होगी तो उन्होंने उस परमत्व को अनिर्वचनीय या अवक्तव्य भी मान लिया। **तैत्तिरीय उपनिषद्** (2) यह कहा गया है कि वहाँ वाणी की पहुँच नही है और उसे मन के द्वारा भी प्राप्त नहीं किया जा सकता (यतो वाचो निवर्तन्ते, अप्राप्य मनसा सह।) इससे ऐसा लगता है कि उपनिषद् काल में सत्ता के सत्, असत्, उभय और अवक्तव्य/अनिर्वचनीय- ये चारों पक्ष स्वीकृत हो चुके थे। किन्तु औपनिषदिक ऋषियों की विशेषता यह है कि उन्होंने उन विरोधों के समन्वय का मार्ग भी प्रशस्त किया। इसका सबसे उत्तम प्रतिनिधित्व हमें ईशावास्योपनिषद् (4) में मिलता है। उसमें कहा गया है-

''अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन्पूर्वमर्षत्''

अर्थात् वह गतिरहित है फिर भी मन से वह देवों से भी तेज गति करता है। **''तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्विन्तिके''**, अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता है वह दूर भी है, पास भी है। इस प्रकार उपनिषदों में जहाँ विरोधी प्रतीत होने वाले अंश है, वहीं उनमें समन्वय को मुखरित

करने वाले अंश भी प्राप्त होते हैं। परमसत्ता के एकत्व-अनेकत्व, जड़त्व-चेतनत्व आदि इन विविध आयामों में से किसी एक को स्वीकार कर उपनिषद् काल में अनेक दार्शनिक दृष्टियों का उदय हुआ। जब ये दृष्टियाँ अपने-अपने मन्तव्यों को ही एकमात्र सत्य मानते हुए, दूसरे का निषेध करने लगी तब सत्य के गवेषकों को एक ऐसी दृष्टि का विकास करना पड़ा जो सभी की सापेक्षिक सत्यता को स्वीकार करते हुए उन विरोधी विचारों का समन्वय कर सके। यह विकसित अनेकान्त दृष्टि ही है, जो वस्तु में प्रतीति के स्तर पर दिखाई देने वाले विरोध के अन्तस में अविरोध को देखती है और सैद्धान्तिक द्वन्द्वों के निराकरण का एक व्यावहारिक एवं सार्थ समाधान प्रस्तुत करती है। वह उन्हें समन्वय के सूत्र में पिरोने का सफल प्रयास भी करती है।

ईशावास्य में पग-पग पर अनेकान्त जीवन दृष्टि के संकेत प्राप्त होते हैं। वह अपने प्रथम श्लोक में ही **''तेन त्यक्तेन भञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्''** त्याग एवं भोग- इन दो विरोधी तथ्यों का समन्वय करता है एवं एकान्त त्याग और एकान्त भोग दोनों को सम्यक् जीवन दृष्टि के लिए अस्वीकार करता है। जीवनयात्रा त्याग और भोगरूपी दोनों चक्रों के सहारे चलती है। इसी प्रकार **ईशावास्य** सर्वप्रथम अनेकान्त की व्यावहारिक जीवनदृष्टि को प्रस्तुत करता है। इसी प्रकार कर्म अकर्म सम्बन्धी एकान्तिक विचारधाराओं में समन्वय करते हुए **ईशावास्य (२)** कहता है कि **''कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छताँ समाः''** अर्थात् मनुष्य निष्काम भाव से कर्म करते हुए सौ वर्ष जीये। निहितार्थ यह है कि जो कर्म सामान्यतया सकाम या सप्रयोजन होते हैं वे बन्धनकारक होते हैं, किन्तु यदि कर्म निष्काम भाव से बिना किसी स्पृहा के हों तो उनसे मनुष्य लिप्त नहीं होता, अर्थात् वे बन्धन कारक नहीं होते। निष्काम कर्म की यह जीवनदृष्टि व्यावहारिक जीवनदृष्टि है। भेद-अभेद का व्यावहारिक दृष्टि से समन्वय करती है उसी में आगे कहा गया है-

यस्तु सर्वाणि भूतानन्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।। (ईशा.६)

अर्थात् जो सभी प्राणियों में अपनी आत्मा को और आत्मा में सभी

प्राणियों को देखता है वह किसी से घृणा नहीं करता। यहाँ जीवात्माओं में भेद एवं अभेद दोनों को एक साथ स्वीकार किया गया है। यहाँ भी ऋषि की अनेकान्तदृष्टि परिलक्षित होती है जो समन्वय के आधार पर पारस्परिक घृणा करने की बात कहती है।

एक अन्य स्थल पर विद्या (अध्यात्म) और अविद्या (विज्ञान) (**ईशा.**10) में तथा सम्भूति (कार्यब्रह्म) एवं असम्भूति (कारणब्रह्म) (**ईशा.**12) अथवा वैयक्तिकता और सामाजिकता में भी समन्वय करने का प्रयास किया गया है। ऋषि कहता है कि जो अविद्या की उपासना करता है वह गहन अन्धकार में प्रवेश करता है किन्तु जो मात्र विद्या (आत्मज्ञान) की उपासना करता है, वह उससे भी गहन अन्धकार में प्रवेश करता है (**ईशा.**9) और वह जो दोनों का जानता है या दोनों का समन्वय करता है वह अविद्या से मृत्यु पर विजय प्राप्त कर विद्या से अमृत तत्व को प्राप्त करता है। (**ईशा.**11)। यहाँ विद्या और अविद्या अर्थात् अध्यात्म और विज्ञान की परस्पर समन्वित साधना अनेकान्त दृष्टि के व्यवहारिक पक्ष को प्रस्तुत करती है। उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि सत्ता की बहु आयामिता और समन्वयवादी व्यावहारिक जीवन दृष्टि का अस्तित्व बुद्ध और महावीर से पूर्व उपनिषदों में भी था, जिसे अनेकान्त दर्शन का आधार माना जा सकता है।

सांख्य दर्शन में अनेकान्तवाद :

भारतीय षड्दर्शनों में सांख्य एक प्राचीन दर्शन है। इसकी कुछ अवधारणाएं हमें उपनिषदों में भी उपलब्ध होती है। यह भी जैन दर्शन के जीव एवं अजीव की तरह पुरुष एवं प्रकृति ऐसे दो मूल तत्व मानता है उसमें पुरुष को कूटस्थ नित्य और प्रकृति को परिणामी नित्य माना गया है। इस प्रकार उसके द्वैतवाद में एक तत्व परिवर्तनशील और दूसरा अपरिवर्तनशील है। इस प्रकार सत्ता के दो पक्ष परस्पर विरोधी गुणधर्मों से युक्त है। फिर भी उनमें एक सह-सम्बन्ध है। पुनः यह कूटस्थ नित्यता भी उस मुक्त पुरुष के सम्बन्ध में है, जो प्रकृति से अपनी पृथक्ता अनुभूत कर चुका है। सामान्य संसारी जीव/ पुरुष में तो प्रकृति के संयोग से अपेक्षा भेद से नित्यत्व और परिणामित्व दोनों ही मान्य किये जा सकते

हैं। पुनः प्रकृति तो जैन दर्शन के सत् के समान परिणामी नित्य मानी गई हैं अर्थात् उसमें परिवर्तनशील एवं अपरिवर्तनशील दोनों विरोधी गुणधर्म अपेक्षा भेद से रहे हुए हैं। पुनः त्रिगुण-सत्त्व, रजस् और तमस् परस्पर विराधी है, फिर भी प्रकृति में वे तीनों एक साथ रहते हैं। सांख्य दर्शन का सत्त्वगुण स्थिति का, रजोगुण उत्पाद या क्रियाशीलता का, तमोगुण विनाश या निष्क्रियता का प्रतीक है। अतः मेरी दृष्टि में सांख्य का त्रिगुणात्मकता का सिद्धान्त और जैनदर्शन का उत्पाद-व्यय और ध्रोव्यात्मकता का सिद्धान्त एक दूसरे से अधिक दूर नहीं है। सत्ता की बहु-आयामिता और परस्पर विरोधी गुणधर्मों की युगपद् अवस्थिति यही तो अनेकान्त है। द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता जैन दर्शन के समान सांख्य को भी मान्य है। पुनः प्रकृति और विकृति दोनों परस्पर विरोधी हैं किन्तु सांख्य दर्शन में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों गुण पाये जाते हैं। सांसारिक पुरुषों की अपेक्षा से वह प्रवृत्यात्मकता और मुक्त पुरुष अपेक्षा से निवृत्यात्मकता देखी जाती है। इसी प्रकार पुरुष में अपेक्षा भेद से भोक्तृत्व और अभोक्तृत्व दोनों गुण देखे जाते हैं, चाहे वह प्रकृति के निमित्त से ही क्यों नही हो। संसार दशा में पुरुष में ज्ञान-अज्ञान, कर्तृत्व-अर्कृत्व, भोक्तृत्व-अभोक्तृत्व ये विरोधी गुण रहते हैं। सांख्य दर्शन की इस मान्यता का समर्थन महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में अनुगीत के 47वें अध्ययन के 7वे श्लोक में मिलता है- उसमें लिखा है-

यो विद्वान्सहवासं च विवासं चैवं पश्यति।
तथैवैकत्वनानात्वे स दुःखात् परिमुच्यते॥

अर्थात् जो विद्वान् जड़ और चेतन के भेदाभेद को तथा एकत्व और भेद को देखता है वह दु:ख से छूट जाता है। जड़ (शरीर) और चेतन (आत्मा) का यह भेदाभेद तथा एकत्व में अनेकत्व और अनेकत्व में एकत्व की यह दृष्टि अनेकान्तवाद की स्वीकृति के अतिरिक्त क्या हो सकती है? वस्तुतः सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति में आत्यन्तिक भेद माने बिना मुक्ति/ कैवल्य की अवधारणा सिद्ध नही होगी, किन्तु दूसरी ओर उन दोनों में आत्यन्तिक अभेद मानेंगे तो संसार की व्याख्या सम्भव नहीं होगी। संसार की व्याख्या के लिए उनमें आंशिक या सापेक्षिक अभेद

और मुक्ति की व्याख्या के लिए उनमें सापेक्षिक भेद मानना भी आवश्यक है। पुनः प्रकृति और पुरुष को स्वतन्त्र तत्त्व मानकर भी किसी न किसी रूप में उसमें उन दोनों की पारस्परिक प्रभावकता तो मानी गई है। प्रकृति में जो विकार उत्पन्न होता है वह पुरुष का सान्निध्य पाकर ही होता है। इसी प्रकार हम चाहे बुद्धि (महत्) और अहंकार को प्रकृति का विकार मानें, किन्तु उनके चैतन्य रूप में प्रतिभाषित होने के लिए उनमें पुरुष का प्रतिबिम्बित होना तो आवश्यक है। चाहे सांख्य दर्शन बन्धन और मुक्ति को प्रकृति के आश्रित माने, फिर भी जड़ प्रकृति के प्रति तादात्म्य बुद्धि का कर्ता तो किसी न किसी रूप में पुरुष को स्वीकार करना होगा, क्योंकि जड़ प्रकृति के बन्धन और मुक्ति की अवधारणा तार्किक दृष्टि से सबल सिद्ध नहीं होती है।

वस्तुतः द्वैतवादी दर्शनों- चाहे वे सांख्य हों या जैन, की कठिनाई यह है कि उन तो तत्त्वों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया या उनमें आंशिक तादात्म्य माने बिना संसार और बन्धन की व्याख्या सम्भव नहीं होती है और दोनों को एक दूसरे से निरपेक्ष या स्वतंत्र माने बिना मुक्ति की अवधारणा सिद्ध नही होती है। अतः किसी न किसी स्तर पर उनमें अभेद और किसी न किसी स्तर पर उनमें भेद मानना आवश्यक है। यही भेदाभेद की दृष्टि ही अनेकान्त की आधार भूमि है, जिसे किसी न किसी रूप में सभी दर्शनों को स्वीकार करना ही होता है। सांख्य दर्शन चाहे बुद्धि, अहंकार आदि को प्रकृति का विकार मानें, किन्तु संसारी पुरुष को उनसे असम्पृक्त नहीं कहा जा सकता है। योगसूत्र के साधनपाद के सूत्र 20 के भाष्य में कहा गया है -

''स पुरुषो बुद्धेः संवेदी सुबद्धेर्नस्वरूपो नात्यन्तं विरूप इति। न तावत्स्वरूपः कस्मात्। ज्ञाता-ज्ञात विषयत्वात्-अस्तु तर्हि विरूप इति नात्यन्तं विरूपः, कस्मात् शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यो यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति।''

अतः प्रकृति और पुरुष दो स्वतन्त्र तत्त्व होकर भी उनमें पारस्परिक क्रिया प्रतिक्रिया घटित होती है। उन दो तत्त्वों के बीच भेदाभेद यही बन्धन की व्याख्याओं का आधार है।

योगदर्शन में अनेकान्तवाद :

जैन दर्शन में द्रव्य और गुण या पर्याय, दूसरे शब्दों में धर्म और धर्मी में एकान्त भेद या एकान्त अभेद को स्वीकार नहीं करके उनमें भेदाभेद स्वीकार करता है और यही उसके अनेकान्तवाद का आधार है। यही दृष्टिकोण हमें **योगसूत्र भाष्य** में भी मिलता है-

''न धर्मी त्र्यध्वा धर्मास्तु त्र्यध्वान ते लक्षिताश्व तान्तामवस्थां प्राप्नुवन्तो अन्यत्वेन प्रति निर्दिश्यन्ते अवस्थान्तरतो न द्रव्यान्तरतः। यथैक रेखा शत स्थाने शतं दश स्थाने दशैक चैकस्थाने यथाचैकत्वेपि स्त्री माता चोच्यते दुहिता च स्वसा चेति।''

योगसूत्र विभूतिपाद 13 के भाष्य को में इसी तथ्य को इस प्रकार भी प्रकट किया गया है- **''यथा सुवर्ण भाजनस्य भित्वान्यथा क्रियमाणस्य भावान्यथात्वं भवति न सुवर्णान्यथात्वम्''** इन दोनों सन्दर्भों से यह स्पष्ट है कि जिस प्रकार एक ही स्त्री भेद से माता, पुत्री अथवा सास कहलाती है उसी प्रकार एक ही द्रव्य अवस्थान्तर को प्राप्त होकर भी वही रहता है। एक स्वर्णपात्र को तोड़कर जब कोई अन्य वस्तु बनाई जाती है तो उसकी अवस्था बदलती है किन्तु स्वर्ण तो वही रहता है अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा वह वही रहता अर्थात् नहीं बदलता है, किन्तु अवस्था बदलती है। यही सत्ता का नित्यानित्यत्व या भेदाभेद है जो जैन दर्शन में अनेकान्तवाद का आधार है। इस भेदाभेद को आचार्य वाचस्पति मिश्र इसी स्थल की टीका में स्पष्ट रूप से स्वीकार करते हुए लिखते हैं-

''अनुभव एव ही धर्मिणो धर्मादीनां भेदाभेदी व्यवस्थापयन्ति।''

मात्र इतना ही नहीं, वाचस्पति मिश्र तो स्पष्ट रूप से एकान्तवाद का निरसन करके अनेकान्तवाद की स्थापना करते हैं। वे लिखते हैं-

न ह्यैकान्तिके भेदे धर्मादीनां धर्मिणो, धर्मीरूपवद् धर्मादित्वं नाप्यैकान्तिके भेदे गवाश्ववद् धर्मादित्यं स चानुभवेने-कान्तिकत्वमवस्थापयन्नापि धर्मादिषूपजनापाय धर्मकिष्वपि धर्मिणमेकमनुगमयन् धर्माश्च परस्परतो व्यवर्तयन् प्रत्याममनु भूयत इति।

एकान्त का निषेध और अनेकान्त की पुष्टि का योग दर्शन में

इससे बड़ा कोई प्रमाण नहीं हो सकता है। योग दर्शन भी जैन दर्शन के समान ही सत्ता को सामान्य विशेषात्मक मानता है। योगसूत्र के समाधिपाद का सूत्र 7 इसकी पुष्टि करता है-

इसी बात को किंचित् शब्द भेद के साथ विभूतिपाद के सूत्र 44 में भी कहा गया है-**सामान्यविशेषसमुदायोत्र द्रव्यम्।**

मात्र इतना ही नहीं, योगदर्शन में द्रव्य की नित्यता-अनित्यता को उसी रूप में स्वीकार किया गया है, जिस रूप में अनेकान्त दर्शन में। **महाभाष्य** के पंचमाह्निक में प्रतिपादित है-

द्रव्यनित्यमाकृतिरनित्या, सुवर्णं कदाचिदाकृत्यायुक्तं पिण्डो भवति पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते आकृतिरन्याचान्याभवति द्रव्यं पुनस्तदेव आकृत्युपमृद्येन द्रव्यमेवावशिष्यते।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सांख्य और योगदर्शन की पृष्टभूमि में कहीं न कहीं अनेकान्त दृष्टि अनुस्यूत है।

वैशेषिक दर्शन में अनेकान्त :

वैशेषिक दर्शन में जैन दर्शन के समान ही प्रारम्भ में तीन पदार्थों की कल्पना की गई है, वे द्रव्य, गुण और कर्म, जिन्हें हम जैन दर्शन के द्रव्य, गुण और पर्याय कह सकते हैं। यद्यपि वैशेषिक दर्शन भेदवादी दृष्टि से इन्हें एक दूसरे से स्वतंत्र मानता है फिर भी उसे इनमें आश्रय आश्रयी भाव तो स्वीकार करना ही पड़ा है। ज्ञातव्य है कि जहाँ आश्रय-आश्रयी भाव होता है, वहाँ उनके कथंचित् या सापेक्षिक सम्बन्ध तो मानना ही पड़ता है, उन्हें एक से दूसरे से स्वतंत्र कहें, फिर भी वे असम्बद्ध नहीं है। अनुभूति के स्तर पर द्रव्य से पृथक् गुण और द्रव्य एवं गुण से पृथक् कर्म नहीं होते हैं। यहाँ उनका भेदाभेद है, अनेकान्त है।

पुनः वैशेषिक दर्शन में सामान्य और विशेष नामक दो स्वतंत्र पदार्थ माने गए हैं। पुनः उनमें भी सामान्य के दो भेद किए- परसामान्य और अपरसामान्य। परसामान्य को ही सत्ता भी कहा गया है, वह शुद्ध अस्तित्व है, सामान्य है किन्तु जो अपर सामान्य है वह सामान्य विशेष रूप है। द्रव्य, गुण और कर्म अपरसामान्य है और अपरसामान्य होने से

सामान्य विशेष उभय रूप है। वैशेषिक सूत्र (1/2/5) में कहा गया है-

''द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च''

द्रव्य, गुण और कर्म को युगपद् सामान्य विशेष-उभय रूप मानना यही तो अनेकान्त है। द्रव्य किस प्रकार सामान्य विशेषात्मक है, इसे स्पष्टकरते हुए वैशेषिकसूत्र (9/2/3) में कहा गया है-

सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्।

सामान्य और विशेष-दोनों ज्ञान, बुद्धि या विचार की अपेक्षा से है। इसे स्पष्ट करते हुए भाष्यकार प्रशस्तपाद कहते हैं-

द्रव्यत्वं पृथ्वीत्वापेक्षया सामान्यं सत्तापेक्षया च विशेष इति।

द्रव्यत्व पृथ्वी नामक द्रव्य की अपेक्षा से सामान्य है और सत्ता की अपेक्षा से विशेष है। दूसरे शब्दों में एक ही वस्तु अपेक्षा भेद से सामान्य और विशेष दोनों ही कही जा सकती है। अपेक्षा भेद से वस्तु में विरोधी प्रतीत होने वाले पक्षों को स्वीकार करना- यही तो अनेकान्त है। 'सामान्य विशेष दोनों को स्वीकार करना- यही तो अनेकान्त है। उपस्कार कर्ता ने तो स्पष्टतः कहा है **'सामान्यं विशेषसंज्ञामपि लभते'।** अर्थात् वस्तु केवल सामान्य अथवा केवल विशेष रूप में होकर सामान्य विशेष रूप है और इसी तथ्य में अनेकान्त की प्रस्थापना है।

पुनः वस्तु सत् असत् रूप है इस तथ्य को भी कणाद महर्षि ने अन्योन्याभाव के प्रसंग में स्वीकार किया है। वे लिखते हैं-

सच्चासत्। यच्चान्यदसदतस्तदसत्-वैशेषिक सूत्र (९/१/४-५)

इसकी व्याख्या में उपस्कारकर्ता ने जैन दर्शन के समान ही कहा है-

यत्र सदेव घटादि असदिति व्यवह्रियते तत्र तादात्म्याभावः प्रतीयते। भवति हि असन्नश्वो गवात्मना-असन् गौरश्वात्मना-असन् पटो घटात्मना इत्यादि।

तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वस्वरूप की अपेक्षा से अस्ति रूप है और स्वरूप की अपेक्षा नास्ति रूप है। वस्तु में स्व की सत्ता की स्वीकृति और पर की सत्ता का अभाव मानना यही तो अनेकान्त है जो वैशेषिकों को भी मान्य है। अस्तित्व नास्तित्व पूर्वक और नास्तित्व अस्तित्व पूर्वक ही होता है।

न्यायदर्शन में अनेकान्तवाद :

न्यायदर्शन में न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन ने न्यायसूत्र (1/141) के भाष्य में अनेकान्तवाद का आश्रय लिया है। वे लिखते हैं-

एतच्च विरुद्धयोरेक धर्मिस्थयोर्बोधव्यं, यत्र तु धर्मी सामान्यगतो विरुद्धौ धर्मौ हेतुतः सम्भवतः तत्र समुच्चयः हेतुतोर्थस्य तथाभावोपपतेः इत्यादि अर्थात् जब एक ही धर्मी में विरुद्ध अनेक धर्म विद्यमान हों तो विचार पूर्वक ही निर्णय लिया जाता है, किन्तु जहां धर्मी सामान्य में (अनेक) धर्मों की सत्ता प्रामाणिक रूप से सिद्ध हो, वहां पर तो उसे समुच्चय रूप अर्थात् अनेक धर्मों से युक्त ही मानना चाहिए। क्योंकि वहाँ पर तो वस्तु उसी रूप में सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि यदि दो धर्मों में आत्यन्तिक विरोध नहीं है और वे सामान्य रूप से एक ही वस्तु में अपेक्षा भेद से पाए जाते हैं तो उन्हें स्वीकार करने में न्याय दर्शन को आपत्ति नही है।

इसी प्रकार जाति और व्यक्ति में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद मानकर जाति को भी सामान्य-विशेषात्मक माना गया है। भाष्यकार वात्स्यायन न्यायसूत्र (2/2/66) की टीका में लिखते हैं-

यच्च केषांचिद् भेदं कुतश्चिद् भेदं करोति तत्सामान्यविशेषी जातिरिति।

यह सत्य है कि जाति सामान्य रूप भी है, किंतु जब यह पदार्थों में कथंचित् अभेद और कथंचित् भेद करती है तो वह जाति सामान्य-विशेषात्मक होती है। यहाँ जाति को जो सामान्य की वाचक है सामान्य विशेषात्मक मानकर अनेकांतवाद की पुष्टि की गई है। क्योंकि अनेकान्तवाद व्यष्टि में समष्टि और समष्टि में व्यष्टि का अन्तर्भाव मानता है। व्यक्ति के बिना जाति की और जाति के बिना व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है उनमें कथंचित भेद और कथंचित् अभेद है। सामान्य में विशेष और विषेष में सामान्य अपेक्षा भेद से निहित रहते हैं, यही तो अनेकान्त है।

सत्ता सत्-असत् रूप है यह बात भी न्याय दर्शन में कार्य-कारण की व्याख्या के प्रसंग में प्रकारान्तर से स्वीकृत है। पूर्व पक्ष के रूप में न्यायसूत्र (4/1/48) में यह कहा गया है कि उत्पत्ति के पूर्व कार्य को न तो सत् कहा जा सकता है, क्योंकि दोनों में वैधर्म्य है-

नासन्न सन्नसदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात्।

इसका उत्तर टीका में विस्तार से दिया गया है, किन्तु हम विस्तार में न जाकर संक्षेप में उनके उत्तरपक्ष में प्रस्तुत करेंगे। उनका कहना है कि कार्य-उत्पत्ति पूर्व कारण रूप से सत् है क्योंकि कारण के असत् होने से कोई उत्पत्ति ही नहीं होगी। पुनः कार्य रूप से वह असत् भी है क्योंकि यदि सत् होता है तो फिर उत्पत्ति का क्या अर्थ होता? अतः उत्पत्ति पूर्व कार्य कारण रूप से सत् और कार्य रूप से असत् अर्थात् सत-असत् उभय रूप है। यह बात बुद्धिसिद्ध है (विस्तृत विवेचना के लिए देखें **न्यायसूत्र** (4/1/48-50) की वैदिक परिप्रसाद स्वामी की टीका।

मीमांसा दर्शन में अनेकान्तवाद :

जिस प्रकार अनेकान्तवाद के सम्पोषक जैनधर्म में वस्तु को उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक माना है, उसी प्रकार मीमांसा दर्शन में सत्ता को त्रयात्मक माना है। उसके अनुसार उत्पत्ति और विनाश तो धर्मों के हैं, धर्मी तो नित्य है, वह उन धर्मों की उत्पत्ति और विनाश के भी पूर्व है अर्थात् नित्य है। वस्तुतः जो बात जैन दर्शन में द्रव्य की नित्यता और पर्याय की अनित्यता की अपेक्षा से कही गई है, वही बात धर्मी और धर्म की अपेक्षा से मीमांसा दर्शन में कही गई है, वही बात धर्मी और धर्म की अपेक्षा से मीमांसा दर्शन में कही गई है यहां पर्याय के स्थान पर धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। स्वयं कुमारिल भट्ट **मीमांसाश्लोकवार्तिक** (21-23) में लिखते हैं-

वर्द्धमानकभंगे च रुचकः क्रियते यदा।
तदा पूर्वार्थिनः शोकः प्रीतिश्चाभ्युत्तरार्थिनः।।
हेमार्थिनस्तु माध्यस्थं तस्माद् वस्तु त्रयात्मकम्।
नोत्पादस्थितिभंगानामभावे स्यान्मतित्रयम्।।
न नाशेन बिना शोको नोत्पादेन विना सुखम्।
स्थित्या विना न माध्यथ्यम् तेन सामान्यनित्यता।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप त्रिपदी की जो स्थापना जैन दर्शन में है वही बात शब्दान्तर से उत्पत्ति, विनाश और स्थिति के रूप में मीमांसा दर्शन में कही गई है। कुमारिल भट्ट के द्वारा

पदार्थ को उत्पत्ति, विनाश और स्थिति युक्त मानना, अवयवी और अवयव में भेदाभेद मानना, सामान्य और विशेष को सापेक्ष मानना आदि तथ्य इसी बात को पुष्ट करते हैं कि उनके दार्शनिक चिंतन की पृष्ठभूमि में कहीं न कहीं अनेकान्त के तत्त्व उपस्थित रहे हैं।

श्लोकवार्तिक श्लोक 75-80 में तो वे स्वयं अनेकान्त की प्रमाणता सिद्ध करते हैं-

वस्त्वनेकत्ववादाच्च न सन्दिग्धा प्रमाणता।
ज्ञानं संहिह्यते यत्र तत्र न स्यात् प्रमाणता॥
इहानैकान्तिकं वस्त्वित्येवं ज्ञानं सुनिश्चितम्।

इसी अंश की टीका में पार्थसारथी मिश्र ने भी स्पष्टतः अनेकान्तवाद शब्द का प्रयोग किया है यथा- **ये चैकान्तिकं भेदमभेदं वावयविनः समाश्रयन्ते तैरेवायमनेकांतवाद।**

मात्र इतना ही नहीं, उसमें वस्तु को स्व-स्वरूप की अपेक्षा सत् पर स्वरूप की अपेक्षा असत् और उभयरूप से सदसत् रूप माना गया है यथा- **सर्वं हि वस्तु स्वरूपतः सद्रूपं पररूपतश्चासद्रूपं यथा घटो घटरूपेण सत् पटरूपेणासत्।** - अभावप्रकरण टीका

यहाँ तो हमने कुछ ही संदर्भ प्रस्तुत किए हैं यदि भारतीय दर्शनों के मूलग्रंथों और उनकी टीकाओं का सम्यक् परिशीलन किया जाए तो ऐसे अनेक तथ्य परिलक्षित होंगे जो उन दर्शनों की पृष्ठभूमि में रही हुई अनेकान्त दृष्टि को स्पष्ट करते हैं। अनेकान्त एक अनुभूत्यात्मक सत्य है उसे नकारा नहीं जा सकता है। अन्तर मात्र उसके प्रस्तुतिकरण की शैली का होता है।

वेदान्तदर्शन में अनेकान्तवाद :

भारतीय दर्शनों में वेदान्त दर्शन वस्तुतः एक दर्शन का नहीं, अपितु दर्शन समूह का वाचक है। ब्रह्मसूत्र को केन्द्र में रखकर जिन दर्शनों का विकास हुआ वे सभी इस वर्ग में समाहित किए जाते हैं। इसके अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत आदि अनेक सम्प्रदाय हैं। **नैकस्मिन्न संभवात् (ब्रह्मसूत्र २/२/३३)** की व्याख्या करते हुए इन सभी दार्शनिकों ने जैनदर्शन के अनेकान्तवाद की समीक्षा की है। मैं यहाँ उनकी समीक्षा

कितनी उचित है या अनुचित है इस चर्चा में नहीं जाना चाहता हूँ, क्योंकि उनमें से प्रत्येक ने कमोवेश रूप में शंकर का ही अनुसरण किया है। यहाँ मेरा प्रयोजन मात्र यह दिखाना है कि वे अपने मन्तव्यों की पुष्टि में किस प्रकार अनेकान्तवाद का सहारा लेते हैं।

आचार्य शंकर सृष्टिकर्ता ईश्वर के प्रसंग में स्वयं ही प्रवृत्ति-अप्रवृत्ति रूप दो परस्पर विरोधी गुण स्वीकार रहे हैं। **(ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य २/२/४)** में वे स्वयं ही लिखते हैं-

ईश्वरस्य तु सर्वज्ञत्वात्, सर्वशक्तिमत्वात् महामायत्वाच्च प्रवृत्यप्रवृत्ती न विरुध्यते।

पुनः माया को न ब्रह्म से पृथक् कहा जा सकता है और न अपृथक्, क्योंकि पृथक् मानने पर अद्वैत खण्डित होता है और अपृथक् मानने पर ब्रह्म माया के कारण विकारी सिद्ध होता है। पुनः माया को न सत् कह सकते हैं और न असत्। यदि माया असत् है तो सृष्टि कैसे होगी और यदि माया सत् है तो मुक्ति कैसे होगी? वस्तुतः माया न सत् है और न असत्, वह न ब्रह्म से भिन्न है और न अभिन्न। यहाँ अनेकान्तवाद जिस बात को विधि मुख से कह रहा है, शंकर उसे ही निषेधमुख से कह रहे हैं। अद्वैतवाद की कठिनाई यही है वह माया की स्वीकृति के बिना जगत् की व्याख्या नहीं कर सकता है और माया को सर्वथा असत् या सर्वथा सत् अथवा ब्रह्म से सर्वथा अभिन्न या सर्वथा भिन्न ऐसा कुछ भी नहीं कहा जा सकता है। वह परमार्थ के स्तर पर असत् और व्यवहार के स्तर पर सत् है। यही तो उनके दर्शन की पृष्ठभूमि में अनेकान्त का दर्शन होता है। शंकर इन्हीं कठिनाईयों से बचने हेतु माया को जब अनिर्वचनीय कहते हैं, तो वे किसी न किसी रूप में अनेकान्तवाद को ही स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।

आचार्य शंकर के अतिरिक्त भी **ब्रह्मसूत्र** पर टीका लिखने वाले अनेक आचार्यों ने अपनी व्याख्याओं में अनेकान्त दृष्टि को स्वीकार किया है। महामति भास्कराचार्य ब्रह्मसूत्र के 'तत्तु समन्वयात्((1/1/5) सूत्र की टीका में लिखते हैं-

यदप्युक्तं भेदाभेदयोर्विरोध इति, तदभिधीयते अनिरूति

प्रमाणप्रमेयतत्त्वस्येदं चोद्यम्। अतो भिन्नाभिन्नरूपं ब्रह्मेतिस्थितम्।

संग्रह श्लोक -

कार्यरूपेण नानात्वमभेदः कारणात्मना।
हेमात्मना यथाभेद कुण्डलाद्यात्मनाभिदा।। (पृ. १६-१७)

यद्यपि यह कहा जाता है कि भेद-अभेद में विरोध नहीं, किन्तु यह बात वही व्यक्ति कह सकता है जो प्रमाण तत्त्व से सर्वथा अनभिज्ञ है।

इस कथन के पश्चात् अनेक तर्कों से भेदाभेद का समर्थन करते हुए अन्त में कह देते हैं कि अतः ब्रह्म भिन्नाभिन्न रूप से स्थित है यह सिद्ध हो गया। कारण रूप में वह अभेद रूप है और कार्य रूप में वह नाना रूप है, जैसे स्वर्ण कारण रूप में ही एक है, किन्तु कुण्डल आदि कार्यरूप में अनेक।

यह कथन भास्कराचार्य को प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद का सम्पोषक ही सिद्ध करता है। अन्यत्र भी भेदाभेद रूपं ब्रह्मेति समधिगतं (2/1/22 टीका पृ. 164) कहकर उन्होंने अनेकान्तदृष्टि का ही पोषण किया है।

भास्कराचार्य के समान यतिप्रवर विज्ञानभिक्षु ने ब्रह्मसूत्र पर विज्ञानामृत भाष्य लिखा है। उसमें वे अपने भेदाभेदवाद का न केवल पोषण करते हैं, अपितु अपने मत की पुष्टि में कर्मपुराण, नारदपुराण, स्कन्दपुराण आदि से संदर्भ भी प्रस्तुत करते हैं यथा-

त एते भवद्रूपं विश्वं सदसदात्कम्। पृ. १११
चैतन्यापेक्षया प्रोक्तं व्योमादि सकलं जगत्।
असत्यं सत्यरूपं तु कुम्भकुण्डाद्यपेक्षया।। पृ.६३

ये सभी सन्दर्भ अनेकान्त के सम्पोषक हैं यह तो स्वतःसिद्ध है।

इसी प्रकार निम्बार्काचार्य ने भी अपनी **ब्रह्मसूत्र** की **वेदान्त पारिजात सौरभ** नामक टीका में तत्तु समन्वयात् (1/1/4) की टीका करते हुए प. 2 पर लिखा है-

सर्वभिन्नाभिन्नो भगवान् वासुदेवो विश्वात्मैव जिज्ञासा विषय इति।

शुद्धाद्वैत मत के संस्थापक आचार्य वल्लभ भी ब्रह्मसूत्र के श्रीभाष्य (पृ.115) में लिखते हैं -

सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि च।
अनिन्तमूर्ति तद् ब्रह्म कूटस्थ चलमेव च।
विरुद्धं सर्वधर्माणां आश्रयं युक्त्यगोचरम्।

अर्थात् वह अनन्तमूर्ति ब्रह्म कूटस्थ भी है और चल (परिवर्तनशील) भी है, उसमें सभी वादों के लिए अवसर (स्थान) है, वह अनेक वादों का अनुरोधी है, सभी विरोधी धर्मों का आश्रय है और युक्ति से अगोचर है।

यहाँ राजानुजाचार्य तो बाज ब्रह्म के सम्बन्ध में कह रहे हैं, प्रकारान्तर से अनेकान्तवादी जैनदर्शन तत्त्व के स्वरूप के सम्बन्ध में कहता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि न केवल वेदान्त में भी अपितु ब्राह्मण परम्परा में मान्य छहों दर्शनों के दार्शनिक चिन्तन में जो कालक्रम में विकसित हैं अनेकान्तवादी दृष्टि अनुस्यूत है।

श्रमण परम्परा का दार्शनिक चिंतन और अनेकान्त :

भारतीय दार्शनिक चिन्तन में श्रमण परम्परा के दर्शन न केवल प्राचीन हैं, अपितु वैचारिक उदारता अर्थात् अनेकान्त के सम्पोषक भी रहे हैं। वस्तुतः भारतीय श्रमण परम्परा का अस्तित्त्व औपनिषदिक काल से भी प्राचीन है, उपनिषदों में श्रमणधारा और वैदिकधारा का समन्वय देखा जा सकता है। उपनिषदों के काल में दार्शनिक चिन्तन की विविध धाराएं बीज रूप में अस्तित्व में आ गई थीं, अतः उस युग के चिन्तकों के सामने मुख्य प्रश्न यह था कि इनके एकांगी दृष्टिकोणों का निराकरण कर इनमें समन्वय किस प्रकार स्थापित किया जाए। इस सम्बन्ध में हमारे समक्ष तीन विचारक आते हैं- संजय वेलट्ठीपुत्त, गौतमबुद्ध और वर्द्धमान महावीर।

संजय वेलट्ठीपुत्त और अनेकान्त :

संजय वेलट्ठीपुत्त बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों में एक थे। उन्हें अनेकान्तवाद का सम्पोषक इस अर्थ में माना जा सकता है कि वे एकान्तवादों का निरसन करते थे। उनके मन्तव्य का निर्देश बौद्धग्रंथों में इस रूप में पाया जाता है-

(1) है? नहीं कहा जा सकता।

(2) नहीं है? नहीं कहा जा सकता।
(3) है भी और नहीं भी? नहीं कहा जा सकता।
(4) न है और न नहीं है? नहीं कहा जा सकता।

इस सन्दर्भ से यह फलित है कि वे किसी भी एकान्तवादी दृष्टि के समर्थक नहीं थे। एकान्त का निरसन अनेकान्तवाद का प्रथम आधार बिन्दु है और इस अर्थ में उन्हें अनेकान्तवाद के प्रथम चरण का सम्पोषक माना जा सकता है। यही कारण रहा होगा कि राहुल सांकृत्यायन जैसे विचारकों ने यह अनुमान किया कि संजय वेलट्ठीपुत्त के दर्शन के आधार पर जैनों ने स्याद्वाद (अनेकान्तवाद) का विकास किया। किन्तु मेरी दृष्टि में उनका यह प्रस्तुतीकरण वस्तुतः उपनिषदों के सत्, असत्, उभय (सत्-असत्) और अनुभय का ही निषेध रूप से प्रस्तुतीकरण है इसमें एकान्त का निरसन तो है, किन्तु अनेकान्त स्थापना नहीं है संजय वेलट्ठीपुत्त की यह चतुभंगी किसी रूप में बुद्ध के एकान्तवाद के निरसन की पूर्वपीठिका है।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में अनेकान्तवाद का आधार विभज्यवाद :

भगवान् बुद्ध का मुख्य लक्ष्य अपने युग के ऐकान्तिक दृष्टिकोणों का निरसन करना था, अतः उन्होंने विभज्यवाद को अपनाया। विभज्यवाद प्रकारान्तर से अनेकान्तवाद का ही पूर्व रूप है। बुद्ध और महावीर दोनों ही विभज्यवादी थे। **सूत्रकृतांग** (1/1/4/22) में भगवान् महावीर ने अपने भिक्षुओं को स्पष्ट निर्देश दिया था कि वे विभज्यवाद की भाषा का प्रयोग करें। **(विभज्जवायं वागरेज्जा)** अर्थात् किसी भी प्रश्न का निरपेक्ष उत्तर नहीं दे। बुद्ध स्वयं अपने को विभज्यवादी कहते थे। विभज्यवाद का तात्पर्य है प्रश्न का विश्लेषणपूर्वक सापेक्ष उत्तर देना। **अंगुत्तरनिकाय** में किसी प्रश्न का उत्तर देने की चार शैलियाँ वर्णित हैं- (1) एकांशवाद अर्थात् सापेक्षिक उत्तर देना, (2) विभज्यवाद अर्थात् प्रश्न का विश्लेषण करके सापेक्षिक उत्तर देना, (3) प्रतिप्रश्न पूर्वक उत्तर देना और (4) मौन रह जाना (स्थापनीय) अर्थात् जब उत्तर देने में एकान्त का आश्रय लेना पड़े वहां मौन रह जाना। हम देखते हैं कि एकान्त से बचने के लिए बुद्ध ने या तो मौन का सहारा लिया या फिर विभज्यवाद को अपनाया। उनका

मुख्य लक्ष्य यही रहा कि परम तत्व का सत्ता के संबन्ध में शाश्वतवाद, उच्छेदवाद जैसी परस्पर विरोधी विचारधाराओं में से किसी को स्वीकार नहीं करना। त्रिपिटक में ऐसे अनेक संदर्भ हैं, जहां भगवान बुद्ध ने एकान्तवाद का निरसन किया है। जब उनसे पूछा गया क्या आत्मा और शरीर अभिन्न है? वे कहते हैं कि मैं ऐसा कहता, फिर जब यह पूछा गया क्या आत्मा और शरीर भिन्नाभिन्न है, उन्होंने कहा मैं ऐसा भी नही ंकहता हूँ। पुनः जब यह पूछा गया कि आत्मा और शरीर अभिन्न है तो उन्होंने कहा कि मैं ऐसा भी नहीं कहता हूँ। जब उनसे यह पूछा गया कि गृहस्थ आराधक होता है या प्रव्रजित? तो उन्होंने अनेकान्त शैली में कहा कि यदि गृहस्थ और अत्यागी मिथ्यावादी हैं तो वे आराधक नहीं हो सकते हैं (**मज्झिमनिकाय** 19) इसी प्रकार जब महावीर से जयंती ने पूछा, भगवान् सोना अच्छा है या जागना? तो उन्होंने कहा कुछ का सोना अच्छा है और कुछ का जागना। पापी का सोना अच्छा है और धर्मात्मा का जागना। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रारंभिक बौद्धधर्म एवं जैनधर्म में एकान्तवाद का निरसन और विभज्यवाद के रूप में अनेकान्तदृष्टि का समर्थन देखा जाता है।

स्याद्वाद और शून्यवाद :

यदि बुद्ध और महावीर के दृष्टिकोण में कोई अंतर देखा जाता है तो वह यही कि बुद्ध ने एकान्तवाद के निरसन पर अधिक बल दिया। उन्होंने या तो मौन रहकर या फिर विभज्यवाद की शैली को अपनाकर एकान्तवाद से बचने का प्रयास किया। बुद्ध की शैली प्रायः एकान्तवाद के निरसन या निषेधपरक रही, परिणामतः उनके दर्शन का विकास शून्यवाद में हुआ, जबकि महावीर की शैली विधानपरक रही। अतः उनके दर्शन का विकास अनेकान्त या स्याद्वाद में हुआ।

इसी बात को प्रकारान्तर से माध्यमिक कारिका (2/3) में इस प्रकार भी कहा गया है -

न सद् नासद् न सदासत् न चानुभयात्मकम्।
चतुष्कोटिविनिर्मुक्तं तत्त्वं माध्यमिकाः विदु।

अर्थात् परमतत्त्व न सत् है, न असत् है, न सत्-असत् है और न

सत्-असत् दोनों नहीं है।

यही बात प्रकारान्तर से विधिमुख शैली में जैनाचार्यों ने भी कही है-**यदेवतत्तदेवातत् यदेवैकं तदेवानेकं सदेवसत् तदेवासत्, यदेवनित्यं तदेवानित्यम्।** अर्थात् जो तत् रूप है, वही अतत् रूप भी है, जो एक है, वही अनेक भी है, जो सत् है वही असत् भी है, जो नित्य है, वही अनित्य भी है। उपरोक्त प्रतिपादनों में निषेधमुख शैली और विधिमुख शैली का अंतर अवश्य है, किन्तु तात्पर्य में इतना अंतर नहीं है जितना समझा जाता है। एकान्तवाद का निरसन दोनों का उद्देश्य है।

शून्यवाद और स्याद्वाद में मौलिक भेद निषेधात्मक और विधानात्मक शैली का है। एकान्त में रहा हुआ दोष शून्यवादी और स्याद्वादी दोनों ही दिखते हैं। किन्तु जहाँ शून्यवादी उस एकान्त के दोष के भय से उसे अस्वीकार कर देता है,वहां अनेकान्तवादी उसके आगे स्यात् शब्द रखकर उस दूषित एकान्त को निर्दोष बनाने का प्रयत्न करता है।

शून्यवाद तत्त्व को चतुष्कोटिविनिर्मुक्त शून्य कहता है तो स्याद्वाद उसे अनन्तधर्मात्मक कहता है, किन्तु स्मरण रखना होगा कि शून्य और अनन्त का गणित एक ही जैसा है। शून्यवाद जिन्हें परमार्थसत्य और लोकसंवृतिसत्य कहता है उसे जैनदर्शन निश्चय और व्यवहार कहता है तात्पर्य यह है कि अनेकान्तवाद और शून्यवाद की पृष्ठभूमि में बहुत कुछ समरूपता है।

उपसंहार :

प्रस्तुत विवेचन से यह स्पष्ट है कि समग्र भारतीय दार्शनिक चिंतन की पृष्ठभूमि में अनैकान्तिक दृष्टि रही हुई है चाहे उन्होंने अनेकान्त के सिद्धान्त को उसके सम्यक् परिप्रेक्ष्य में ग्रहण न कर उसकी खुलकर समालोचना की हो। वस्तुतः अनेकान्त एक सिद्धान्त नहीं, एक पद्धति (Methodology) है और फिर चाहे कोई भी दर्शन हो 'बहुआयामी परमतत्त्व' की अभिव्यक्ति के लिए उसे इस पद्धति को स्वीकार करना ही होता है। चाहे हम सत्ता को निरपेक्ष मानें या यह भी मान लें कि उस निरपेक्ष तत्त्व की अनुभूमि तो सम्भव है, किन्तु निरपेक्ष अभिव्यक्ति तो सम्भव नहीं है। निरपेक्ष अनुभूति की अभिव्यक्ति का जब भी भाषा के

माध्यम से कोई प्रयत्न किया जाता है, वह सीमित और सापेक्ष बनकर रह जाती है। अनन्तधर्मात्मक परमतत्त्व की अभिव्यक्ति का जो भी प्रयत्न होगा, वह तो सीमित और सापेक्ष ही होगा। एक सामान्य वस्तु का चित्र भी जब बिना किसी कोण के लेना संभव नहीं है तो फिर उस अनन्त और अनिर्वचनीय के निर्वचन का या दार्शनिक अभिव्यक्ति का प्रयत्न अनेकान्त की पद्धति को अपनाए बिना कैसे संभव होगा? यही कारण है कि चाहे कोई दर्शन हो, उसकी प्रस्थापना के प्रयत्न में अनेकान्त की भूमिका अवश्य निहित है और यही कारण है कि संपूर्ण भारतीय दार्शनिक चिंतन की पृष्ठभूमि में अनेकान्त का दर्शन छिपा हुआ है।

सभी भारतीय दर्शन किसी न किसी रूप में अनेकान्त को स्वीकृति देते हैं इस तथ्य का निर्देश उपाध्याय यशोविजय जी ने अध्यात्मोपनिषद् (1/45-49) में किया है, हम प्रस्तुत आलेख का उपसंहार उन्हीं के शब्दों में करेंगे -

चित्रमेकमनेकं च रूपं प्रामाणिकं वदन्।
योगो वैशेषिको वापि नानेकातं प्रतिक्षिपेत्।।
विज्ञानस्य मैकाकारं नानाकारं करंबितम्।
इच्छस्तथागतः प्राज्ञो नानेकातं प्रतिक्षिपेत्।।
जातिव्यक्त्यात्मकं वस्तु वदन्ननुभवोचितम्।
भाट्टो वा पुरारिर्वा नानेकातं प्रतिक्षिपेत्।
अबद्धं परमार्थेन बद्धं च व्यवहारतः।
ब्रुवाणो भिन्ना-भिन्नार्थान् नवभेदव्यपेक्षया।
प्रतिक्षिपेयुर्नो वेदाः स्याद्वादं सार्वतान्त्रिकम्।।

- प्राच्य विद्यापीठ, शाजापुर (म.प्र.)

सराग एवं वीतराग सम्यग्दर्शन : एक चिन्तन

-डॉ. आलोक कुमार जैन

भारत देश सदैव ही विश्वगुरु के रूप में सर्वमान्य है। इसमें अनेकों धर्म एवं सम्प्रदाय विद्यमान हैं। उन सबके सिद्धान्त, आचार-विचार एवं व्यवहार स्वतन्त्र रूप से भिन्न प्रतीत होते हुए भी देश में एकता अनेकों शताब्दियों से विद्यमान है। उनमें जैनदर्शन के अलावा सभी दर्शन आत्मा की स्वतन्त्र सत्ता को स्वीकार नहीं करते हैं। जैनदर्शनानुसार सभी भव्य जीव रत्नत्रय को आधार बनाकर सिद्धत्व की प्राप्ति कर सकते हैं। उसकी प्राप्ति में रत्नत्रय की प्रमुखता है। उसमें भी सम्यग्दर्शन को आचार्यों ने आधार स्वरूप प्रथम सीढी स्वीकार किया है। इसको वृक्ष के बीज स्वरूप भी स्वीकार किया है। वह सम्यग्दर्शन देव-शास्त्र-गुरु पर सच्ची श्रद्धा अथवा तीर्थङ्करों एवं आचार्यों ने जिन तत्त्वों का स्वरूप प्ररूपित किया है उन तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। शरीर और आत्मा के भेदविज्ञान को समझने वाले सम्यग्दृष्टि जीव इस लोक में विरले ही होते हैं।

वह सम्यग्दर्शन दो शब्दों के मेल से बना है सम्यक् और दर्शन। सम्यक् शब्द का अर्थ समीचीन, सच्चा, वास्तविक है। दर्शन, रुचि, प्रत्यय, श्रद्धा, स्पर्शन ये सब एकार्थवाचक नाम हैं। आप्त या आत्मा में आगम और पदार्थों में रुचि या श्रद्धा को दर्शन कहते हैं।[1] श्रद्धा को ही विषय करके दर्शन का अर्थ बताते हुए प्रवचनसार के टीकाकार आचार्य लिखते हैं कि तत्त्वार्थश्रद्धान लक्षणरूप दर्शन से शुद्ध हुआ दर्शनशुद्ध कहलाता है। दर्शन शब्द से निजशुद्धात्म श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन ग्रहण करना चाहिये।[2] सम्यग्दर्शन के स्वरूप को व्यक्त करते हुए आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने जीवादि नव पदार्थों को ही सम्यक्त्व कहा है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी इसके स्वरूप को अन्य प्रकार से परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि-

हिंसा रहिए धम्मे, अट्ठारहदोसवज्जिए देवे।
णिग्गंथे पव्वयणे सद्दहणं होइ सम्मत्तं।।[3]

इसमें आचार्य का आशय है कि हिंसा से रहित धर्म में, अट्ठारह दोषों से रहित देव अर्थात् आप्त में, निर्ग्रन्थ श्रमण के प्रवचन (समीचीन शास्त्र) में श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इसी गाथा को आचार्य देवसेन स्वामी ने भी भावसंग्रह में ग्रहण किया है। इससे प्रतीत होता है कि आचार्य देवसेन स्वामी पर आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी का गहरा प्रभाव था। इस गाथा का एक-एक शब्द पूर्णरूप से मोक्षपाहुड की गाथा से मेल करता है। सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए आचार्य वट्टकेर स्वामी लिखते हैं कि जो जिनेन्द्र देव ने कहा है वही वास्तविक है, इस प्रकार से जो भाव से ग्रहण करना है वह सम्यग्दर्शन है।[4] सबसे प्रचलित परिभाषा को व्यक्त करते हुए आचार्य उमास्वामी लिखते हैं कि सात तत्त्वों के अर्थ का सम्यक् प्रकार से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।[5]

आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी की ही परिभाषा का आधार लेते हुए आचार्य समन्तभद्र स्वामी लिखते हैं कि परमार्थभूत देव, शास्त्र और गुरु का तीन मूढताओं से रहित, आठ अंगों से सहित और आठ प्रकार के मदों से रहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है।[6] इसी प्रसंग में आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि छह द्रव्य, पाँच अस्तिकाय, नव पदार्थ इनका जिनेन्द्रदेव ने जिस प्रकार से वर्णन किया है उसी प्रकार से उनका श्रद्धान करना सम्यक्त्व है।[7] इन सब परिभाषाओं को और भी अधिक परिष्कृत करके आचार्य वसुनन्दि कहते हैं कि सच्चे देव, सच्चे शास्त्र और सात तत्त्वों का शंकादि पच्चीस दोषों से रहित जो अति निर्मल श्रद्धान है, वह सम्यग्दर्शन कहलाता है।[8]

सम्यग्दर्शन का स्वरूप प्रकट करते हुए आचार्य नेमिचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि जीवादि पदार्थों का जो श्रद्धान करना है वह सम्यग्दर्शन है और वह सम्यक्त्व आत्मा का स्वरूप है।[9] इसी प्रकार से सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताते हुए आचार्य देवसेन स्वामी कहते हैं कि सूत्र (जिनेन्द्र देव के वचन) में कही गई युक्ति के द्वारा जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान करना जिनेन्द्र भगवान् ने सम्यग्दर्शन कहा है।[10] भव्य जीव जिनेन्द्र भगवान् के द्वारा कहे गये प्रवचन का नियम से श्रद्धान करता है तथा स्वयं जो विषय नहीं जानता है वह विषय गुरु की सहायता से जानकर उस पर श्रद्धान करता है वही सम्यग्दर्शन है।[11] ये सभी परिभाषायें भिन्न-भिन्न आचार्यों के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रसंगों को दृष्टि में रखकर रची गई हैं। यही कारण है कि इनमें शाब्दिक

असमानता प्रायः झलकती है, परन्तु अभिप्राय की अपेक्षा समानता होने से इसमें मतभेद का अभाव ही परिलक्षित होता है। सभी आचार्यों का अभिप्राय जीव को जिनशासन का श्रद्धानी बनाकर मोक्ष की दिशा में प्रेरित करने का ही है। जो विषय वह सही प्रकार से नहीं जानता है तो भी उसको वह आचार्य या अरिहन्त देव द्वारा कहा गया मानकर उस पर सच्ची श्रद्धा रखता है तो भी वह सम्यग्दृष्टि रहता है, परन्तु यदि कोई उसको समीचीन सूत्र आदि के द्वारा समझाता है और नहीं स्वीकार करता है तो वह उसी समय से मिथ्यादृष्टि हो जाता है।[12] आचार्य शुभचन्द्र स्वामी लिखते हैं कि जो सराग सम्यग्दृष्टि है उसके तो प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य होते हैं और वीतराग सम्यग्दृष्टि की समस्त प्रकार से आत्मा की शुद्धिमात्र है।[13]

सराग सम्यक्त्व एवं वीतराग सम्यक्त्व :

सभी आचार्यों ने अलग-अलग अपेक्षा से सम्यग्दर्शन के अलग-अलग भेद किए हैं जिनमें दो भेद रूप में सराग सम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व को भी स्वीकार किया है। सर्वप्रथम आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि **तद्द्विविधं सरागवीतरागविषयभेदात्। प्रशमसंवेगानुकम्पास्तिक्याद्यभिव्यक्तिलक्षणं प्रथमम्। आत्मविशुद्धिमात्रमितरत्।** अर्थात् वह सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति लक्षण वाला सराग सम्यग्दर्शन है और आत्मा की विशुद्धि मात्र वीतराग सम्यग्दर्शन कहलाता है।[14] भगवती आराधनाकार आचार्य शिवार्य दोनों का स्वरूप व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि- प्रशस्तराग सहित जीवों का सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व है और प्रशस्त एवं अप्रशस्त दोनों प्रकार के राग से रहित क्षीणमोह वीतरागियों का सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व कहा गया है।[15] आचार्य अमितगति अन्य आचार्यों से भिन्नता प्रदर्शित करते हुए कहते हैं-

वीतरागं सरागं च सम्यक्त्वं कथितं द्विधा।
विरागं क्षायिकं तत्र सरागमपरद्वयम्।।65।।
संवेगप्रशमास्तिक्यकारुण्यव्यक्तलक्षणं।
सरागं पटुभिर्ज्ञेयमुपेक्षालक्षणं परम्।।66।।

अर्थात् सम्यक्त्व दो प्रकार का है जो वीतराग और सराग भेद वाला कहा गया है। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व सराग सम्यक्त्व

हैं और क्षायिक सम्यक्त्व वीतराग सम्यक्त्व है।[16] आचार्य ब्रह्मदेव सूरि सराग सम्यक्त्व और व्यवहार सम्यक्त्व एवं वीतराग सम्यक्त्व और निश्चय सम्यक्त्व में समानता स्वीकारते हुए कहते हैं कि- **शुद्धजीवादितत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सरागसम्यक्त्वाभिधानं व्यवहारसम्यक्त्वं विज्ञेयम्। वीतरागचारित्राविनाभूतं वीतरागसम्यक्त्वाभिधानं निश्चयसम्यक्त्वं च ज्ञातव्यमिति**।[17] अर्थात् शुद्ध जीवादि तत्त्वार्थों का श्रद्धान रूप लक्षण है जिसका उसे सराग सम्यक्त्व अथवा व्यवहार सम्यक्त्व जानना चाहिये और वीतराग चारित्र के बिना नहीं होने वाला वीतराग सम्यक्त्व अथवा निश्चय सम्यक्त्व जानना चाहिए। इसी प्रसंग को परमात्म प्रकाश ग्रन्थ के टीकाकार निरूपित करते हुए कहते हैं कि प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति सराग सम्यक्त्व का लक्षण है, वह ही व्यवहार सम्यक्त्व है और निज शुद्धात्मानुभूति लक्षणवाला और वीतराग चारित्र का अविनाभावी है वही वीतराग सम्यक्त्व निश्चय सम्यक्त्व कहलाता है।[18]

सम्यग्दृष्टि जीव अन्य मनुष्यों से कुछ विशेषताओं को धारण किये हुए होते हैं जिनको ज्ञानीजन गुण की उपमा देते हैं। सराग सम्यक्त्व के स्वरूप को बताते हुए प्रशम, संवेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणों को प्रत्येक आचार्य ने अवश्य ही स्वीकार किया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जहाँ ये चारों गुण विद्यमान होंगे वहाँ उस जीव में सम्यग्दर्शन तो पाया ही जायेगा। इन चारों गुणों के मानने में किसी भी आचार्य में कोई भी मतभेद नहीं है। इन्हीं चारों का स्वरूप संक्षेप से आचार्य लिखते हैं-

प्रशम- पञ्चेन्द्रियों के विषयों में और अत्यधिक तीव्रभाव रूप क्रोधादिक कषायों में स्वरूप से शिथिल मन का होना ही प्रशम भाव कहलाता है। अथवा उसी समय अपराध करने वाले जीवों पर कभी भी उनके वधादि रूप विकार के लिये बुद्धि का नहीं होना प्रशम भाव कहलाता है। प्रशम भाव की उत्पत्ति में निश्चय से अनन्तानुबन्धी कषायों का उदयाभाव और अप्रत्याख्यानादि कषायों का मन्द उदय कारण है।[19] सम्यग्दर्शन का अविनाभावी प्रशम भाव सम्यग्दृष्टि का परम गुण है। जो प्रशम भाव का झूठा अहंकार करते रहते हैं ऐसे मिथ्यादृष्टि जीवों के प्रशमाभास होता है।

संवेग- संसार के दु:खों से भयभीत होना तथा धर्म में अनुराग होना संवेग कहलाता है।[20] इसी परिभाषा का और परिष्कार करके आचार्य ब्रह्मदेवसूरि लिखते हैं कि धर्म में, धर्म के फल में और दर्शन में जो हर्ष होता है, वह संवेग कहलाता है।[21] धवलाकार कहते हैं कि हर्ष और सात्त्विक भाव का नाम संवेग है। लब्धि में संवेग की सम्पन्नता का अर्थ सम्प्राप्ति है।[22] पं. राजमल जी अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि- धर्म में और धर्म के फल में आत्मा का जो परम उत्साह होता है वह संवेग कहलाता है, अथवा धार्मिक पुरुषों में अनुराग अथवा पञ्चपरमेष्ठी में प्रीति रखने को संवेग कहते हैं।[23]

यह संवेग तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध कराने वाली 16 भावनाओं में से भी एक है। आचार्य कहते हैं कि- दर्शन विशुद्धि के साथ यदि एक संवेग भाव ही रहे तो उससे भी तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो जाता है।

अनुकम्पा- अनुकम्पा दया का ही दूसरा नाम है। कोई भी धर्महीन अथवा दु:खित व्यक्ति की समस्या का उचित तरीके से समाधान अथवा सहायता करना ही अनुकम्पा है। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी अनुकम्पा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि- प्यासे को या भूखे को या दु:खित किसी भी प्राणी को देखकर जो स्पष्टत: दु:खित मन होकर दया परिणाम के द्वारा उनकी सेवादि को स्वीकार करता है, उस पुरुष के प्रत्यक्षीभूत शुभोपयोगरूप यह दया अथवा अनुकम्पा कहलाती है।[24] अनुकम्पा के स्वरूप को और अधिक गहराई से व्यक्त करते हुए आचार्य पूज्यपाद स्वामी लिखते हैं कि अनुग्रह से दयार्द्र चित्त वाले के दूसरे की पीड़ा को अपनी ही मानने का जो भाव होता है, उसे अनुकम्पा कहते हैं।[25] पं. राजमल्ल जी ने सभी संसार के प्राणियों पर अनुग्रह, मैत्रीभाव, माध्यस्थ भाव और शल्यरहित वृत्ति को अनुकम्पा माना है।[26]

आचार्यों का अनुकम्पा के अर्थ से तात्पर्य समझ में यह आता है कि किसी भी प्रकार से की गई कृपा अथवा दया अनुकम्पा है जो उस प्रकार के दु:ख से दु:खित है। आचार्यों ने तो माध्यस्थभाव को भी अनुकम्पा में ग्रहण कर लिया है। सभी आचार्य अनुकम्पा को एक अपेक्षा से वात्सल्य का ही एक रूप कहना चाहते हैं। जिस प्रकार वात्सल्य में किसी भी प्रकार की स्वार्थबुद्धि से विलग होकर बस कृपापात्र प्राणी पर दया करता ही है उसी को ही आचार्य अनुकम्पा स्वीकार कर रहे हैं। भगवती आराधना में

आचार्य महाराज ने तो अनुकम्पा के तीन भेद किये हैं जो इस प्रकार हैं- धर्मानुकम्पा, मिश्रानुकम्पा और सर्वानुकम्पा।[27] अब इन तीनों के स्वरूप को संक्षेप से आचार्य व्यक्त करते हैं-

१. **धर्मानुकम्पा**- जिनके असंयम का त्याग है, मान-अपमान आदि अवस्थाओं में समान हैं, जो वैराग्य से युक्त होते हैं, क्षमादि दसों धर्मों में तत्पर रहते हैं, ऐसे निर्ग्रन्थ संयमी मुनियों के ऊपर दया करना धर्मानुकम्पा कहलाती है। यह अन्तःकरण में जब उत्पन्न होती है तब विवेकी गृहस्थजन यति-मुनियों को आहारादि दान देता है, उनके ऊपर आये हुए उपसर्ग, परीषहों को बिना शक्ति छिपाये दूर करता है और उनका संयोग पाकर अपने आप को धन्य मानता है और उनके मार्ग का अनुकरण करने का पूर्ण प्रयास करता है वही धर्मानुकम्पा कहलाती है।

२. **मिश्रानुकम्पा**- जो हिंसादिक पापों से विरत होकर अणुव्रत, गुणव्रत एवं शिक्षाव्रतों का अच्छी प्रकार से पालन करता है, पापों में भीरुता, संतोष और वैराग्य में तत्पर रहकर सामायिक-उपवासादि को करते हुए वैराग्य मार्ग में आगे बढ़ने के प्रयास में सदैव तत्पर रहते हैं ऐसे संयतासंयत अर्थात् श्रावकों पर जो दया की जाती है उसको मिश्रानुकम्पा कहते हैं। जो जीवों पर दया करते हैं परन्तु दया का पूर्ण स्वरूप नहीं जानते हैं, जो जिनसूत्रों को नहीं जानते, अन्य पाखण्डी गुरु की उपासना करते हैं, पञ्चाग्नि आदि तप तपते हैं, ऐसे जीवों के ऊपर कृपा करना भी मिश्रानुकम्पा है। गृहस्थ धर्म और अन्य धर्म, दोनों के ऊपर दया करने को मिश्रानुकम्पा कहते हैं।

३. **सर्वानुकम्पा**- सम्यग्दृष्टिजन और मिथ्यादृष्टिजन दोनों भी स्वभाव से मृदुता को धारण करते हुए जो संसार के समस्त प्राणियों के ऊपर दया करते हैं तो उसको सर्वानुकम्पा कहते हैं। क्षत-विक्षत, जख्मी, अपराधी, निरपराधी और एकेन्द्रिय से पञ्चेन्द्रिय तक के जीवों का परस्पर में घात-विघात करने से जो दृश्य देखकर दया उत्पन्न होती है उसे सर्वानुकम्पा कहते हैं।

आस्तिक्य- सच्चे देव-शास्त्र-गुरु पर समीचीन रूप से श्रद्धा करना ही आस्तित्य है। आचार्य इसका स्वरूप व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि सर्वज्ञ वीतरागी आप्त देव के द्वारा कहे गये जीवादिक तत्त्वों में रुचि होने को आस्तिक्य कहते हैं।[28] पञ्चाध्यायी के प्रणेता पं. जी भी अपना आशय व्यक्त करते हुए लिखते हैं कि- नव पदार्थों के सद्भाव में, धर्म में, धर्म के हेतु में और धर्म के फल में निश्चय रखना ही आस्तिक्य गुण कहलाता

है।[29] पं. टोडरमल जी गोम्मटसार की टीका में अपने विचार व्यक्त करते हुए कहते हैं कि- जो सम्यग्दृष्टि जीव सर्वज्ञदेव में, व्रतों में, शास्त्रों में, तत्त्वों में 'ये ऐसे ही हैं' ऐसे अस्तित्व भाव से युक्त चित्त हो तो उसे आस्तिक्य भाव से युक्त कहा जाता है।[30]

इस प्रकार ये चार गुण सम्यग्दृष्टि जीव में नियम से पाये ही जाते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के अन्तस् में ये गुण स्वयमेव ही उत्पन्न हो जाते हैं।

सराग और वीतराग सम्यग्दृष्टि की विशेषता बताते हुए आचार्य कहते हैं कि- **सरागसम्यग्दृष्टिः सन्नशुभकर्मकर्तृत्वं मुञ्चति। निश्चयचारित्राविनाभावि वीतरागसम्यग्दृष्टिर्भूत्वा शुभाशुभसर्वकर्मकर्तृत्वं च मुञ्चति।**[31] अर्थात् सरागसम्यग्दृष्टि मात्र अशुभ कर्मों के कर्त्तापने को छोड़ता है शुभकर्म के कर्त्तापने को नहीं, जबकि निश्चय चारित्र के अविनाभूत वीतराग सम्यग्दृष्टि होकर वह जीव शुभ और अशुभ सभी प्रकार के कर्मों के कर्त्तापने को छोड़ देता है।

तत्त्वार्थों के श्रद्धान रूप लक्षण दोनों में घटित होने की अपेक्षा से दोनों में एकत्व भी सम्भव है ऐसा आचार्य कहते हैं। इन दोनों को पृथक् मानना भी एक बड़ी भूल ही होगी ऐसा मानते हुए जीव सम्यग्दर्शन से च्युत हो सकता है। दोनों में गुणस्थानों की अपेक्षा विशेषता निरूपित करते हुए सराग सम्यग्दृष्टि को आचार्यों ने दो प्रकार से निरूपित किया है। चौथे गुणस्थान से छठे गुणस्थान तक स्थूल सम्यग्दृष्टि हैं, क्योंकि उनकी पहिचान कायादि के व्यापार से हो जाती है और सातवें से दशवें गुणस्थान तक सूक्ष्म सराग सम्यग्दृष्टि हैं, क्योंकि उनकी पहिचान कायादि के व्यापार अथवा प्रशम आदि गुणों से नहीं होती है। वीतराग सम्यग्दृष्टि ग्यारहवें से चौदहवें गुणस्थान तक होते हैं। सम्पूर्ण मोह का अभाव हो जाने से वे वास्तविक वीतराग सम्यग्दृष्टि अथवा वीतराग चारित्र के धारी कहलाते हैं। जब तक सम्यग्दृष्टि के स्वाध्याय, सामायिकादि की क्रियाओं में राग परिणति रहेगी तब तक उसके प्रशस्त राग होने के कारण सराग सम्यक्त्व की संज्ञा प्रदान की गई है। जहाँ किञ्चित् मात्र भी राग का अंश है वह सराग ही तो कहलायेगा। जहाँ राग के समस्त निमित्तों का त्याग करके मात्र शुद्धात्मतत्त्व के स्वरूप चिन्तन में ही जो रत रहेगा वह वीतराग सम्यक्त्व सहित कहलायेगा, क्योंकि राग प्रशस्त हो या अप्रशस्त, राग तो राग है।

इसीलिए 10वें गुणस्थान तक के जीव को सराग सम्यक्त्वी और उससे ऊपर के गुणस्थानों में वीतराग सम्यक्त्वी कहा गया है।

ऐसी अनेकों विशेषताओं को लिए हुए इन दोनों सम्यग्दर्शनों को प्राप्त करने का प्रयत्न सदैव करते रहना चाहिए। इनमें से प्रथम सराग सम्यक्त्व को प्राप्त करके वीतराग सम्यक्त्व की भावना करते रहना चाहिए। वीतराग सम्यक्त्व कार्य है तो सराग सम्यक्त्व कारण है। निश्चय से सम्यक्त्व की प्राप्ति करने का प्रयत्न निरन्तर करते हुए समाधि पूर्वक मरण करके अपने जीवन को सफल बनाने के मार्ग में लग जाना चाहिए। मोक्षप्राप्ति का प्रथम द्वार सम्यक्त्व ही है। अत: स्वाध्याय करते हुए व्यावहारिक जीवन में आचार्यों के उपदेश लागू करने का प्रयत्न करेंगे तो निश्चय ही हमको सम्यक्त्व की प्राप्ति संभव है।

संदर्भ :

[1] ध. 6/1, 9,1,21/138
[2] प्र. सा. ता. वश. 240/333/15
[3] मोक्षपाहुड गा. 90, भावसंग्रह गा. 262
[4] मूलाचार पंचाचाराधिकार गा. 265
[5] त. सू. 1/2
[6] र. श्रा. श्लोक 4
[7] गो. जी. का. गा. 561
[8] व. श्रा. गा. 6
[9] द्र. सं. गा. 41
[10] आराधनासार गा. 4
[11] गो. जी. का. गा. 27
[12] गो. जी. गा. 28
[13] ज्ञानार्णव 6/7
[14] स. सि. 1/2/10, रा. वा. 1/2/29,
[15] भ. आ. वि. 51/175/18
[16] रा. वा. 1/2/31, अ. ग. श्रा. 2/65-66
[17] द्र. सं. टी. 41
[18] प. प्र. टी. 2/17
[19] पं. ध./उ. 426-428, द. पा. 2
[20] भ.आ. 35/127, स.सि. 6/24, रा.वा. 6/24/5,
[21] द्र. सं. टी. 35
[22] ध. 8/3,41/86/3
[23] पं. ध. उ. 431
[24] पं. का. 137, प्र. सा. ता. वश. 268
[25] स. सि. 6/12
[26] पं. ध. उ. 449
[27] भ. आ. वि. 1834/1643/3
[28] न्यायदीपिका 3/56/9
[29] पं. ध. उ. 452
[30] गो. जी. का/जी. प्र. 561
[31] समयसार तात्पर्य वृत्ति गाथा 97

-उपनिदेशक वीर सेवा मन्दिर (जैनदर्शन शोध संस्थान)
दरियागंज, नई दिल्ली

एक मनीषी पाठक का पत्र

अनेकान्त और वीर सेवा मन्दिर से मेरा पुराना सम्बन्ध है। आपका अनेकान्त मिलता रहा है- यह आपकी कृपा है। यों तो पं. जुगलकिशोर मुख्तार से भी जब वे जीवित थे, मेरा पत्राचार चलता रहता था। अब मेरी आँखें खराब हो गई हैं। बिना देखे गलत-सलत लिख देता हूँ। आप सुधार लें।

'अनेकान्त' में प्रकाशित युगवीर गुणाख्यान में पं. जुगलकिशोर मुख्तार का **'हम दुखी क्यों हैं?'** शीर्षक लेख पढ़ा। जब वे जीवित थे तो उनके मार्गदर्शन पत्रों द्वारा मिलते थे। अब तो अनेकान्त के कर्मठ सम्पादक से ही आशा है। सुख-दु:ख शरीर का धर्म है। अत: आत्मा के स्तर पर उसे ले जाने से प्रश्न का स्तर भंग हो जाता है। लेकिन हम सब जीव जब सुख-दु:ख की बात करते हैं तो उसका सन्दर्भ व्यावहारिक जीवन से रहता है। मुख्तार साहब ने भी इसका विश्लेषण व्यावहारिक स्तर पर ही दिया है। आज अपरिग्रह महावीर के समय से हजारगुना प्रासंगिक है। परिग्रह और मानव सभ्यता साथ-2 नहीं चल सकते हैं। परिग्रह का अध्यात्म से दूर-दूर तक कोई रिश्ता नही है। इसीलिए भगवान् महावीर, बुद्ध, ईसा मसीह सभी ने इस पर ध्यान दिया है। जैन धर्म यदि इसे सामाजिक धर्म बना सके तो विश्व सभ्यता की बागडोर उसके हाथों में होगी। बधाई स्वीकारें।

- प्रो. रामजी सिंह, पूर्व सांसद एवं कुलपति,
104, सान्याल एनक्लेव,
बुद्ध मार्ग, पटना-800001 (बिहार)

समाचार

श्रुतपंचमी महापर्व पर एक अच्छा आयोजन

दिल्ली। ऋषभ विहार दिल्ली के दिगम्बर जैन मन्दिर के विशाल हॉल में जैन संस्कृति के महापर्व श्रुतपंचमी के मंगल अवसर पर उपा. श्री गुप्तिसागर जी महाराज के मंगल आशीर्वाद एवं पावन सान्निध्य में जैन विद्या राष्ट्रीय संगोष्ठी का आयोजन 8-9 जून, 2016 को वास्तुविद् डॉ. मुकेश जैन 'विमल' के कुशल संयोजन में सम्पन्न हुआ। संगोष्ठी में व्याख्यानवाचस्पति डॉ. श्रेयांसकुमार जैन बड़ौत एवं डॉ. जयकुमार जैन मुजफ्फरनगर का सशक्त एवं प्रभावी निर्देशन रहा तथा प्रतिष्ठाचार्य ब्र. जयकुमार जैन 'निशांत' टीकमगढ़, ब्र. जिनेश मलैया इन्दौर, प्रतिष्ठाचार्य पं. हसमुख जी धरियावाद, डॉ. शीतलचन्द जैन जयपुर, प्रो. वृषभ प्रसाद जैन लखनऊ, डॉ. कपूरचन्द जैन खतौली एवं पं. विनोद कुमार जैन रजवांस के मार्गदर्शन ने संगोष्ठी को अभूतपूर्व गरिमा प्रदान की। संगोष्ठी में लगभग 70-75 विद्वानों की उपस्थिति रही, जिनमें 20-25 प्रतिभागियों ने अपने महत्त्वपूर्ण आलेखों का वाचन किया। अध्यक्षता प्रो. वृषभप्रसाद जैन ने की।

उपाध्याय श्री गुप्तिसागर जी महाराज ने संगोष्ठी की उपयोगिता बतलाते हुए कहा कि देव-शास्त्र-गुरु की आराधना करने के लिए विद्वानों एवं प्रतिष्ठाचार्यों की सन्निधि आवश्यक है। श्रावकों की जिज्ञासाओं की सम्पूर्ति विद्वानों से ही संभव है। संगोष्ठी की सफलता में बाल ब्रह्मचारिणी रंजना दीदी का योगदान अनुकरणीय एवं प्रशंसनीय रहा। संगोष्ठी में पधारे विद्वानों ने महाश्रुत पूजा एवं जिनवाणी पालकी चल समारोह में अपनी सहभागिता से उसे सौम्य एवं आदर्श रूप देकर अनुकरणीय बनाया। इस संगोष्ठी की बड़ी विशेषता यह रही कि इसमें सभी आलेख वाचक विद्वान् युवा थे तथा उन्होंने वरिष्ठ विद्वानों के मार्गदर्शन में कार्य सम्पन्न किया। यह संगोष्ठियाँ कतिपय सरकारी संगोष्ठियों की अपेक्षा असरकारी रही। समाज ऐसी संगोष्ठी बुलाकर सामाजिक समस्याओं के समाधान का प्रयास करें तो अनेकविध सामाजिक अभ्युदय हो सकते हैं।

संगोष्ठी की आयोजना में ऋषभ विहार एवं विवेक विहार की दिगम्बर जैन समाज के साथ श्रुतपंचमी महोत्सव समिति के पदाधिकारीगण श्री रवीन्द्र जैन, श्री डी. के. जैन, श्री शरद जैन, श्री नवीन जैन आदि का प्रशस्य अवदान रहा। कार्यक्रम के सहसंयोजन के उत्तरदायित्व का निर्वाह श्री अनुराग जैन ने किया। एक अच्छे आयोजन के लिए हार्दिक बधाई !

– **संपादक**

वीर सेवा मंदिर प्रकाशन के ग्रन्थों पर विशेष छूट

निम्नांकित ग्रन्थों पर **50%** की विशेष छूट दी जा रही है। साथ ही उपहार स्वरूप ग्रन्थ भी प्राप्त कर सकते हैं। धनराशि चैक/ड्राफ्ट या सीधे संस्था के खाता सं. 603210100007664 बैंक ऑफ इण्डिया, अंसारी रोड ब्रांच, नई दिल्ली, IFSC-BKID0006032 के द्वारा जमा कराई जा सकती है।

ग्रन्थों का नाम	लेखक/टीकाकार	मूल्य
1.जैन लक्षणावलि भाग- 1-3	पं. बालचंद सिद्धान्त.	2500रु.
2.युगवीर निबंधावली खण्ड-1	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार	210रु.
3.जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह भा.-2	पं. परमानंद शास्त्री	150रु.
4.ध्यानशतक तथा ध्यान स्तव	पं. बालचंद सिद्धान्त.	100रु.
5.परम दिगम्बर गोम्मटेश्वर	नीरज जैन, सतना	75रु.
6.दिगम्बरत्व की खोज	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	100रु.
7.Jain Bibliography 1-2	Chhotelal Jain	1600रु.
8.निष्कम्प दीपशिखा	पं. पदमचंद शास्त्री	120रु.
9.तत्त्वानुशासन	आचार्य रामसेन	100रु.
10.समीचीन धर्मशास्त्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'	150रु.
11.असहमत संगम	बैरिस्टर चम्पतराय जैन	150रु.
12. Pure Thoughts	Acharya Amitigati	50रु.

<u>उपहार ग्रंथ</u>

1. मेरी भावना अंग्रेजी सहित	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
2. महावीर जिन पूजा	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
3. श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
4. समन्तभद्र विचार दीपिका	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
5. हम दु:खी क्यों हैं ?	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
6. महावीर का सर्वोदय तीर्थ	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
7. उपासना तत्त्व तथा उपासना ढंग	पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार'
8. वारसाणुबेक्खा	आ. कुन्दकुन्द स्वामी
9. समयपाहुड	रूपचंद कटारिया
10. Basic Tenets of Jainism	Dasrath Jain